उच्चतर माध्यमिक पाठ्यक्रम

भारतीय दर्शन-347

पुस्तक-2

विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्

राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

ए-24-25, संस्थागत क्षेत्र, सेक्टर- 62

नोएडा - 201 309 (उत्तर प्रदेश)

वेबसाइट : www.nios.ac.in निर्मूल्य दूरभाष- 18001809393

© राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान National Institute of Open Schooling

प्रथम संस्करण 2021 First Edition 2021 (Copies)

ISBN (Book 1)

ISBN (Book 2)

सचिव, राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान, ए-24-25, संस्थागत क्षेत्र, सेक्टर- 62 नोएडा - 201 309 (उत्तर प्रदेश) द्वारा प्रकाशित। .... द्वारा मुद्रित।

उच्चतर माध्यमिक स्तर
भारतीय दर्शन (347)

सलाहकार समिति

प्रो. सरोज शर्मा
अध्यक्ष
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान
नोएडा, (उत्तर प्रदेश)-201309

डॉ. राजीव कुमार सिंह
निदेशक (शैक्षिक)
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान
नोएडा, (उत्तर प्रदेश)-201309

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

स्वामी आत्मप्रियानन्द
समिति अध्यक्ष
कुलपति, रामकृष्ण मिशन विवेकानंद विश्वविद्यालय
बेलुर मठ, हावड़ा-711202 (प. बंगाल)

डॉ. नागराज भट्ट
समिति उपाध्यक्ष
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत अध्ययन विभाग)
रामकृष्ण मिशन विवेकानंद विश्वविद्यालय
बेलुर मठ, हावड़ा-711202 (प. बंगाल)

डॉ. रामनाथ झा
आचार्य, संस्कृत एवं प्राच्य विद्या केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

डॉ. वेंकटरमण भट्ट
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत अध्ययन विभाग)
रामकृष्ण मिशन विवेकानंद विश्वविद्यालय
बेलुर मठ, हावड़ा-711202 (प. बंगाल)

श्री विवेक कर्मकार
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत अध्ययन विभाग)
स्कॉटिश चर्च महाविद्यालय
कोलकाता-700006 (प. बंगाल)

श्री पलाश घोडई
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत विभाग)
राजा नरेन्द्र लाल खान महिला महाविद्यालय
मण्डल-पश्चिम मेदिनीपुरम-721102 (प. बंगाल)

स्वामी वेदतत्त्वानन्द
प्राचार्य
रामकृष्ण मठ विवेकानंद वेद विद्यालय
बेलुर मठ, मण्डल-हावड़ा-711202 (प. बंगाल)

डॉ. राम नारायण मीणा
सहायक निदेशक (शैक्षिक)
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा-संस्थान
नोएडा, (उत्तर प्रदेश)-201309

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ. राम नारायण मीणा
सहायक निदेशक (शैक्षिक)
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान
नोएडा, (उत्तर प्रदेश)-201309

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

संपादक मण्डल

डॉ. नागराज भट्ट
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत अध्ययन विभाग)
रामकृष्ण मिशन विवेकानंद विश्वविद्यालय
बेलुर मठ, हावड़ा-711202 (प. बंगाल)

स्वामी वेदतत्त्वानन्द
प्राचार्य
रामकृष्ण मठ विवेकानंद वेद विद्यालय
बेलुर मठ, मण्डल-हावड़ा-711202 (प. बंगाल)

पाठ लेखक

(पाठ 14, 15, 16, 27)
श्री पलाश घोडई
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत विभाग)
राजा नरेन्द्र लाल खान महिला महाविद्यालय
मण्डल-पश्चिम मेदिनीपुरम-721102 (प. बंगाल)

(पाठ 5, 8, 21, 23)
स्वामी वेदतत्त्वानन्द
प्राचार्य
रामकृष्ण मठ विवेकानंद वेद विद्यालय
बेलुर मठ, मण्डल-हावड़ा-711202 (प. बंगाल)

(पाठ 9, 10)
डॉ. नीरज कुमार भार्गव
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत अध्ययन विभाग)
रामकृष्ण मिशन विवेकानंद विश्वविद्यालय
बेलुर मठ, हावड़ा-711202 (प. बंगाल)

(पाठ 11, 14, 24, 26)
श्री विवेक कर्मकार
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत अध्ययन विभाग)
स्कॉटिश चर्च महाविद्यालय
कोलकाता-700006 (प. बंगाल)

(पाठ 17, 18)
डॉ. श्रीजित टी.जि
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत विभाग)
के.एस.डी.बी. महाविद्यालय, पत्रालय
शास्तांकोट्टा, मण्डल-कोल्लम्-690520 (केरल)

(पाठ 19, 20)
डॉ. नागराज भट्ट
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत अध्ययन विभाग)
रामकृष्ण मिशन विवेकानंद विश्वविद्यालय
बेलुर मठ, हावड़ा-711202 (प. बंगाल)

अनुवादक मण्डल

डॉ. योगेश शर्मा
सहायक प्रोफेसर (संस्कृत)
संस्कृत, दर्शन और वैदिक अध्ययन विभाग
बनस्थली विद्यापीठ, टोंक-304022 (राजस्थान)

डॉ. राम नारायण मीणा
सहायक निदेशक (शैक्षिक)
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान
नोएडा, (उत्तर प्रदेश)-201309

श्री विशाल गौतम
वरिष्ठ अध्यापक (संस्कृत)
शारदा मंदिर विद्यालय
बनस्थली विद्यापीठ, टोंक-304022 (राजस्थान)

श्री पुनीत त्रिपाठी
वरिष्ठ कार्यकारी अधिकारी (शैक्षिक)
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान
नोएडा, (उत्तर प्रदेश)-201309

रेखाचित्राङ्कन और मुखपृष्ठ चित्रण

स्वामी हररूपानन्द
रामकृष्ण मिशन
बेलुर मठ
मण्डल-हावड़ा- 711202 (प. बंगाल)

श्री राहुल कुलकर्णी
आचार्य
रामकृष्ण मठ विवेकानन्द वेद विद्यालय
बेलुर मठ, हावड़ा- 711202 (प. बंगाल)

आप से दो बातें...

अध्यक्षीय सन्देश

प्रिय शिक्षार्थी,

'भारतीय ज्ञान परम्परा' पाठ्यक्रम के अध्ययन के लिए आपका हार्दिक स्वागत करता हूँ। भारत अति प्राचीन और विशाल देश है। भारत का वैदिक वाङ्मय भी उतना ही प्राचीन, प्रशंसनीय और श्रेष्ठ है। सृष्टिकर्ता भगवान ही भारतीयों के सम्पूर्ण विद्याओं के प्रेरक हैं, ऐसा सिद्धान्त शास्त्रों में प्राप्त होता है। भारत के प्रसिद्ध विद्वान, सामान्य जनमानस तथा अन्य ज्ञानी लोगों के बीच प्राचीन काल में आदान-प्रदान का माध्यम संस्कृत भाषा ही थी ऐसा सभी को ज्ञात है। इतने लम्बे काल में भारत के इतिहास में जो शास्त्र लिखे गए, जो चिन्तन हुए, जो भाव प्रकट हुए वे सभी संस्कृत भाषा के साहित्यरूपी भण्डार में निबद्ध हैं। इस भण्डार का आकार कितना है, भाव कितने गंभीर हैं, मूल्य कितना अधिक है, इसका निर्धारण करने में कोई भी समर्थ नहीं है। प्राचीन काल में भारतीय क्या-क्या पढ़ते थे, वह निम्न श्लोक के माध्यम से प्रकट होता है -

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश।। (वायुपुराणम् 61.78)

इस श्लोक में चौदह प्रकार की विद्याएँ बताई गयी हैं। चार वेद (और चार उपवेद), छः वेदाङ्ग मीमांसा (पूर्वोत्तरमीमांसा), न्याय (आन्वीक्षिकी), पुराण (अठारह मुख्य पुराण और उपपुराण), धर्मशास्त्र (स्मृति) ये चौदह विद्या कहलाते हैं। इनके अलावा अनेक काव्य ग्रंथ और बहुत ही शास्त्र हैं। इन सभी विद्याओं का प्रवाह ज्ञान प्रदान करने वाला, प्रगति करने वाला और वृद्धि करने वाला है जो प्राचीन समय से ही चल रहा है। समाज के कल्याण के लिए भारत में विद्या दान परम्परा के रूप में गुरुकुलों में आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक, आयुर्वेद, राजनीति, दण्डनीति, काव्य, काव्य शास्त्र और अन्य बहुत से शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन होता रहा है।

विद्या के शिक्षण के लिए ब्रह्मचारी परिवार को छोड़कर गुरुकुल में ब्रह्मचर्याश्रम को धारण कर जीवन बिताते थे और इन विद्याओं में पारंगत होते थे। इन विद्याओं में आज भी कुछ पारंगत लोग हैं। प्राकृतिक परिवर्तनों, विदेशी आक्रमणों, स्वदेश में हो रही ऊठा-पटक इत्यादि अनेक कारणों से पहले जैसी अध्ययन-अध्यापन की परम्परा अब छूटती जा रही हैं। इन पाठ्यक्रमों की, परीक्षा, प्रमाणपत्र इत्यादि आधुनिक शिक्षण पद्धति के द्वारा कुछ राज्यों/प्रदेशों में होता है, परन्तु बहुत से राज्यों/प्रदेशों में नहीं होता है। अतः इन प्राचीन शास्त्रों के अध्ययन, परीक्षण, और प्रमाणीकरण का होना आवश्यक है। इसे ध्यान में रखकर यह पाठयक्रम राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान के द्वारा प्रारम्भ किया गया है। लोगों के कल्याण के लिए जितना ज्ञान आवश्यक है वैसा ज्ञान इन शास्त्रों में निहित है और मनुष्य के सामने प्रकट हो, ऐसा लक्ष्य है। जिसके द्वारा सभी यहाँ पर सुखी हों, सभी निरोगी हों, सभी कल्याण दृष्टि से कल्याणकारी हों, किसी को कोई दुःख नहीं हो, कोई किसी को दुःख नहीं दें, इस प्रकार अत्यन्त उदार उद्देश्य को ध्यान में रखकर 'भारतीय ज्ञान परम्परा' इस नाम से इस पाठयक्रम का निमाण किया गया है। विज्ञान शरीरारोग्य का चिन्तन करता है। कला विषय मनोविज्ञान तथा आध्यात्मिक विज्ञान का पोषण करता है। विज्ञान साधन स्वरूप और सुखोपभोग साध्य है। अतः निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि कला विषय शाखा विज्ञान से भी श्रेष्ठ है। कला को छोड़कर विज्ञान से सुख प्राप्त कर नहीं किया जा सकता है बल्कि विज्ञान को छोड़कर कला से सुख को अवश्य प्राप्त कर सकते हैं।

यह भारतीय दर्शन का पाठ्यक्रम छात्रानुकूल, ज्ञानवर्धक, लक्ष्य साधक और पुरुषार्थ साधक हैं, ऐसा मेरा मानना है। इस पाठ्यक्रम के निर्माण में जिन हिताभिलाषी, विद्वान, उपदेष्टा, पाठ लेखक, त्रुटि संशोधक और मुद्रणकर्ता इत्यादि ने परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सहायता की है। उनके प्रति संस्थान की तरफ से मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं। रामकृष्ण मिशन-विवेकानन्द विश्वविद्यालय के कुलपति श्रीमान् स्वामी आत्मप्रियानन्द जी का विशेष रूप से धन्यवाद जिनकी अनुकूलता और प्रेरणा के विना इस कार्य की परिसमाप्ति दुष्कर थी। इस पाठयक्रम के अध्येताओं का विद्या से कल्याण हो, जीवन में सफल हो, विद्वान बनें, देशभक्त हो और समाज सेवक हो, ऐसी हमारी हार्दिक इच्छा है।

अध्यक्ष
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

आप से दो बातें...

निदेशकीय वाक्

प्रिय पाठक,

'भारतीय ज्ञान परम्परा' पाठ्यक्रम को पढ़ने की इच्छा से उत्साहित भारतीय ज्ञान परम्परा के अनुरागी और उपासकों का हार्दिक स्वागत करता हूँ। यह अत्यधिक हर्ष का विषय है कि गुरुकुलों में पढ़ाये जाने वाला पाठ्यक्रम हमारे राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान के पाठ्यक्रम में भी सम्मिलित किया गया है। आशा है की लम्बे समय से हमारी प्राचीन संस्कृति से जो दूरी थी वह अब समाप्त हो जाएगी। हिन्दु, जैन और बौद्ध धर्म के धार्मिक, आध्यात्मिक और काव्यादि वाङ्गमय प्रायः संस्कृत में लिखा हुआ है। सैकड़ों, करोड़ों मनुष्यों के प्रिय विषयों की भूमिका के माध्यम से प्रस्तुत प्रवेश योग्यता के द्वारा और मन को प्रसन्न करने के लिए माध्यमिक स्तर और उच्चतर माध्यमिक स्तर पर कुछ विषय सम्मिलित किये गए हैं। जैसे आंग्ल, हिंदी, आदि भाषा ज्ञान के बिना उस भाषा के लिखे गए माध्यमिक स्तरीय ग्रन्थ पढ़ने में और समझ में सक्षम नहीं हो सकते हैं, वैसे ही यहाँ पर प्रारम्भिक संस्कृत तथा हिन्दी भाषा को नहीं जानते तो, इस पाठ्यक्रम को जानने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। अतः प्रारम्भिक संस्कृत तथा हिन्दी के सामान्य ज्ञान के छात्र यहाँ इस पाठ्यक्रम के अध्ययन के अधिकारी हैं, ऐसा जानना चाहिए।

गुरुकुलों में अध्ययन करने वाले छात्र आठवीं कक्षा तक जितना संभव हो अपनी परंपरा से अध्ययन करें। नौवीं, दशवीं कक्षा और ग्यारहवीं तथा बारहवीं कक्षा तक भारतीय ज्ञान परम्परा के इस पाठ्यक्रम का निष्ठा से नियमित अध्ययन करें। इस पाठ्यक्रम से विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिए योग्य होंगे।

संस्कृत के विभिन्न शास्त्रों में किया गया कठिन परिश्रम विद्वान, प्राध्यापक, शिक्षक और शिक्षाविद इस पाठ्यक्रम का प्रारूप रचना में, विषय निर्धारण के लिए, विषय परिमाण निर्धारण में, विषय प्रकट करने का, भाषा स्तर निर्णय में और विषय पाठ लिखने में संलग्न हैं। अतः इस पाठ्यक्रम का स्तर उन्नत है।

भारतीय दर्शन की यह स्वाध्याय सामग्री आपके लिए पर्याप्त, सुबोध, रुचिकर, आनन्दरस को प्रदान करने वाली, सौभाग्य प्रदान करने वाली, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि पुरुषार्थों के लिए उपयोगी रहेगी, ऐसी हम आशा करते हैं। इस पाठ्यक्रम का प्रध ान लक्ष्य है की भारतीय ज्ञान परम्परा का शैक्षणिक क्षेत्रों में विशिष्ट और योग्य स्थान स्वीकृत होना चाहिए। यह लक्ष्य इस पाठ्यक्रम के माध्यम से पूर्ण होगा, ऐसा हमारा दृढ विश्वास है। पाठक अध्ययनकाल में यदि मानते है की इस अध्ययन सामग्री में, पाठ के सार में, जहाँ संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन संस्कार चाहते हैं, उन सभी के प्रस्ताव का हम स्वागत करते हैं। इस पाठ्यक्रम को और अधिक प्रभावी, उपयोगी और सरल बनाने में आपके साथ हम हमेशा तत्पर हैं।

सभी अध्येताओं के अध्ययन में सफलता, जीवन में सफलता और कृतकृत्य के लिए हमारे आशीर्वचन हैं।

किं बाहुना विस्तरेण।

अस्माकं गौरववाणीं जगति विरलाम् सर्वविद्याया लक्ष्यभूताम् एव उद्धरामिद्य

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्।

शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत्॥

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।

मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥

निदेशक (शैक्षिक)
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

आप से दो बातें...

समन्वयक वचन

प्रिय जिज्ञासु,

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु सह वीर्य करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

परम्परा को आधार मानकर यह प्रार्थना है कि हमारा अध्ययन विघ्नों से रहित हो। अज्ञान का नाश करने वाला तेजस्वी हो। द्वेष भावना का नाश करने वाला हो। विद्या लाभ के द्वारा सभी कष्टों का निवारण करने वाला हो।

'भारतीय ज्ञान परम्परा' पाठ्यक्रम के अङ्गभूत यह पाठ्यक्रम उच्चतर माध्यमिक कक्षा के लिए निर्धारित किया गया है। इस पाठ्यक्रम की अध्ययन सामग्री आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए मैं परम हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। सरल संस्कृत तथा हिन्दी भाषा को जो जानता है वह इसके अध्ययन में समर्थ है।

विद्वानों का अभिप्राय और अनुभवों के आधार पर काव्य और काव्यशास्त्र का फल रस ही है। आनंद रस स्वरूप ही है। सभी प्राणियों का सभी कार्य आनंद और सुखपूर्वक सम्पन्न हों, यहीं प्रबल इच्छा है। काव्य के सभी विषय रस में ही स्थित हैं। काव्यों के अनेक प्रकार हैं और काव्य प्रपंच सबसे महान हैं। काव्य बहुत हैं। उनमें से विविध काव्यांशों का चयन करके इस पाठ्य सामग्री में सम्मिलित किया गया है। इसी प्रकार साहित्य का सामान्य स्वरुप, काव्य का स्वरुप, भेद आदि प्रारम्भिक ज्ञान यहाँ पर दिया गया है। पारम्परिक गुरुकुलों में जिस शिक्षण पद्धति से पाठ दिए जाते थे, उसी पद्धति का अनुसरण कर यह पाठ्यक्रम प्रतिपादित किया गया है।

उच्चतर माध्यमिक कक्षा हेतु निर्धारित भारतीय दर्शन विषय का यह पाठ्यक्रम अत्यन्त उपकारक है। शिक्षार्थी इसके अध्ययन से ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होंगे। इसके अध्ययन से छात्र अन्य काव्यों में प्रवेश के योग्य होंगे। यह पाठ्य सामग्री भारतीय दर्शन का श्रद्धा सहित अध्ययन में प्रवेश के लिए और मन को शांति देने वाली है। इस पाठ्य सामग्री के आकार पर नहीं जाना चाहिए और न इससे भय होना चाहिए। परन्तु गम्भीर रूप से अध्ययन करना चाहिए।

सम्पूर्ण पाठ्य पुस्तक दो भागों में विभक्त है। पाठक पाठो को अच्छी तरह से पढ़कर पाठ में आये प्रश्नों के उत्तरों पर स्वयं विचार कर अन्त में दिए हुए प्रश्नों के उत्तरों को देखें, और उन उत्तरों को अपने उत्तरों से मिलाएं। प्रत्येक पत्र में दिए हुए रिक्त स्थान पर टिप्पणी करनी चाहिए। पाठ के अन्त में दिये प्रश्नों के उत्तरों का निर्माण करके परीक्षा के लिए तैयार हो जाएँ।

शिक्षार्थी अध्ययन काल में किसी भी कठिनता का अनुभव करते हैं, तो अध्ययन केन्द्र में किसी भी समय जाकर के समस्या के समाधान के लिए आचार्य के समीप जाएँ या राष्ट्रिय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान के साथ ई-पत्रद्वारा सम्पर्क करें। वेबसाइट पर भी संपर्कव्यवस्था है। वेबसाइट www.nios.ac.in इस प्रकार से है।

ये पाठ्य विषय आपके ज्ञान को बढाए, परीक्षा में सफलता को प्राप्त करवाए, आपकी विषय में रुचि बढ़ाए, आपका मनोरथ पूर्ण करे, ऐसी कामना करता हूँ।

अज्ञानान्धकारस्य नाशाय ज्ञानज्योतिषः दर्शनाय च इयं में हार्दिकी प्रार्थना
ॐ असतो मा सद् गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मामृतं गमय ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

भवत्कल्याणकामी
पाठ्यक्रम समन्वयक
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

अपने पाठ कैसे पढ़ें!

भारतीय दर्शन, उच्चतर माध्यमिक स्तर की इस पाठ्य सामग्री को विशेष रूप से आपकी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए निर्मित किया गया है। आप स्वतंत्र रूप से स्वयं पढ़ सकें इसलिए इसे एक प्रारूप में ढाला गया है। निम्नलिखित संकेत आपको सामग्री का सर्वोत्तम उपयोग करने का तरीका बताएंगे। दिए गए पाठों को कैसे पढ़ना है आइए, जानें

पाठ का शीर्षक : इसे पढ़ते ही आप अनुमान लगा सकते हैं कि पाठ में क्या दिया जा रहा है। इसे पढ़िए।

भूमिका : यह भाग आपको पूर्व जानकारी से जोड़ेगा और दिए गए पाठ की सामग्री से परिचित कराएगा। इसे ध्यानपूर्वक पढ़िए।

उद्देश्य : प्रस्तुत पाठ को पढ़ने के बाद आप इस पाठ के उद्देश्यों को प्राप्त करने में समर्थ हो जाएंगे। इन्हें याद कर लीजिए।

पाठगत प्रश्न : इसमें एक शब्द अथवा एक वाक्य में पूछे गए प्रश्न हैं तथा वस्तुनिष्ठ प्रश्न हैं। ये प्रश्न पढ़ी हुई इकाई पर आधारित है इनका उत्तर आपको देते रहना है। इसी से आपकी प्रगति की जाँच होगी। ये सवाल हल करते समय आप हाथ में पेंसिल रखिए और जल्दी-जल्दी सवालों के समाधान ढूँढ़ते रहिए और अपने उत्तरों की जाँच पाठ के अंत में दी गई उत्तरमाला से मिलाइए। उत्तर ठीक न होने पर इकाई को पुनः पढ़िए।

आपने क्या सीखा : यह पूरे पाठ का संक्षिप्त रूप है- कहीं यह बिंदुओं के रूप में है, कहीं आरेख के रूप में तो कहीं प्रवाह चार्ट के रूप में। इन मुख्य बिंदुओं का स्मरण कीजिए। यदि आप कुछ अपने मतलब की मिलती-जुलती नई बातें जोड़ना चाहते हैं तो उन्हें भी वहीं बढ़ा सकते हैं।

पाठांत प्रश्न : पाठ के अंत में दिए गए लघु उत्तरीय तथा दीर्घ उत्तरीय प्रश्न हैं। इन्हें आप अलग पृष्ठों पर लिखकर अभ्यास कीजिए। यदि चाहें तो अध्ययन केन्द्र पर अपने शिक्षक या किसी उचित व्यक्ति को दिखा भी सकते हैं और उन पर नए विचार ले सकते हैं।

उत्तरमाला : आपको पहले ही बताया जा चुका है इसमें पाठगत प्रश्नों और क्रियाकलापों के उत्तर दिए जाते हैं। अपने उत्तरों की जाँच इस सूची से कीजिए।

पुस्तक-1

सांख्य दर्शन

1. सांख्य दर्शन का सामान्य परिचय

2. सांख्य दर्शन में प्रकृति पुरुष गुण विचार

3. सांख्य दर्शन में सृष्टि विचार

4. सांख्य दर्शन में सत्कार्यवाद

वेदांत दर्शन में प्रमाण

5. प्रत्यक्ष खण्ड में प्रमा

6. प्रत्यक्ष खण्ड में प्रत्यक्ष प्रमाण

7. प्रत्यक्ष खण्ड में प्रत्यक्ष प्रमाण भेद

8. अनुमान खण्ड और उपमान खण्ड

9. आगमखण्ड

10. अर्थापत्ति खण्ड और अनुपलब्धि खण्ड

पुस्तक-2

अद्वैत वेदांत में अध्यारोप

11. ब्रह्म

12. माया

13. अध्यास लक्षण विचार

14. अध्यास कारण विचार

15. सृष्टि विचार

16. सृष्टि प्रलय विचार

अद्वैत वेदांत में अपवाद

17. अवस्थात्रय विवेक

18. पञ्चकोश विवेक

19. महावाक्य तात्पर्य विचार

20. महावाक्य वृत्ति विचार

21. साधन विचार-1

22. साधन विचार-2

23. साधन विचार-3

24. समाधि स्वरूप

25. समाधि के अंग

26. मुक्ति

27. विवेकानंद का वेदांत चिन्तन

उच्चतर माध्यमिक स्तर

भारतीय दर्शन-347

पुस्तक-2

क्र. सं.	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
अद्वैत वेदांत में अध्यारोप		
11.	ब्रह्म	1-14
12.	माया	15-30
13.	अध्यास लक्षण विचार	31-44
14.	अध्यास कारण विचार	45-58
15.	सृष्टि विचार	59-74
16.	सृष्टि प्रलय विचार	75-88
अद्वैत वेदांत में अपवाद		
17.	अवस्था त्रय विचार	89-100
18.	पञ्चकोश विवेक	101-118
19.	महावाक्य तात्पर्य विचार	119-130
20.	महावाक्य वृत्ति विचार	131-142
21.	साधना-1	143-156
22.	साधना-2	157-176
23.	साधना-3	177-206
24.	समाधि स्वरूप	207-218
25.	समाधि के अङ्ग तथा विघ्न	219-232
26.	मुक्ति	233-244
27.	विवेकानंद का वेदांत चिन्तन	245-258

ध्यान दें:

11

ब्रह्म

ब्रह्म सत्य है तथा जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म से अपर नहीं होकर ब्रह्म ही है, इस प्रकार का अद्वैतवेदान्त सिद्धान्त का सार है। यह दिखाई देने वाला जगत् नाम तथा रूप के द्वारा जितना भी व्याप्त है वह सब ब्रह्म का ही स्वरूप है। सृष्टि से पूर्व में केवल ब्रह्म ही था "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इस प्रकार की श्रुतियाँ ब्रह्म का बार बार निरूपण करती हैं। तथा जीव भी स्वरूपतः ब्रह्म ही होता है। अज्ञान के कारण अपने स्वरूप को नहीं जानता हुआ वह आत्मा को बद्ध मानने लगता है। तथा सुख दुःखादि का अनुभव करने लगता है। श्रवण मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा अखण्डाकार चित्तवृत्ते के उदय होने से अज्ञान का नाश होता है और जीव अपने स्वरूप को प्राप्त करता है। इस प्रकार से वह अपने स्वरूप को प्राप्त करने बाद वैसा ही हो जाता है। जैसे गले में स्थित आभूषण को अज्ञानवश भूल जाने पर उसे भ्रमित व्यक्ति को जब कोई और व्यक्ति बताता है तब फिर से वह प्रसन्न हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञान के कारण अपने स्वरूप को नहीं जानता हुआ जीव के अखण्डाकार चित्तवृत्ति के उदय हो जाने से अज्ञान का नाश हो जाने पर वह अपने स्वरूप को प्राप्त करता ही है।

लेकिन जो ब्रह्मतत्व को केन्द्रित करके सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र वर्तमान में है उसका ब्रह्म स्वरूप है यह स्वतः जानना चाहिए। लक्षण प्रमाण के द्वारा वस्तु सिद्धि होने पर सिद्ध वचनों का अनुसरण करके ब्रह्म के प्रतिपादन के लिए उसके लक्षणों का विचार करना चाहिए। इसलिए इस पाठ में ब्रह्म के लक्षण हमारे द्वारा आलोचित किए गये है।

लक्षण दो प्रकार के होते है स्वरूप लक्षण तथा तटस्थ लक्षण। इस पाठ में ब्रह्म के दोनों प्रकार के लक्षणों का आलोचन किया जाएगा। दो प्रकार का ब्रह्म श्रुतियों में बताया गया है- सगुण तथा निर्गुण। इस पाठ में सगुण ब्रह्म के विषय में तथा निर्गुण ब्रह्म के विषय में विस्तारपूर्वक आलोचन किया जाएगा।

उद्देश्य

इस पाठ को पढ़कर आप सक्षम होंगे;

- ब्रह्मपद के अर्थ को, जानने में;
- लक्षणों के दो प्रकार ज्ञान को प्राप्त करने में;
- ब्रह्म के स्वरूप के लक्षण को जानने में;

ध्यान दें:

- ब्रह्म के तटस्थ लक्षण को, जानने में;
- निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को, जानने में;
- सगुण ब्रह्म के स्वरूप को, जानने में;

ब्रह्म पद का अर्थ

'बृहि वृद्धौ' इस वृद्ध्यर्थक बृहधातु से 'बृंहेर्नोऽच्च' इस सूत्र के द्वारा

कर्ता अर्थ में मनिन् प्रत्यय करने पर ब्रह्मशब्द निष्पादित होता है। अर्थात् जो बढ़ता है वह ब्रह्म कहलाता है। दूसरा अर्थ जो प्रजा को बढाता है वह ब्रह्म है। यह निरतिशय महत्वलक्षणवृद्धिमत्व से तथा सर्वव्यापकत्व से ब्रह्म कहलाता है, इस प्रकार के अन्वर्थ का अभिधान किया जाता है। इसलिए भामतीकार वाचस्पतिमिश्र ने यह उद्धृत किया है - बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाद्वात्मैव ब्रह्मेति गीयते इति। महाभारत में शान्ति पर्व में भी कहा गया है - "बृहद् ब्रह्म महच्चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः" इति। (बृहत् ब्रह्म तथा महत् शब्द पर्यायवाची है) इसलिए जिससे बृहद् कुछ भी नहीं है, तथा जो देहादि का परिणामयिता है वह ब्रह्म है। देश काल तथा वस्तु से अपरिच्छिन्न होने के कारण उसकी सभी जगह व्यापकता है। सभी जगह विद्यमान होने से तथा तीनों कालों में होने से तथा सभी वस्तुओं में होने से ब्रह्म का देश काल तथा वस्तुओं से परिच्छेद सम्भव नहीं होता है।

ब्रह्म ही आत्मा है। 'अत सातत्यगमने' इस सातत्यगमनार्थक अत्-धातु से 'सातिभ्यां मनिन्मनिणौ' इस सूत्र से कर्ता अर्थ में मनित्-प्रत्यय होने पर आत्मन् यह शब्द निष्पादित होता है। अतति सन्ततभावेन जाग्रदादिसर्वावस्थासु अनुवर्तते इत्यात्मा (अर्थात् जो सतत् भाव से जाग्रत् आदि सभी अवस्थाओं में निरन्तर चलती है वह आत्मा कहलाती है। इसके अलावा भी आप-धातु से आपूर्वकाद्-दाधातु से तथा अद्-धातु से आत्मशब्द की निष्पत्ति प्रतिपादित होती है। सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यक भाष्यवार्त्तिक में कहा है

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते।। इति।

इसलिए जो सभी को प्राप्त करता है, सभी को ग्रहण करता है, सभी का भक्षण करता है तथा जो हमेशा विराजमान रहता है वह आत्मारूपी अर्थ सिद्ध होता है। इसके द्वारा आत्मा का सर्वव्यापकत्व सर्वग्राहत्व तथा सर्वनाशकत्व तथा सतत् विद्यमानत्व का ग्रहण होता है।

लक्षण का स्वरूप

लोक में यह स्थिति है कि लक्षणप्रमाण के द्वारा ही वस्तु की सिद्धि होती है न की उद्देश्यमात्र से। इसलिए उस ब्रह्म का लक्षण क्या है इसका सर्वप्रथम विचार करना चाहिए। लक्ष्यमात्र में विद्यमान असाधारण धर्म ही लक्षण कहलाता है। जैसे सास्नावत्व गो का लक्षण है। वह लक्षण भी दो प्रकार का होता है। स्वरूप लक्षण तथा तटस्थ लक्षण। तो कहते हैं कि स्वरूप लक्षण किसे कहते है तब उत्तर देते हुए वेदान्त परिभाषा में धर्मराजध्वरीन्द्र ने कहा है "स्वरूपमेव लक्षणं स्वरूपलक्षणम्" इति। अर्थात् स्वरूपत्व होने पर जो व्यावर्तक हो वह स्वरूप लक्षण का तात्पर्य है। जैसे मधुरत्व ही शक्कर का स्वरूप है। शक्कर मधुरत्व से भिन्न नहीं होती है उससे भिन्न में लवणादि होते हैं। इसलिए मधुरत्व शक्कर का स्वरूपलक्षण है। जितने समय तक शक्कर रहेगी उतने ही समय तक शक्कर का वह मधुरत्व स्वरूप भी रहेगा। क्योंकि कोई भी वस्तु कभी भी अपने स्वरूप का त्याग नहीं करती है। तटस्थ लक्षण के विषय में वेदान्त परिभाषा में कहा है "तटस्थलक्षणं तु यावल्लक्ष्यकालम् अनवस्थितत्वे सति यद् व्यावर्तकम्" जितने समय तक लक्ष्य की स्थिति रहती है उतने समय तक लक्ष्य में जो अविद्यमान लक्ष्य भी उससे

भिन्न से व्यावर्तक होता है वह तटस्थ लक्षण कहलाता है। जैसे गन्धत्व पृथ्वी का लक्षण है। नैयायिकों के मत में उत्पन्न द्रव्य उस क्षण गुणरहित तथा अक्रिय रहता है। इसलिए उत्पन्न पृथ्वी गन्ध तथा गुण रहित होती है। उत्तपत्ति के उत्तरक्षण में पृथ्वी में समवायसम्बन्ध से गुण उत्पन्न होता है यह नैयायिकों का मत है। इसलिए गन्धगुण पृथ्वी में सतत् अविद्यमान होते हुए भी अन्य जलादि के द्वारा व्यावर्त होता है इसलिए गन्ध पृथ्वी का तटस्थलण है।

इसी प्रकार उपनिषदों से ही ब्रह्म का स्वरूपलक्षण तथा तटस्थलक्षण जानना चाहिए। वह ब्रह्म उपनिषदों से भी परे है इसलिए उपनिषदों में कहा है "उस औपनिषद् पुरुष से पूछता हूँ, वह उपनिषद् स्वरूप भी है" इस प्रकार के श्रुति वाक्यों में उपनिषद् मात्र जानने योग्य कथन से उस ब्रह्म का स्वरूपलक्षण क्या है तथा तटस्थ लक्षण क्या है इसका नीचे आलोचन किया जा रहा है।

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्न 11.1

1. ब्रह्मपद की व्युत्पत्ति क्या है?
2. ब्रह्मशब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ क्या है?
3. आत्मा पद की व्युत्पत्ति क्या है?
4. आत्म पद का व्युत्पत्तिगत अर्थ क्या है?
5. स्वरूप लक्षण किसे कहते हैं?
6. तटस्थ लक्षण किसं कहते हैं?
7. तटस्थ लक्षण का उदाहरण क्या है?
8. ब्रह्मा का स्वरूपलक्षण तथा तटस्थ लक्षण कहाँ से जाना जा सकता है?

ब्रह्म का स्वरूपलक्षण

ब्रह्मा के स्वरूप के लक्षण का प्रतिपादन करने वाले बहुत सारे श्रुति वाक्य हैं। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्यादि श्रुतिवाक्यों में ब्रह्म के स्वरूप के लक्षण का आलोचन किया गया है। इस प्रकार से ब्रह्म सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप अनन्तस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप है। जैसे प्रकृष्टप्रकाशकचन्द्रः इत्यादि वाक्यों में प्रकृष्टप्रकाश चन्द्र के स्वरूप के अन्तर्भूत होता है वैसे ही सत्यज्ञानादि ब्रह्म के स्वरूप ही होते हैं।

तैत्तरीय उपनिषद् के भाष्य में शङ्कराचार्य के द्वारा ब्रह्मलक्षण के विचारप्रसङ्ग में कहा गया है की सत्य ज्ञान तथा अनन्त पदादि ब्रह्म के विशेषण नहीं है। ब्रह्म एक ही है ब्रह्म में सजातीय विजातीय वस्तुओं के अभाव से विशेषणों की व्यर्थता सिद्ध होती है। इसलिए कहा गया है सम्भव तथा व्यभिचार से विशेषण अर्थवान् होता है।इसलिए सत्य ज्ञान तथा अनन्त पद ब्रह्म का लक्षण ही है। लक्षण ही लक्ष्य में सभी और से व्यावर्त होता है। विशेषण विशेष्य में सजातीयों से व्यावर्त होता है। इन सत्यज्ञान तथा अनन्त पदों की परस्पर अनपेक्षा से साक्षात् ब्रह्म पद में ही अन्वय होता है। उसके द्वारा सत्य ब्रह्म, ज्ञान ब्रह्म तथा अनन्तब्रह्म ब्रह्म के लक्षण फलित होते है। उससे समानाधिकरण्यवश से सत्यज्ञान तथा अनन्तपदों का परस्पर अन्वय होता है। यह पद्धति पार्ष्ठिकान्वय के रूप में प्रसिद्ध है। इस प्रकार से तथाहि अरुणया पिङ्गाक्ष्या गवा एकहायन्या सोमं क्रीणाति इति वाक्ये अरुणात्व-पिङ्गाक्षित्व-एकहायनित्वादिगुणानां प्रथमं क्रियायामन्वयो भवति। गोपदं करणत्वेन क्रियया अन्वेति। गोद्रव्यस्य क्रयक्रियया अन्वयः उपपद्यते, परन्तु

ध्यान दें:

अरुणत्वादिगुणानां क्रिययायामन्वयो नोपपद्यते। अतो विचार्य गुणाः द्रव्यमाश्रित्य एव क्रियया अन्वेति इति निश्चीयते। एकस्मिन गोद्रव्ये विद्यमानत्वात् अरुणात्वपिङ्गाक्षित्वैकहायनित्वानां परस्परमन्वयो भवति।

इसलिए सत्यज्ञान तथा अनन्तादि का ब्रह्म से पृथक् अन्वय करने पर सत्य होने पर विचार के द्वारा परस्पर अन्वितों से ब्रह्म की प्रतिपादकता का ज्ञान होता है।

जिस रूप में जिसका निश्चय किया जा चुका है वह व्यभिचरित नहीं होने वाला रूप सत्य कहलाता है। स्व स्वरूप व्यभिचार विकारों में देखे जाते हैं। उसी प्रकार दूध के स्वरूप परिवर्तन के कारण ही दही उत्पन्न होता है। इसलिए दही से दूध का सत्यत्व सम्भव नहीं है। इसलिए ब्रह्मा के सत्यत्व कथन से विकारों के द्वारा ब्रह्मा की विलक्षणता स्पष्ट प्रतिपादित होती है। क्योंकि ब्रह्म चराचरात्मक प्रपञ्च का कारण है।

कारणवत्व होने ब्रह्मा को जडत्व ब्रह्मा का नहीं विचारना चाहिए। इसलिए कहा गया है ब्रह्मज्ञानस्वरूप होता है। यहाँ पर ज्ञान पद भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्य करने पर निष्पन्न समझना चाहिए। न की नैयायिकों के अभिमत में ज्ञानकर्तृत्व यहाँ पर प्रतिपादित किया गया है। कर्तृत्व भी विकार ही है। ब्रह्म में विकारों को स्वीकार करने पर उसका सत्यत्व सम्भव नहीं होता है। ब्रह्मा का ज्ञानकर्तृत्व अङ्गीकार करने पर ज्ञेय ज्ञान से उसके भेद के कारण उसकी परिछिन्न अनन्तता सम्भव नहीं होती है। जैसे सूर्य का प्रकाश, अग्नि की उष्णता वैसे ज्ञान ब्रह्म का स्वरूप होता है। वह ज्ञान कारणान्तरनिरपेक्ष होने से नित्य तथा काल आकाशादि का कारण होने से सूक्ष्म होता है।

ज्ञान स्वरूप ब्रह्म की लौकिक ज्ञान के समान अन्तवत्व कल्पना नहीं करना चाहिए। इसलिए कहा गया है अनन्तं ब्रह्म। ब्रह्म की देश काल तथा वस्तु के अन्त के अभाव के कारण अनन्तता सिद्ध होती है। ब्रह्म ही अखिल जगत् का कारण है। कार्य व्याप्य होकर के कारण में रुकता है। इसलिए जगत् व्याप्य ब्रह्मा के विद्यमानत्व से उसका सर्वव्यापित्व सिद्ध होता है। तीनों कालों में ब्रह्म का असत्व कभी भी सिद्ध नहीं होता है इस प्रकार उससे काल से अन्ततः सिद्ध नहीं होती है। ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी वस्तुओ के अभाव से सभी वस्तुओं में अनुस्यूतत्व से ब्रह्म का वस्तुतः परिच्छेद भी सम्भव नहीं होता है। इसलिए सर्वविधान्तताव्यावर्तक अनन्तपद ब्रह्म का लक्षण होता है।

ब्रह्म विज्ञानमय तथा आनन्दमय होता है इसलिए आनन्दमय ब्रह्म को जानना चाहिए आनन्दमय ब्रह्म को जानना चाहिए। जो ब्रह्म है वह सुख स्वरूप है इस प्रकार से श्रुतियों में ब्रह्म आनन्दस्वरूप में ख्यापित है। तथा साधनपरन्त्राताभाव से एवं अविनाशित्व भाव से इस आनन्द की परमता समझनी चाहिए। यहाँ पर आनन्द का अर्थ केवल दुःख का अभाव ही नहीं समझना चाहिए अपितु श्रुतिप्रतिपद्यार्थ के दुर्निरुप्यत्व से ब्रह्मस्वरूप आनन्दमात्र लौकिक आनन्द ही होता है। अभाव का आधिक्य तथा न्यून रूप के चिन्तन का विधान विधान विद्वानों के द्वारा नहीं किया गया है। इसलिए दुःख का अभाव ही मोक्ष है यहाँ पर सांख्य तथा नैयायिक सिद्धान्त दूषित ही है। अब कहते हैं कि आनन्द शब्द पुल्लिङ्ग का है जिसका मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करने पर आनन्द पद का आनन्दविशिष्ट अर्थ होता है नहीं तो पुल्लिङ्ग में विद्यमान आनन्दशब्द का ब्रह्म की विशेषणता के कारण किस प्रकार व्यवहार होता। तब कहते कि ऐसा नहीं है आनन्दोब्रह्मेति व्यजानात् इस प्रकार के श्रुतिवाक्यों मे ब्रह्मसमानाधिकरण्य के कारण आनन्दपद के श्रवण से वह विशेषण बन जाता है। इसलिए आनन्द तथा ब्रह्म इत्यादि स्थलों में ब्रहस्वरूप ही आनन्द पद की व्याख्या है अन्यथा श्रुतियों में परस्पर विरोध आ जाएगा।

सत्य ज्ञान तथा अनन्त पद ब्रह्म के लक्षण हैं। लक्षण लक्ष्य के इतर व्यावर्तक होते हैं। इसलिए सत्य पद ब्रह्म का अनृतविकारों से व्यावर्तक होता है। ज्ञानपद जड़ ब्रह्म का व्यावर्तक होता है। तथा अनन्तपद विशिष्ट वस्तुओं से ब्रह्म का व्यावर्तक होता है। इस प्रकार तो सत्यादि पदों का अनृतादि

ध्यान दें:

धर्मनिवृतिपरत्व से ब्रह्म के अप्रसिद्धत्व से सत्यादिवाक्यों की शून्यार्थता होती है। तो कहते हैं नहीं। सत्यादियों का विशेषणत्व सत्य होने पर भी लक्षणार्थत्व से लक्षण का लक्ष्य सत्व होने के कारण ही प्रयोज्यमानत्व से शून्यार्थापत्ति होती है। सत्यादि पदों के विशेषणत्व होने पर भी सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इत्यादि वाक्यों कि तथा विशेषणों के विशेष्यनियन्तृत्व से शून्यार्थता नहीं है। तथा असत विशेष्य में विशेषणोपदान के असम्भवत्व से भी। अब कहते हैं कि निश्चितरूप से सत्यज्ञानानन्त पदों के ब्रह्मप्रतिपादकत्व से उनके पर्यायवाचकत्व की आपत्ति होती है। तो सत्यपद के द्वारा ब्रह्म के निर्देश करने से ज्ञान अनन्त आदि पदों के उपादान में पुनरुक्ति हो जाएगी। यहाँ पर कहते है कि सत्यादि पदो के द्वार भले ही ब्रह्म का बोध होता है। फिर भी उनकी शक्यता अवच्छेदक के व्यावर्त्य के भेद से उनकी पर्यायतापत्ति नहीं होती है। ब्रह्म की गुणक्रियाजाति आदि के रहित होने से शब्दवाच्यता सम्भव नहीं होती है। इसलिए सत्यादि शब्दों के द्वारा ब्रह्म को नहीं समझा जा सकता है। अपितु सत्यादि पदों के द्वारा ब्रह्म लक्षित होता है। इसलिए आचार्य भगवत्पाद शङ्काराचार्य ने कहा है- सत्यादिशब्द इतरेतरसन्निधानादन्योऽन्यनियम्यनियामका: सन्त: सत्यादिशब्दवाच्यान्निवर्तका ब्रह्मणो लक्षणार्थाश्च भवन्तीति। तेन च न यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, अनिरुक्तेऽनिलयने इत्यादिश्रुतिविरोध:।

लक्ष्य में विद्यमान असाधारण धर्म को लक्षण कहते है। धर्म धर्मी में रुकता है। सत्यत्व आदि के ब्रह्मस्वरूपत्व होने से ब्रह्मधर्मत्व का अभाव होता है। इसलिए सत्यत्व आदि ब्रह्म के लक्षण नहीं होते हैं तब कहते है कि स्वयं की स्वयं मे अपेक्षा के कारण तथा धर्मधर्मी भाव कल्पना के कारण लक्ष्यलक्षत्व के सम्भव होने से ऐसा नहीं होता है। सत्यादि ब्रह्मस्वरूपत्व से भलेही ब्रह्म से भिन्न है फिर भी कल्पित धर्मधर्मीभाव के कारण वहाँ पर सत्यादि का ब्रह्मवृतित्व साधना चाहिए। पञ्चपदिकाकार कहते हैं कि- आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्मा:,अपृथक्त्वेऽपि चौतन्यात् पृथगिवावभासन्ते इति। (आनन्द विषयों का अनुभव तथा नित्यत्व ये धर्म होते हैं, ये अपृथकत्व होने पर भी चैतन्य से पृथक् के समान ही भासित होते हैं)।

इस प्रकार से ब्रह्म निरवयव अखण्ड स्वगत सजातीय तथा विजातीय भेद रहित होता है। इसलिए ब्रह्म के विषय में छान्दोग्योपनिषद् में कहा है एकमेवाद्वतीयम् इति अर्थात् वह अद्वितीय होता हुआ एक ही है। यहाँ पर एक पद से ब्रह्म में सजातीय भेदनिरास होता है। तथा एव पद से स्वगत भेद निरास होता है। अद्वितीय इस पद से विजातीय भेद निरास विहित है। स्वगत सजातीय तथा विजातीय भेदों के स्वरूप के विषय में कहा गया है पञ्चदशी में

वृक्षस्य स्वगतो भेद: पत्रपुष्पफलादिभि:।
वृक्षान्तरात्सजातीयो विजातीय: शिलादित:॥

(पञ्चदशी 2.20) इति।

अर्थात् वृक्ष के पत्रपुष्पफलादि के द्वारा अपने अवयवों से भेद स्वगत भेद होते हैं, वृक्ष का दूसरे वृक्ष से भेद सजातीय भेद होता है वृक्ष का पत्थरादि से भेद विजातीय भेद होता है। ब्रह्म में ये तीनों भेद नहीं होते है। ब्रह्म के निरवयत्व होने से उसमें स्वगत भेद नहीं होता है। ब्रह्मव्यतिरिक्त द्वितीय के अभाव के कारण ब्रह्म में सजातीय तथा विजातीय दोनों भेद नहीं होते हैं।

पाठगत प्रश्न 11.2

1. ब्रह्म के स्वरूप लक्षणों का प्रतिपादन करने वाले श्रुति वाक्य कौन-कौन से हैं?
2. लक्षण तथा विशेषण में क्या भेद होता है?

ध्यान दें:

3. पार्ष्ठिकान्वय क्या होता है तथा उसका उदाहरण बताइये?
4. सत्य पद का क्या अर्थ है?
5. ब्रह्मलक्षणभूतज्ञान पद का क्या अर्थ है?
6. आनन्दपद के दु:ख का अभाव वाला अर्थ कहाँ से लिया गया है?
7. सत्यपद ब्रह्म में कैसे व्यावर्तक होता है?
8. ज्ञानपद ब्रह्म में कैसे व्यावर्तक होता है?
9. ब्रह्म की शब्दवाच्यता कैसे सम्भव नहीं होती है?
10. सत्यत्वादि के ब्रह्मस्वरूपत्व से ब्रह्म की लक्षणता कैसे सिद्ध नहीं होती है?
11. सत्यत्वादि के ब्रह्मस्वरूपत्व होने पर भी लक्षणपरता को प्रतिपादित करने के लिए पञ्चपदीकाकार ने क्या कहा है?
12. सजातीय भेद किसे कहते हैं?
13. स्वगत भेद किसे कहते हैं?
14. ब्रह्म में सजातीय तथा विजातीय भेद किस प्रकार से नहीं होते हैं?
15. ब्रह्म में स्वगत भेद किसलिए नहीं होते हैं।

ब्रह्म का तटस्थ लक्षण

ब्रह्म का तटस्थलक्षण तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली में कहा गया है। जिससे ये भूत उत्पन्न होते है। तथा जिससे ये जीवित रहते हैं, जो प्रलय में भी रहता है तथा जो जिज्ञासा का विषय है वह ब्रह्म कहलाता है। वहाँ पर निर्णय वाक्यत्व के द्वारा कहा गया है कि आनन्द स्वरूप से ही ये भूत उत्पन्न होते है। तथा आनन्द से ही उत्पन्न हुए जीवित रहते हैं, इस श्रुति को आधार करके ही भगवान बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म के तटस्थ लक्षण का सूत्र बनाया है 'जन्माद्यस्य यत:'। इस सूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य भगवत्पाद नें कहा है की इस जगत् के जन्म स्थिति तथा प्रलय जिस सर्वज्ञ की शक्ति के कारण होते हैं वह ब्रह्म कहलाता है। इन सभी को लेकर वेदान्त परिभाषा में ब्रह्म का तटस्थलक्षण कहा गया हैं जगज्जन्मादिकारणत्वम्। जगत् पद से यहाँ पर कार्य सूचित होता है। जन्मादि के द्वारा तथा आदि पद के द्वार यहाँ पर स्थिति तथा लय का ग्रहण होता है। और कारणत्व यहाँ पर कर्तृत्व रूप होता है उससे अविद्यमान में अतिव्याप्ति नहीं होती है । अविद्या का कर्तृत्व अभाव से जगत् कारणत्व भी होता है। इसलिए ब्रह्म का तटस्थलक्षण जगज्जन्मस्थितिलय तथा कर्तृत्व किया गया है।

कौमुदीकार रामाद्वयाचार्यों के मत में जगज्जन्मस्थितिलयों में एक के एक कारणत्व होने पर भी ब्रह्म का लक्षण हो सकता है। इसलिए चराचरग्रहण से इस सूत्र में जगत् लय तथा कारणत्व ही ब्रह्मलक्षणत्व के द्वारा कहा गया है। इस प्रकार से जगज्जन्मकर्तृत्व, जगत्स्थितिकर्तृत्व, जगल्लयकर्तृत्व ये तीन लक्षण ब्रह्म के सम्भव होते हैं। तथा वेदान्त परिभाषा में कर्तृत्व 'तत्तदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्व' कहा गया है। उसको देखने वाला जो सर्वज्ञ होता है तथा सभी विद्याओं और ज्ञान को जानने वाला होता है, य: सर्वज्ञ: सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तप: इस प्रकार की श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म का उपादानगोचर तथा अपरोक्ष ज्ञान का प्रतिपादन किया जाता है, सोऽकामयत इत्यादि श्रुतियों के द्वारा उपादान विषयक चिकीर्षा ब्रह्म की जानी जाती है। तदात्मानं स्वयमकुरुत तन्मनोऽकुरुत, इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म के उपादान विषयक

ध्यान दें:

कृतिमत्व का ज्ञान होता है। इन ज्ञान चिकीर्षाकृतियों का पूर्वोक्त तीनों लक्षणों में अलग अलग संयोजन करने पर ब्रह्म के नौ लक्षण होते हैं वे हैं

जगज्जन्मानुकूलापरोक्षज्ञानवत्त्वम्, जगज्जन्मानुकूलचिकीर्षामत्त्वम्, जगज्जन्मानुकूलकृतिमत्त्वम्, जगत्स्थित्यनुकूलापरोक्षज्ञानवत्त्वम्, जगत्स्थित्यनुकूलचिकीर्षावत्त्वम्, जगत्स्थित्यनुकूलकृतिमत्त्वम्, जगल्लयानुकूलापरोक्षज्ञानवत्त्वम्, जगल्लयानुकूलचिकीर्षावत्त्वम्, जगत्स्थित्यनुकूलकृतिमत्त्वम

कार्य के अनुकूल ज्ञानवत्व कर्तृत्व कहलाता है। इस मत में ब्रह्म के तीन तटस्थ लक्षण होते हैं जगज्जन्मानुकूलापरोक्षज्ञानवत्त्वम्, जगज्जन्मानुकूलचिकीर्षामत्त्वम्, और जगज्जन्मानुकूलकृतिमत्त्वम्।

ब्रह्म का अपर तटस्थलक्षण निखिलजगदुपानत्व होता है। यहाँ पर उपादानत्व से तात्पर्य जगदध्यासाधिष्ठानत्व तथा जगदाकार के द्वारा विपरिणममानमायाधिष्ठान्त है। इसलिए जगत् के अध्यास में जो अधिष्ठान है वह ब्रह्म कहलाता है। उस प्रकार का अधिष्ठानत्व ब्रह्म में होता है। जगद्रूपेण विपरिणममानाया: परिणाम्युपादानकारणभूताया मायाया: अधिष्ठानं ब्रह्म, तादृशमायाधिष्ठानत्वं च ब्रह्मणि, इस प्रकार का लक्षण समन्वय होता है। तब कहते हैं कि यदि जगत् जड़ है तो उसका कार्य भी सजातीय जड ही होना चाहिए। तो कहते हैं कि यह नियम परिणाम उपादान कारण के विषय में है। यह जगत् ब्रह्म का विवर्तभूत है विवर्त उपादानकारण के सजातीयत्व में नियम नहीं होता है। जगत् के उपादानत्व से ही ब्रह्मा के साथ जगत का तादात्म्य ख्यापित होता है इसलिए श्रुतियों में कहा गया है इदं सर्वं यदयमात्मा, सच्च त्यच्चाभवत्, बहु स्यां प्रजायेय अर्थात् यह (ब्रह्म) ही सभी की आत्मा यह ही सत्य है तथा समस्तप्रजाओं के रूप में यह विस्तृत है।

ब्रह्म इस जगत् का निमित्तकारण तथा उपादान कारण भी होता है। अब कहते हैं कि ब्रह्म जगत का निमित्त कारण मात्र होने योग्य नहीं है। वह सृष्टि करके उसमें प्रवेश करता है इसलिय श्रुतियों में सर्वं खल्विदं ब्रह्म इत्यादि में ब्रह्म की सर्वकार्य व्यापकता ज्ञान होती है। न की निमित्त कारण ज्ञान होता है। इसलिए ब्रह्म जगत् का उपादान कारण होने योग्य भी नहीं है, क्योंकि जगत् तो जड् है अत: उपादान में भी जडत्व आ जाएगा। यहाँ पर कहते है कि ब्रह्म चैतन्य के बिना जगत् की उत्पत्ति असम्भव होने से ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण भी है। जगत् उपादानमायाधिनिष्ठानत्व से उस ब्रह्म का उपादानत्व भी सिद्ध होता है। इसलिए कहा जाता है कि माया जगत् का परिणामी उपादान कारण है, तथा मायधिष्ठान ब्रह्मजगत् का परिणामि उपादान कारण है। लेकिन यहाँ पर तो निमित्त कारण उपादान कारण से अलग हो रहा है। इसलिए किस प्रकार से एक ब्रह्मा के ही एकसाथ निमित्तकारण तथा उपादान कारण हो सकते हैं। तब कहते हैं कि ब्रह्मस्वप्रधानता के कारण निमित्त तथा अज्ञानरूप उपाधि की प्रधानता के कारण उपादान होता है। जिस प्रकार से मकड़ी अपने जाले के निर्माण में स्वयं की प्रधानता के कारण निमित्त कारण तथा अपने शरीर की प्रधानता के कारण उपादान कारण होती है उसी प्रकार ब्रह्म भी है। इसलिए शास्त्रों में कहा भी गया है।

यथोर्णनाभि: सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधय: सम्भवन्ति।
यथा सत: पुरुषात्केशलोमानि।
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥ इति।

ब्रह्मलक्षण के प्रतिपादन काल में जगत् जन्म स्थिति हेतुत्व से ब्रह्म के निमित्तकारणता जगत् लय आधिष्ठानत्व से उसकी उपादानकारणता ज्ञात होती है। इसके द्वारा जन्माद्यस्य यत: इस सूत्र से निखिलजगद् अभिन्न निमित्त उपादानकारण ब्रह्म प्रतिपादित होता है। सिद्धान्तलेशसंग्रह में कुछ लोगों के मत में यह लिखा गया हैं कि "अन्य स्थानों पर तो जन्मकारणत्व का स्थितिकारणत्व का निमित्तकारणसाधारण्य

से उपादानत्वप्रत्यय के लिए ब्रह्म में लय दर्शित होता है। फिर भी ब्रह्म जगत् का उपादान है, जन्म होने के कारण जिस प्रकार घट का जन्म होता है, तथा कुलाल के समान तथा उपादान होने के कारण निमित्त अन्यत्र स्थित होना चाहिए इस शङ्का के निवारण के लिए कहते हैं की उसमें ही- जगत् जनन जीव नियामकत्व कहा गया है। तथा एक यह भी लक्षण दिया जाता है। तथा एक यह भी लक्षण है अभिन्ननिमित्तोपादानतयाद्वितीयं ब्रह्मोपलक्षयतीत्याहु:" (ब्रह्म के निमित तथा उपादान अभिन्न होने से वह एक ही है)। 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इस प्रकार से ब्रह्मसूत्र में भी ब्रह्म ही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण कहा गया है। तथा इस प्रकार से साक्षात् प्रतिपादित किया गया है। ब्रह्म प्रकृति: उपादानं च भवति। यहाँ पर च इस पद से निमित्तकारणता का भी आक्षेप होता है। यहाँ पर यह हेतु होता है कि- जिसके जानने से सभी का ज्ञान हो जाए इस प्रकार की कोई प्रतिज्ञा करता है, जैसे सौम्य मिट्टी के पिण्ड से सभी मिट्टी के पिण्डों के बारे में जानने लगता है इस प्रकार का दृष्टान्त है। किं बहुना, यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, इस श्रुति वाक्य में यत: इस पद में सुनाई देने वाली पञ्चमी विभक्ति, जनिकर्तु: प्रकृति: इस सूत्र के द्वारा अपादानसंज्ञा के विधान से होती है। इसके द्वारा भी ब्रह्म का जगत् उपादानत्व स्फुट होता है। इस प्रकार से यह स्पष्ट होता हैं कि ब्रह्म ही जगत् का निमित्त कारण तथा उपादान कारण है।

पाठगत प्रश्न 11.3

1. ब्रह्म के तटस्थलक्षण का प्रतिपादन करने वाले श्रुतिवाक्य कौन-कौन हैं?
2. ब्रह्म के तटस्थलक्षण का प्रतिपादक सूत्र कौन-सा है?
3. वेदान्त परिभाषा में ब्रह्म का क्या तटस्थलक्षण प्रतिपादित किया है?
4. जगज्जन्मादिकारणत्व यहाँ पर कारणत्व पद का कर्तृत्वरूप अर्थ के अङ्गीकार करने पर कहाँ पर अतिव्याप्ति नहीं होती है?
5. ब्रह्मलक्षण के विषय में कौमुदी कारों का क्या मत है?
6. कर्तृत्व किसे कहते हैं।
7. ब्रह्म का जगत् जन्म स्थिति लय तथा कारणत्व को छोड़कर दूसरा लक्षण क्या है?
8. निखिलजगत् उपादानत्व यहाँ पर उपादानत्व किसे कहते है?
9. ब्रह्म जगत् का उपादान कैसे है?
10. ब्रह्म किस प्रकार से जगत् का उपादान कारण तथा निमित्त कारण होता है?

11.1) सगुण और निर्गुण ब्रह्म

ब्रह्म स्वभाव से निर्गुण होता है तथा निर्गुण के बोध में असमर्थ मुमुक्षुओं के लिए सगुणत्व के द्वारा ब्रह्म का उपदेश दिया जाता है। इसलिए शङ्कराचार्य ने आनन्दमयाधिकरण भाष्य के आरम्भ में कहा है की दो रूपों से ब्रह्म समझा जाता है सर्वप्रथम नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्ट तथा दूसरा सभी प्रकार की उपाधियों से विवर्जति। सोपाधिकब्रह्म उपासना के द्वारा तथा निरूपाधिकब्रह्म ज्ञान के द्वारा प्राप्त होता है, इस प्रकार से वेदान्त में उपदेश किया गया है।

ध्यान दें:

11.1.1) निर्गुण ब्रह्म

अद्वैतवेदान्त के मत में ब्रह्म स्वरूप से निर्गुण ही होता है। ब्रह्म में गुण स्वीकार करने पर वह ब्रह्म क्या वह ब्रह्म के गुण सत्य है अथवा मिथ्या इस प्रकार का प्रश्न उत्पन्न होता है। यदि गुण सत्य है तो ब्रह्म के अतिरिक्त गुणों के सत्य होने से अद्वैतभङ्ग प्रसङ्ग होता है। तथा ब्रह्म में स्वीक्रियमाण गुणों के मिथ्या होने से इष्टापत्ति होती है। इसलिए ब्रह्म स्वरूप से निर्गुण ही युक्त है। जो सगुणादि रामानुजादि हैं वे भी निर्गुणब्रह्म को हमेशा अङ्गीकार करते हैं। जिस प्रकार से यह कहा जाए कि दण्ड से युक्त पुरुष है। यहाँ पर दण्डविशिष्टपुरुष के बोधस्थल में विशेष्य पुरुष का विशेषण दण्ड का पृथक् पृथक् ज्ञान अपेक्षित है। उसी प्रकार गुणविशिष्ट ब्रह्म के बोध के लिए गुणरहित ब्रह्म का ज्ञान भी अपेक्षित होता है। सगुणत्ववादि तथा निर्गुणब्रह्मविषयक श्रुतियाँ प्राकृतगुणरहित ब्रह्म का प्रतिपादन करती है। इस प्रकार से कहा जाता है।

इस प्रकार से ब्रह्म के जाति रहित होने पर भी एक की जाति अङ्गीकार नहीं की जा सकती है। ब्रह्म में सर्वव्यापित्व तथा निरवयवत्व होने के कारण क्रिया भी नहीं है। ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरे के अभाव के कारण ब्रह्म में कोई सम्बन्ध भी नहीं है। इस प्रकार से गुण क्रिया जाति संबंध रहित होने से ब्रह्म को किसी भी प्रकार की वाणी से प्रतिपादित नहीं किया जा सकता है। इसलिए ब्रह्म वाणी आदि इन्द्रियों का विषय नहीं है। इस प्रकार श्रुतियाँ प्रतिपादित करती है। उपनिषदों में कहा भी है यद्वाचानभ्युदितम् (केन. 1.4) यतो वाचो निवर्तन्ते (तै. 4.4) इत्यादि।

ब्रह्म की निर्गुणता हजारों श्रुतियों में प्रतिपादित की गई है। जैसे की ईशोपनिषद् में कहा गया है - तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके इति, (वह कम्पित होता है वह बढ़ता है, वह दूर भी है तथा पास भी है) केनोपनिषद् में कहा है कि न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः (जहाँ पर नेत्र वाणी तथा मन नहीं जाता है वह ब्रह्म है)। कठोपनिषद् में कहा गया है कि अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् इति (जो शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित,रस रहित गन्ध रहित है वह ब्रह्म है) प्रश्नोपनिषद् में कहा गया हैं कि - तदच्छायमशरीरम् अलोहितं शुभ्रमक्षरम् (उसकी छाया तथा शरीर नहीं और वह अलोहित तथा शुभ्र अक्षर है), मुण्डकोपनिषद् में कहा गया हैं कि - अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः (वह प्रापण रहित तथा मन रहित होता हुआ शुभ्र होता है) और माण्डुक्योपनिषद् में कहा गया है - अदृष्टम् अव्यवहार्यम् अग्राह्यम् अलक्षणम् अचिन्त्यम् अव्यपदेश्यम् (वह नहीं दिखाई देने वाला, अग्राह्य लक्षणहीन तथा चिन्तनरहित तथा वर्णन रहित है) इति छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है - अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः इति (वह शरीर रहित है तथा उसका कोई प्रिय तथा अप्रिय नहीं है), बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि तदतद्ब्रह्म अपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम् (वह यह ब्रह्म अपूर्व अंतर तथा अबाह्य है) इत्यादि। इस प्रकार से ब्रह्म की निर्गुणता तथा सगुणता का श्रुतिप्रतिपादिकत्व से उसका निराकरण कैसे भी नहीं कर सकते हैं। ब्रह्म का सुगणपत्व समुन्नयन तो श्रुत्यर्थपरत्याग करने पर ही सम्भव होता है।

11.1.2) सगुण ब्रह्म

निर्गुण ब्रह्म के ध्यान में असमर्थो के लिए ब्रह्म में कल्पितगुणों का संयोजित करके ब्रह्म के सगुणत्व का श्रुतियाँ प्रतिपादन करती है। इसलिए कहा भी गया है कि साधकों के हित के लिए ब्रह्म के रूप की कल्पना की गई है। सगुणब्रह्म के प्रतिपादन के प्रसङ्ग में ही ब्रह्म के जगत्कर्तृत्वादि गुणयोगों वर्णन किया गया है। कर्तृत्व होने से उसमें जगत् उपादान विषयक परोक्षज्ञान चिकीर्षा (करने की इच्छा) कृति आदि की कल्पना की गई है। निर्गुणकारणव्यतिरिक्त अद्वैत ब्रह्म जगत् का कारण न ही हो सकता है। इसलिए माया रूपी उपाधि के साथा उसके सम्बन्ध की कल्पना करके ब्रह्म का ईश्वरत्व तथा

ध्यान दें:

जगत्सर्जत्व श्रुतियों में प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार से अखिलजगद् उपादानत्व से ब्रह्म के सर्वज्ञत्व तथा सर्वव्यापित्व का वर्णन किया गया है। सम्पूर्ण जगत का उपादान होने कारण उसका जगत् के अन्दर प्रविष्टत्व तथा सर्वव्यापित्व भी सिद्ध होता है। वाणीमन तथा प्राणादि से सम्बन्ध होने के कारण उसका वाङ्मयत्व प्राणमयत्व तथा मनोमयत्व श्रुतियों में प्रतिपादित किया गया है। लेकिन कल्पितगणों के योग के कारण ही ब्रह्म सगुणत्व इस प्रकार से जाना जाता है, स्वरूपतः ब्रह्म निर्गुण तथा निर्विशेष होता है कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः, अणोरणीयान् महतो महीयान् (कठ. 1.2.20), अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेद (प्रश्न. 6.6), यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि (मु. 2.2. 7), एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् (मा. 6), सोऽकामयत, बहु स्यां प्रजायेयेति (तै. 2.6) इति यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते (तै. 3.1) इति, सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः (छा. 3.14.4), अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः (बृ. 1.5.3), मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् (श्वे. 4.10) इत्यादि हजारों श्रुतियों में ब्रह्म का सगुणत्व का भी आलोचन है।

श्रुतियों में ब्रह्म का उपदेश दो प्रकार से विधान किया गया है विधिमुख के द्वारा और निषेध मुख के द्वारा। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्यादि श्रुतियों में विधिमुख के द्वारा ब्रह्म का उपदेश है। इसी प्रकार नेह नानास्ति किञ्चित किञ्चन, अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्, अदृष्टम् अव्यवहार्यम् अग्राह्यम् इत्यादि श्रुतियों में निषेधमुख से ब्रह्म का उपदेश विहित है। वस्तुतः निषेध मुख से ब्रह्म का निर्देश ब्रह्म के गुणक्रियाजातिसम्बन्धरहितत्व उसका वाच्यत्व असम्भव होने से अधिक युक्त लगता है। इसलिए सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म इत्यादिस्थलों में सत्यादि पदों के निषेध मुख से तात्पर्य समझना चाहिए इस प्रकार से वेदान्ति कहते हैं। इसप्रकार से ब्रह्म का सत्य अर्थात् अनित्यभाव, ज्ञान अर्थात् जड् का अभाव और अनन्त अर्थात् अन्त का अभाव समझना चाहिए।

पाठगत प्रश्न 11.4

1. ब्रह्म स्वरूप से सगुण है अथवा निर्गुण?
2. सगुणत्ववादि तथा निर्गुणत्ववादि श्रुतियाँ ब्रह्म के किस अर्थ की कल्पना करती है?
3. ब्रह्म में क्रिया किस प्रकार अङ्गीकार नहीं की जाती है?
4. जगत्कर्तृरूप से प्रतिपाद्यमान ब्रह्म सगुण है अथवा निर्गुण?
5. ब्रह्म का सर्वान्तर्यामित्व किस प्रकार से है?
6. सगुण तथा निर्गुण इन दोनों में से कौन-सा ब्रह्म जानना चाहिए?
7. निषेध मुख से ब्रह्म का निर्देश किन श्रुतियों में बताया गया है?

पाठ सार

इस पाठ में ब्रह्म के लक्षण का आलोचन किया गया है तथा सगुण एवं निर्गुण भेद से ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है बृहि वृद्धौ इस वृद्ध्यर्थक बृहधातु से 'बृंहेर्नोऽच्च' इस सूत्र के द्वारा कर्ता अर्थ में मनिन् प्रत्यय करने पर ब्रह्म शब्द निष्पादित होता है। अर्थात् जो बढ़ता है वह ब्रह्म कहलाता है। इससे ब्रह्म का सर्वव्यापकत्व ज्ञान होता है जो प्रजा को बढ़ाता है वह ब्रह्म है तथा जो हर चैतन्य के अन्दर आत्मा के रूप में विद्यमान होता है वह ब्रह्म कहलाता है।

लक्षण ही लक्ष्य मात्र में विद्यमान असाधारण धर्म होता है। वह लक्षण स्वरूपलक्षण तथा तटस्थलक्षण के रूप में दो प्रकार का होता है। जो वस्तु के स्वरूप में होता हुआ अन्यवस्तु से उस वस्तु में व्यार्तक होता है वह स्वरूप लक्षण कहलाता है। जैसे मधुरत्व शक्कर का स्वरूपलक्षण होता है जितने समय तक लक्ष्य रुकता है उतने समय तक लक्ष्य में अविद्यमान होता हुआ भी वह धर्म लक्ष्य होता है तथा उससे भिन्न से व्यावर्तक होता है इस प्रकार से यह तटस्थ लक्षण कहा जाता है। जैसे गन्धवत्व पृथ्वी का तटस्थलक्षण है। क्योंकि उत्पन्न उत्पत्ति के प्रथम क्षण में पृथ्वी में गन्ध नहीं थी फिर भी गन्ध का पृथ्वी अन्यस्थानों से व्यावर्तन कर लेती है उसी प्रकार ब्रह्म के भी स्वरूपलक्षण तथा तटस्थलक्षण श्रुतियों में प्रतिपादित किये है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्यादि श्रुतियों में सत्य ज्ञान तथा आनन्द तथा अनन्तपद के द्वारा ब्रह्म का स्वरूपलक्षण कहा गया है। भले ही सत्यज्ञान आनन्द आदि ब्रह्म के स्वरूप ही है फिर भी कल्पितधर्मधर्मि भाव के द्वारा उनका लक्षणत्व सम्भव होता है। सत्य पद से स्वस्वरूपव्यभिचारिरूपार्थ, ज्ञान पद से भावप्रत्ययसिद्धि तथा नित्यज्ञानरूपार्थ और आनन्दपद से निरतिशयानन्दस्वरूपरूपार्थ अनन्तपद से सर्वव्यापकत्व रूप अर्थ अङ्गीकार किया गया है। वह ब्रह्म सजातीय तथा स्वगत विजातीय भेद रहित श्रुतियों मे प्रतिपादित किया गया है। ब्रह्म का तटस्थलक्षण ही जगत् अभिन्न निमित्त उपादान कारणत्व के रूप में तथा जन्माद्यधिकरण के रूप में प्रतिपादित किया गया है। तब आधार करके जगत की उत्पत्ति स्थिति लय कर्तृत्व युक्त इस प्रकार का ब्रह्म का लक्षण वेदान्तपरिभाषा में आलोचित किया गया है। कर्तृत्व अर्थात् वह उपादानगोचर अपरोक्षज्ञान चिकीर्षा कृत्तिमत्व के रूप वाला होता है। इसलिए उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलय के एक-एक ज्ञान की चिकीर्षा और कृति ब्रह्म में होती है। इस प्रकार से ब्रह्म के नौ तटस्थलक्षण सम्भव होते हैं निखिलजगदध्यासाधिष्ठानत्वं जगदाकारेण परिणममानमायाधिष्ठानत्वं वा ब्रह्म का अपर तटस्थलक्षण है। ब्रह्म स्वभाव से निर्गुण होता हुआ भी निर्गुणब्रह्म के ज्ञान के लिए असमर्थ मुमुक्षुओं के लिए सगुण ब्रह्म का ही उपदेश दिया गया है। सगुण ब्रह्म ही उपासना के द्वारा जाना जाता है तथा निर्गुण ब्रह्म ज्ञान के द्वारा जाना जाता है। गुणक्रियाजातिसम्बन्धरहित होने के कारण ब्रह्म का वाणी के द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जाता है। जगत्कर्तृत्वादिकल्पितगुणयोगसे सगुण ब्रह्म का प्रतिपादन सम्भव होता है। सगुण ब्रह्म ही ईश्वर तथा जगत् का कर्ता है। जो सर्वज्ञ है तथा सभी का ज्ञाता वह सगुण ब्रह्म है इस प्रकार से श्रुतियों में सगुण ब्रह्म का उपदेश दिया गया है।

श्रुतियों में विधिमुख से तथा निषेधमुख से ब्रह्म का उपदेश दिया गया है। सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म इत्यादि श्रुतियों में विधिमुख से ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। नेह नानास्ति किञ्चन, अशब्दमस्पर्शनम् इत्यादि श्रुतियों में निषेध मुख से ब्रह्म का उपदेश विहित है। इन दोनों के बीच में निषेध मुख के द्वारा ही ब्रह्म का प्रतिपादन युक्ति पूर्वक है इसलिए विधिमुख से ब्रह्म के प्रतिपादनकाल में भी सत्यपद का अनित्य अभाव होता है तथा ज्ञान पद का जड़ अभाव होता है। इस प्रकार से निषेध मुख से अर्थ की कल्पना की गई है।

आपने क्या सीखा

- ब्रह्म पद के अर्थ को जाना,
- लक्षणों के प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करो
- ब्रह्म के स्वरूप तथा लक्षण को जाना,
- ब्रह्म के लक्षण तथा स्वरूप को जाना,

- निगुण ब्रह्म के स्वरूप को जाना,
- सगुण ब्रह्म के स्वरूप को जाना,

ध्यान दें:

पाठान्त प्रश्न

1. वाचस्तपि मिश्र के द्वारा ब्रह्म पद का कौन-सा अर्थ किया है?
2. वस्तुओं का परिच्छेद कैसे सम्भव होता है?
3. आत्मपद के विषय में सुरेश्वराचार्य ने क्या कहा है?
4. नैयायिकों के मत में उत्पत्ति काल में पृथ्वी में गन्ध किस प्रकार से नहीं थी?
5. किस श्रुति में ब्रह्म की उपनिषद् मात्र से वेद्यता कही गयी है?
6. अनन्तपद ब्रह्म का किस प्रकार से व्यावर्तक होता है?
7. स्वगतादिभेदत्रय स्वरूप का प्रतिपादक पञ्चदशी का श्लोक कौन‘सा है?
8. ब्रह्म किस प्रकार से जगत् का उपादान कारण है?
9. श्रुतियों में ब्रह्म का दो प्रकार से उपदेश किया गया है वे दो प्रकार कौन-कौन से हैं?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 11.1

1. वृद्ध्यर्थकाद् बृह्धातोः ‘बृंहेर्नोऽच्च’ इति सूत्रेण कर्तरि मनिन्-प्रत्यये ब्रह्मशब्दो निष्पद्यते।
2. निरतिशय तथा वृद्धिमान् ब्रह्म होता है अथवा जो प्रजा को बढाता है वह ब्रह्म होता है।
3. सातत्य गमनार्थक धातु से सातिभ्यां मनिन्मनिणौ इति सूत्र से कर्तरि मनिन्-प्रत्यये आत्मन् करने पर ब्रह्म शब्द निष्पादित होता है।
4. जो निरन्तर भाव से चलता रहता है तथा जाग्रत आदि सभी अवस्थाओं में वह आत्मा कहलाता है। आप धातु से आ पूर्वक धा धातु से तथा अद् धातु से आत्मशब्द की निष्पत्ति होती है जो सब कुछ प्राप्त करता है अथवा सब ग्रहण करता तथा सब भक्षण करता है वह आत्म कहलाता है। इस प्रकार से आत्म के ये अर्थ सम्भव होते हैं।
5. स्वरूपत्व होने पर जिसमें व्यावर्तकत्व होता है वह स्वरूप का लक्षण होता है। इसलिए धर्मराजाध्वरीन्द्र ने कहा है कि स्वरूप ही स्वरूप का लक्षण होता है।
6. यावल्लक्ष्यकालम् अनवस्थितत्वे सति व्यावर्तकत्वं तटस्थलक्षणस्य लक्षणम्। जितने समय तक लक्ष्य रुकता है उतने समय तक लक्ष्य में अविद्यमान होता हुआ भी वह धर्म लक्ष्य होता है तथा उससे भिन्न से व्यावर्तक होता है इस प्रकार से यह तटस्थ लक्षण कहा जाता है।
7. गन्धवत्व पृथ्वी का तटस्थलक्षण है।
8. उपनिषदों के द्वारा ही ब्रह्म का स्वरूपलक्षण तथा तटस्थलक्षण जाना जाता है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 11.2

1. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्यादि।
2. लक्षण ही लक्ष्य का सभी ओर से व्यावर्तक होता है विशेषण ही विशेष्य रूप में सजातीय से व्यावर्तक होता है।
3. अरुणया पिङ्गाक्ष्या गवा एकहायन्या सोमं क्रीणाति इति।
4. जिस रुप में जो निश्चत है वह रूप यदि व्यभिचार को प्राप्त नहीं होता है तो वह सत्य कहलाता है इसप्रकार से वह अविकारी अर्थ वाला होता है।
5. ज्ञा धातु से भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने पर ज्ञानपद की यहाँ पर निष्पत्ति होती है। कारण अनन्तरनिरपेक्ष होने पर स्वरूप को जो ज्ञान होता है वह ज्ञान पदार्थ कहलाता है।
6. लौकिक आनन्द ही मात्र ब्रह्मानन्द है इस प्रकार से श्रुति प्रतिपाद्य के अविरोध से यहाँ पर अभाव का आधिक्य तथा न्यूनता सम्भव नहीं होती है।
7. सत्यपद ब्रह्म का अनृत विकारों से विवर्तन कराता है।
8. ज्ञान पद जडता से ब्रह्म का व्यावर्तक होता है।
9. ब्रह्म की गुण क्रिया जाति तथा संबंध के रहित्व होने से शब्द वाच्यता सम्भव नहीं होती है।
10. सत्यत्ववादियों का स्वयं ही स्वयं की अपेक्षा धर्मधमीभाव कल्पना के द्वारा लक्ष्यलक्षणभाव कल्पित होता है।
11. आनन्द विषयानुभव नित्यत्व होते हुए धर्म कहलाते हैं तथा चैतन्य से अपृथक् होते हुए भी पृथक् के समान भासित होते है।
12. एकपद से ब्रह्म में सजातीय भेदनिरास तथा एव पद से स्वगत भेदनिरास, अद्वितीय पद से विजातीयभेदनिरास होता है।
13. वृक्ष का उसके सजातीय वृक्षान्तर भेद से सजातीय भेद होता है।
14. अवयवीयों का अपने अवयवों के साथ भेद ही स्वगत भेद कहलाता है। जैसे वृक्ष के उसके अवयवों पत्रपुष्पादि के साथ भेद स्वगत भेद कहलाता है।
15. ब्रह्म के अतिरिक्त द्वितीय का अभाव होने के कारण ब्रह्म में सजातीय तथा विजातीय भेद नहीं होता है।
16. ब्रह्म का निरवयत्व से ब्रह्म में स्वगतभेद नहीं होता है।

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 11.3

1. जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं। जिसके द्वारा उत्पन्न हुए जीवित रहते हैं। जिसके द्वारा सभी प्रकार की क्रीडाएं करते हैं। जिसकी जानने की इच्छा करनी चाहिए। वह ब्रह्म होता है इस प्रकार से श्रुतियों ने ब्रह्म के तट लक्षण का प्रतिपादन किया है।

ध्यान दें:

2. जन्माद्यस्य यत:।

3. जगज्जन्मादिकारणत्व।

4. कारण पद ही यहाँ पर कर्तृत्व अर्थ से युक्त होता है।

5. अविद्या के जगज्जन्मादिकारणत्व होने पर जडत्व होने पर जगत्कर्तृत्व भाव से अविद्या में अतिव्याप्ति नहीं होती है।

6. कौमुदी कारों के मत में वह जगज्जन्म स्थितियों में एक एक कारणत्व भी ब्रह्म का लक्षण हो सकता है।

7. कर्तृत्व तत्तदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्व को कहते हैं।

8. निखिलजगत् उपादानत्व ब्रह्म का अपर तटस्थलक्षण है।

9. उपादानत्वं नाम जगदध्यासाधिष्ठानत्वं जगदाकारेण विपरिणममानमायाधिष्ठानत्वं वा।

10. ब्रह्म के जगद् व्यापकत्व से उसका उपादानत्व अङ्गीकार करना चाहिए। क्योंकि कारण ही कार्य में व्याप्त होता है इस नियम से।

11. ब्रह्म स्वचैतन्य प्रधानता से निमित्त तथा अज्ञानरूप उपाधि की प्रधानता से उपादान होता है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 11.4

1. ब्रह्म स्वरूप से निर्गुण होता है।

2. निर्गुण ब्रह्म प्रतिपादक श्रुतिवाक्य प्राकृत गुण रहितत्व वाले ब्रह्म का निषेध करते है तथा इस प्रकार से प्रतिपादन भी करते हैं।

3. ब्रह्म के स्वव्यापित्व से तथा निरवयवत्व से ब्रह्म में क्रिया को अङ्गीकार नहीं किया जाता है।

4. कर्तृत्वरूप गुणयोग के द्वारा ब्रह्म के प्रतिपादन से ब्रह्म सगुण कहलाता है।

5. सम्पूर्ण संसार का उपादान होने से तथा जगत् के अन्दर प्रविष्ट होने से उसका सर्वान्तर्यामित्व सिद्ध होता है।

6. निर्गुण ब्रह्म को ही जानना चाहिए।

7. नेह नानास्ति किञ्चन, अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्, यतो वाचो निवर्तन्ते इस प्रकार की श्रुतियों में निषेध मुख के द्वारा ब्रह्म के निर्देश का विधान किया गया है।

12

माया

ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है, तमेव विदित्वातिमृत्युमेति (उसको जानकर मृत्यु को पार करता है) इत्यादि वचनों से श्रुतियों में ब्रह्मज्ञान से ही सभी प्रकार की दु:खों की निवृत्तिरूप मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है। श्रुतियों में बार बार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिवाक्यों के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। 'आत्मा वारे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' (श्रवण मनन निदिध्यासन के द्वार आत्मा को देखना चाहिए) इस प्रकार की श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म लाभ के उपाय प्रतिपादित किये गये हैं। इसलिये ब्रह्म के स्वरूप के विषय में ही आलोचन उपयुक्त होता है तो फिर कहते है की माया के विषय में आलोचन क्यों किया जाए, यह प्रश्न स्वभाविक रूप से उत्पन्न होता है। अद्वैतवेदान्त में ब्रह्म ही निर्गुण निर्विशेष नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला एक तथा अद्वितीय होता है। जगत् के जड होने के कारण ब्रह्म के अतिरिक्त द्वितीय के अभाव से किस प्रकार से निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होती है यह प्रश्न जिज्ञासुओं के मन में उत्पन्न होता है। इसलिए अद्वैतवेदान्त में जगत् के उपादान के स्वरूप में माया को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार से माया श्रुति तथा स्मृति के द्वारा सिद्ध है। "योऽस्माकमविद्याया: परं पारं तारयसीति" (जो हमें अविद्या से पार तारती है), "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (माया को प्रकृति समझना चाहिए तथा मायापति को महेश्वर), "इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते" (इन्द्र माया के द्वार पुरुष रूप में देखा जाता है) इत्यादि श्रुतियों में "मम माया दुरत्यया" (मेरी माया को समझना कठिनतम है), "नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमाया समावृत:" (योगरूप माया ढका हुआ होने के कारण में सभी का प्रकाश नहीं हूँ), "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव" (अज्ञान के कारण ज्ञान ढका हुआ है जिससे जन्तु मोहित हो जाते हैं) इस प्रकार से श्रीमद्भागवद् के वचनों में माया के सत्त्व तथा माया युक्त ईश्वर का ही जगत् के कर्तृत्व रूप में वर्णन है।

बद्धजीव माया से निर्मित इस प्रपञ्च में अन्त: करण देह इन्द्रियों के द्वारा एक का अनुभव करता हुआ स्वयं कर्ता तथा भोक्ता होता है और सुखदु:ख का अनुभव करता है। जीव स्वरूप से तो ब्रह्म के समान ही होता है। माया के कारण ही उसका स्वरूप अपरोक्ष नहीं होता है। श्रवणमनन निदिध्यासन के द्वारा अखण्डाकार चित्त की वृत्ति के उदय से माया की निवृत्ति होने के कारण जीव स्वयं के स्वरूप का ज्ञान करता है तथा स्वयं के द्वारा सभी प्रकार के बन्धनों से छूट जाता है। लेकिन जब तक निवृत्त करने वाली माया के स्वरूप को जानता है तब तक ही उसका निवृत्ति रूप उपाय वाल ज्ञान सम्भव होता है। इसलिए माया का भी लक्षण प्रमाणों के द्वारा प्रतिपादन अद्वैत शास्त्रों में दिखाई देता है। इस पाठ में माया का लक्षण प्रमाणों के द्वारा तथा उसके विषय में अन्य विचारों का भी उपस्थापन किया जा रहा है।

पाठ-12

माया

ध्यान दें:

उद्देश्य

इस पाठ को पढ़कर के आप सक्षम होंगे;

- अद्वैत वेदान्त में माया के आलोचन की आवश्यकता को समझ पाने में;
- माया के शब्दार्थ को जानने में;
- तत्वप्रदीपिका में कहे गये माया के लक्षण को समझ पाने में;
- माया का अनादित्व भावरूपत्व तथा ज्ञान निवृति का विचार कर पाने में;
- माया के अन्यलक्षण को जान पाने में;
- माया का त्रिगुणत्मकत्व तथा अनिर्वचनीयत्व विषय को समझने में;
- माया के सत्त्व होने के क्या-क्या प्रमाण हैं को जान पाने में;
- माया तथा अविद्या भिन्न है अथवा अभिन्न इस विषय को जान पाने में;
- माया एक है अथवा अनेक इस विषय को जान पाने में;
- माया का क्या आश्रय है तथा माया का कौन-सा विषय है को जान पाने में;
- माया किस प्रकार से जगत् का उपादानत्व है इस विषय को जानने में;

12.1) मायाशब्दार्थ

मा माने धातु से 'माछाससिभ्यो य:' इस सूत्र से य प्रत्यय करने पर माय इस प्रकार स्थिति होने पर यह माया शब्द सिद्ध होता है। मीयते अपरोक्षवत् प्रदर्श्यते अनया इति माया, माति विश्वं यस्याम् इति माया, मीयते अनया संसार इति माया, मीयते निर्मीयते जगत् यया सा माया, मीयते ज्ञायते आत्मनि अध्यस्तं जगत् यया सा माया इत्यादय: (अपरोक्ष रूप से जिसके द्वारा यह संसार मापा जाता है, जो इस संसार को मापती है तथा बनाती है तथा जिसके द्वारा यह संसार मापा जाता है तथा बनाया जाता है और जिसके द्वारा यह आत्मा में इस जगत् का ज्ञान होता है वह माया कहलाती है। इस प्रकार से हम माया शब्द की व्युत्पत्ति का आश्रय लेकर के माया शब्द के अर्थ का प्रतिपादन कर सकते हैं। श्रुति तथा स्मृतियों में माया अज्ञान, अविद्या, प्रकृति, मिथ्याज्ञान, अव्यक्त, अव्याकृत, महासुषुप्ति, तथा अक्षर इत्यादि शब्दों के द्वारा जानी जाती है।

12.2) मायालक्षण

माया के लक्षण को विचारते समय चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में कहा है

अनादिभावरूपं यद्विज्ञानेन प्रलीयते।
तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं सम्प्रचक्षते।। इति।

मधुसूनसरस्वती ने अद्वैत सिद्धि ग्रन्थ में चित्सुखाचार्य के द्वारा कहे गये माया के लक्षण को आधार मानकर के यह माया का लक्षण किया है- अनादिभावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम् इति। अर्थात् उन्होंने ने कहा है कि- यह अविद्या क्या है जो अनादिभावरूपत्व होने पर ज्ञान का निवर्त्य करवाती है वह अविद्या है।

ध्यान दें:

12.3) लक्षणस्थ पदों का सार्थक्य

परवर्ती ज्ञान के उदय होने पर पूर्ववर्ती ज्ञान का विनाश होता है। पूर्ववर्ती ज्ञान भाव रूप में होता है तथा उससे उत्तरवर्ती ज्ञान उसके नाश के रूप में होता है। लक्षण में अनादि शब्द उपादान होने से भावरूप में पूर्वोत्पन्नज्ञान में उसके अनादित्व होने से अतिव्याप्ति नहीं होती है। पूर्व ज्ञान के अभाव में अतिव्याप्ति के वारण के लिए यह पद भाव रूप में कहा गया है। नहीं तो पूर्व ज्ञान के अनादित्व होने से ज्ञाननिवर्त्यत्व में माया लक्षण की अतिव्याप्त होती है। लक्षण में ज्ञाननिवर्त्यत्वपद उपदान के द्वारा अनादि भावरूप आत्मा में माया के लक्षण पदों की आत्मा का ज्ञाननिवर्त्यत्वाभाव होने से अतिव्याप्ति नहीं होती है।

अब जो पदार्थ अनादि तथा भाव रूप होते हैं, उनका किस प्रकार से निवर्त्यत्व हो। क्योंकि अनादि भावरूपत्व आत्मा का बाध्यत्व अद्वैत वकदान्तियों के द्वारा नहीं होता है। इस प्रकार से अविद्या का भी अनादित्व से तथा भावरूपत्व से निवर्त्यत्व नहीं होता है। इसलिए यहाँ पर अद्वैत वेदान्तियों के द्वारा कहा गया है कि अनादि तथा भावपदार्थ तो उसके भाव नहीं होते हैं इस प्रकार से अनादित्व तथा भाव रूपत्व के द्वारा बाधा के अभाव का सहचार नियम नहीं होता है। काले घट के पकने से लालवर्ण की उत्पत्तिहोने पर पृथ्वी में परमाणुगत अनादि भावरूप श्यमावर्ण का नाश तो पूर्वपक्ष के द्वारा भी साक्षात् देखा ही जाता है। इसलिए अनादिभावरूपत्व भी माया का ज्ञान निवर्त्यत्व होता है।

12.4) अविद्या का अनादित्वविचार

अविद्या ही अनादि है। अनादि से तात्पर्य है जिसका आदि नहीं हो तथा जो उत्पत्ति रहित हो। वह विद्या भले ही ब्रह्म में आरोपित है फिर भी प्रथम आरोप के दुर्निरुप्यत्व से उसका अनादित्व सिद्ध होता है। अविद्या के अनादित्व के विषय मे श्रुतियों में प्रमाण है कि अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णामिति। अर्थात् एक अजा (माया) होती है जो लोहित तथा शुक्लवर्ण से युक्त होती है। अद्वैत वेदान्त में प्रसिद्ध अनादि षटक में अविद्या को परिगणित किया गया है।। और चित्सुखाचार्य के द्वारा तत्वप्रदीपिका ग्रन्थ में कहा भी गया है की-

जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योग: षडस्माकमनादय:।। इति।

अब कहते हैं कि ब्रह्मस्वरूप का आवरक अज्ञान को यदि अनादि माने तो शुक्ति तथा रजत के भ्रमस्थल मे शुक्ति का आवरक अज्ञान तो अनादि नहीं है। क्योकि शुक्ति तो उत्पन्न होती है तो शकत्यवचछिन्न चैतन्य आवरक अज्ञान भी उत्पन्न होता है इसलिए शुक्ति के सत्त्व होने पर ही उसकी स्थिति होती है शुक्ति के असत्त्व होने पर तो उसका अभाव ही होता है। अद्वैत वेदान्त में मूल अविद्या तथा तूल अविद्या इस प्रकार की दो अविद्या स्वीकार की गई है। मूल अविद्या है ब्रह्माश्रित जगत का कारण तथा ब्रह्म स्वरूप की आच्छादिका होती है। और शुक्ति आदि में परिच्छिन्न भ्रमरजाति हेतु वाली अविद्या तूल अविद्या कहलाती है। तूल अविद्या का भी सादित्व हमेशा अङ्गीकार करना चाहिए। इस प्रकार से अविद्या का अनादित्व स्वीकार करने पर तूल अविद्या में अव्याप्ति होती है। यहाँ पर अद्वैत वेदान्त में कहा गया है कि शुक्ति ही शुद्ध चैतन्य में अद्यस्ता है। तथा रजत की उपादान भूता शक्ति अवच्छिन्न अविद्या ही अनादि चैतन्य के आश्रित हैं। इसलिए वह भी अदादि। अत: वेदान्त परिभाषा में कहा गया है कि अविद्या सभी प्रकार के कार्य की भी स्वोपादानाविद्याधिष्टानाश्रितत्व नियम से होती है। उत्पन्न शुक्ति अज्ञान की अवच्छेदिका है न कि अज्ञान का विषय। इस प्रकार जड़ अज्ञान का विषय तथा आश्रय नहीं होता है। जैस आकाश का अवच्छेदक घटपटादि में भी घटान्तवर्ती आकाश घटाकाश पटान्तवर्ती आकाश

पटाकाश कहलाता है। उसी प्रकार अज्ञान की अवच्छेदिका शुक्ति तथा शुक्ति अवच्छिन्न अज्ञान ही शुक्त्यज्ञान कहलाता है। लेकिन अज्ञान शुक्ति में आश्रित नहीं है अपितु अज्ञान का आश्रय ही शुद्ध चैतन्य होता है। इसलिए शुक्तिरूप कल्पित उपाधिकरण से ही मूलाविद्या तथा तूलाविद्या का भेद कल्पित होता है। कल्पित भेद को अङ्गीकार करके तूलाविद्या का सादित्वप्रतिपादन नहीं होता है। इसलिए तूलाविद्या अनादि होती है न कि व्याप्ति का लक्षण।

पाठगत प्रश्न 12.1

ध्यान दें:

1. जगत् के उपादानत्व में माया को किस प्रकार से अङ्गीकार किया गया है?
2. माया की सिद्धि में किन श्रुतियों का प्रमाण है?
3. माया के पर्यायवाची शब्द कौन-कौन से हैं?
4. माया की सिद्धि में किन स्मृतियों का प्रमाण है?
5. माया पद की व्युत्पत्ति क्या है?
6. अनादिभावत्वरूप होने पर ज्ञान निवर्त्यत्व होता है इस लक्षण में अनादि पद किस लिए जोड़ा गया है?
7. चित्सुखाचार्य द्वारा प्रतिपादित माया का लक्षण क्या है?
8. चित्सुखाचार्य के द्वारा कहे गये लक्षण में भावरूप पद का क्या अभिप्राय है?
9. अद्वैत वेदान्त सम्मत छः अनादि कौन-कौन से हैं?
10. मूलाविद्या तथा तूला विद्या क्या होती है?
11. शुक्ति अज्ञान का विषय किस प्रकार से नहीं होता है।

12.5) अविद्या का भावरूपत्व

अविद्या के भावरूपत्व से तात्पर्य अभावविलक्षणत्वमात्र ही है। न की अविद्या विद्या के अभाव को कहते है। अविद्या के भावरूपत्व होने पर भावरूप जगत का उपादान अविद्या नहीं होती है। इस प्रकार अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती है ऐसा आचार्य शङ्कर ने बार बार प्रतिपादित किया है। इसलिए अविद्या की भाव रूपता अङ्गीकार नहीं कर सकते हैं। अज्ञान के अभावत्व का प्रतिपादन करते हुए पूर्वपक्षी के द्वारा यह प्रश्न किया गया है की अज्ञान घटपटादि विशेष ज्ञान का अभाव होता है अथवा ज्ञानमात्र का अभाव होता है। तब कहते हैं की अज्ञान घटादि विशेष ज्ञान का अभाव नहीं है। क्योंकि जैसे मै मूढ हूँ तथा कुछ भी नहीं जानता हूँ इत्यादि स्थलों में भी विशेषविषयरहित अज्ञान का भी अनुभव होता है। तथा अज्ञान मात्र के अभाव को भी नहीं कहते हैं क्योंकि अभाव के लिए धर्मी तथा प्रतियोगी को ज्ञान की अपेक्षा होती है। इसलिए धर्मीप्रतियोगी ज्ञान के विद्यमानत्व से ज्ञानमात्र का अभाव कभी भी सम्भव नहीं होता है। 'माया को प्रकृति जानना चाहिए' इस प्रकार की श्रुतियों में माया के जगत् उपादानत्व कथन से माया का अभाव रूपत्व श्रुतियों के द्वारा सिद्ध नहीं होता है। इस प्रकार से फिर अविद्या की भावरूपता को भी अङ्गीकार नहीं कर सकते है। अविद्या का भावरूपत्व होने के कारण वह (भावरूपत्व) जगत् में विद्यमान अभाव पदार्थों का उपादान नहीं होता है। इसलिए अविद्या का भाव तथा अभाव दोनों लक्षण विलक्षण होते हैं अतः भाव तथा अभाव दोनों के द्वारा अनिर्वचनीयत्व अविद्या की सिद्धि होती है।

ध्यान दें:

12.6) अविद्या का ज्ञाननिवर्त्यत्व

न विद्या अविद्या, जो विद्या नहीं है वह अविद्या है यहाँ पर विद्या का अत्यन्ताभाव नहीं है अपितु अन्योन्याभाव है। यहाँ पर नञ् समास का विरोधित्व अर्थ है। इसलिए विद्या की विरोधिनी तथा विद्या की निवर्त्या अविद्या कहलाती है। तब प्रश्न करते है कि सोपाधिक भ्रम स्थलों में तथा रक्त स्फटिकादि में भी ज्ञानोदय होने पर भ्रम की निवृत्ति के अभाव से तथा ब्रह्मज्ञान के जीवन मुक्त दशा में जगत् के विज्ञान से अविद्या का ज्ञाननिवर्त्यत्व नहीं होता है। यहाँ पर उत्तर देते हुए कहते हैं कि रक्तस्फटिक स्थलों में जपाकुसुमरूप की उपाधि के प्रतिबन्धक रूप विद्यमान होने से जीवनमुक्तदशा में प्रारब्धकर्म प्रतिबन्धक के रूप में सत्व होने से विलम्ब पूर्वक स्वच्छ स्फटिक आज्ञा की तथा ब्रह्मविषयक अज्ञान की निवृत्ति होती है। लेकिन प्रतिबन्धक कारण से विलम्ब के सत्य होने अज्ञान का ज्ञान निवर्त्यत्व नहीं होता है इस प्रकार की कोई अनुपपत्ति होती है। अविद्या का ज्ञान निवर्त्यत्व होने पर तरति शोकमात्मवित्, तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति इस प्रकार से श्रुतियों में कहा गया है "ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः। तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्। इस प्रकार स्मृतियों में प्रमाण है, इसलिए अनादि सत्व होने पर तथा भावरूपत्व होने पर ज्ञान का निवर्त्यत्व होता है यह अज्ञान का निर्दुष्ट लक्षण है।

अविद्या लक्षण में ज्ञान निवर्त्यपद का साज्ञात ज्ञाननिवर्त्यत्व अर्थ होता है। उसके द्वारा अविद्या ही लक्षित होती है, तथा ज्ञान साक्षात् अज्ञान का निवर्तक होता है। इसलिए अविद्या का लक्षणान्तर होता है ज्ञानत्व के द्वारा ज्ञाननिवर्त्यत्व होना। पूर्वज्ञान का उत्तर ज्ञान के द्वारा निवृतत्व होने से पूर्वज्ञाने लक्षण की अतिव्याप्ति हो तो ऐसा भी नहीं है क्योंकि उत्तरज्ञान के विरोधित्वगुणत्व के द्वारा पूर्वज्ञान का ज्ञाननिवर्त्यत्व होता है न की ज्ञानत्व के द्वारा। यहाँ पर लक्षण में अनादित्व तथा भावत्व की अपेक्षा नहीं है इसलिए मधुसूदनसरस्वती के मत मे यह लक्षणान्तर कहलाता है।

12.7) माया का दूसरा लक्षण

माया का दूसरा लक्षण तो भ्रमोपादनत्व होता है। भ्रम का उपादान ही माया होता है। लेकिन भ्रम का उपादान ब्रह्म भी होता है। अखिलप्रपञ्च का विवर्तोपादानकारण ब्रह्म ही होता है। इसलिए यहाँ पर लक्षण में परिणामित्वेन अचेतनत्वेन (परिणामित्व से तथा अचेतनत्व से) ये दोनों पद भी जोड़ना चाहिए। उस अचेतनज्व के द्वारा भ्रमोपादनत्व होता है तथा परिणामित्व के द्वारा भ्रमोपादनत्व होता है यह माया का लक्षण है। ब्रह्म भ्रम का उपादान होता है परन्तु अचेतन परिणामी नहीं होता है।

निश्चित रूप से अज्ञान ही भाव विलक्षण होता है तथा अभाव विलक्षण पूर्व में प्रतिपादित किया जा चुका है। शुक्ति रजत रूप भ्रम भी भावविलक्षण तथा अनिर्वचनीय होता है। इसलिए अज्ञान का उपादानत्व तथा भ्रम उपादेयत्व नहीं हो, भाव का ही उपादानत्व तथा उपादेयत्व होता है। यहाँ पर कहते हैं कि उपादानत्व के प्रति तथा उपादेयत्व के प्रति भावत्व हेतु नहीं होता है, लेकिन कार्य में जो कारण अन्वित होता है उसका उपादानत्व होता है, जो सादि है तथा उसका उपादेयत्व सिद्ध होता है। जिस प्रकार से घटकार्य में मृत्तिका अन्वित होकर रुकती है इसलिए मिट्टी घट का उपादान है तथा घट आदि है इसलिए घट उपादेय है। यहाँ पर भाव पदार्थ ही उपादान तथा उपादेय होता है तो ऐसा नियम भी नहीं है। क्योंकि ब्रह्म भाव पदार्थ भी किसी का परिणामी उपादानकारण तथा उपादेय होता है।

निश्चितरूप से जब शुक्ति में शुक्ति का ज्ञान होता है तब शुक्ति विषयक अज्ञान का निवारण होता है, वह अज्ञान भ्रम उत्तपन्न करने वाला नहीं होता है। इसलिए उसके भ्रमोत्पादन के अभाव से लक्षण की वहाँ पर अव्याप्ति नहीं होती है। फलोपधायकत्व से तथा स्वरूपयोग्यत्व से कारण दो प्रकार का होता है। जिस प्रकार से घट की उत्पत्ति में घट बनाने की जगह पर विद्यमान दण्ड कार्य का जनक होता है

ध्यान दें:

इसलिए वह फलोपधायक कहलाता है। लेकिन जंगल में विद्यमान दण्ड भी घटनिर्माण के कारण में समर्थ है, इसलिए जंगल में विद्यमान दण्ड में योग्यता तो है ही। इसी प्रकार प्रकृत शुक्ति ज्ञान के द्वारा निवृत्त अज्ञान का भ्रमजनकत्व अभाव होने पर भी उसमें भ्रमोत्पान की योग्यता तो होती ही है। इसलिए वहाँ पर भी अचेतनत्व तथा भ्रमोत्पादन लक्षण साथ में ही चलते हैं जिससे यहाँ पर अव्याप्ति नहीं होती है। इस प्रकार से अचेतनत्व परिणामित्व के द्वारा भ्रमोत्पादनत्व यह निर्दिष्ट माया का लक्षण सिद्ध होता है।

पाठगत प्रश्न 12.2

1. अविद्या के भावरूपत्व का तात्पर्य क्या होता है?
2. अविद्या पद से विद्या का अभाव वाला अर्थ यहाँ पर क्यों नहीं ग्रहण किया गया है?
3. वस्तुगत अविद्या का भावरूपत्व होता है अथवा अभावरूपत्व?
4. अविद्या यहाँ पर नञ् समास का क्या अर्थ है?
5. अविद्या के ज्ञाननिवर्त्यत्व में श्रुतियों का क्या प्रमाण है।
6. अविद्या के ज्ञाननिवर्त्यत्व पद का क्या तात्पर्य है।
7. ज्ञान किस रूप के द्वारा अज्ञान का निवर्तक होता है।
8. माया का अपर लक्षण क्या है?
9. भ्रमोत्पादनत्वम् इस प्रकार से माया के लक्षण को करने पर यहाँ पर किस प्रकार से अतिव्याप्ति होती है तथा किस प्रकार से उसका निवारण होता है?
10. शुक्ति में शुक्ति के ज्ञान के समय शुक्ति विषयक अज्ञान किस प्रकार से भ्रमोत्पादकत्व होता है?

वेदान्तसार के रचयिता सदानन्दयोगीन्द्र के द्वारा सभी आचार्यों के लक्षणों को मिलाकर के अज्ञान का लक्षण इस प्रकार से अपने ग्रन्थ में लिखा है - अज्ञानं तु सदसद्भ्याम् अनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चित् इति।

इस प्रकार से ज्ञानविरोधित्व तथा भावरूपत्व पूर्व में आलोचित कर दिये गये हैं। सत् तथा असत् के द्वारा अनिर्वचनीयत्व तथा त्रिगुणात्वकत्वों का अभी विचार किया जाएगा।

12.8) अविद्या अनिवर्चनीय है

अज्ञान सत् नहीं होता है। कालत्रय का बाधक ही सत् कहलाता है। जिस प्रकार से घटज्ञान के बाद घटविषयक अज्ञान बाधित होता है उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान के बाद ब्रह्म विषयक अज्ञान बाधित होता है। इस प्रकार से अज्ञान असत् नहीं होता है। असत् तो सर्वथा अभाव को कहते हैं जैसे खरगोश के सींग। लेकिन में अज्ञानी हूँ, इस प्रकार से अज्ञान की अपरोक्षप्रतीति होती है, इसलिए अज्ञान असत् नहीं होता है। मिथ्या का कभी भी किसी भी अधिकरण मे ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि कोई भी कहीं भी खरगोश के सींग का साक्षात्कार नहीं करता है। इसी प्रकार से अज्ञान भी सत् तथा असत् दोनों प्रकार का नहीं होता है। एक ही धर्म अज्ञान के सत् तथा असत् होने पर दो विरूद्ध धर्मों की स्थिति सम्भव नहीं होती है। इसलिए अज्ञान न तो सत् है और नहीं असत् तथा न सत् तथा असत् दोनों प्रकार का लेकिन वह सत् तथा असत् के द्वारा अनिर्वचनीयत्व है। इसलिए अनिर्वचनीय के लक्षण में कहा गया है।

ध्यान दें:

प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं च यत्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवादिनः।। इति।

(प्रत्येक सद् असद् के द्वार जो विचार पदवी होती है उसे वेदान्तवादी अनिर्वचनीय कहते हैं)

विवेकचूडामणी में भगवान् शङ्काराचार्य ने कहा है कि-

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महाद्भूतानिर्वचनीयरूपा।। इति।

(वह सद् भी है असद् के रूप में, दोनों प्रकार है, भिन्न तथा अभिन्न के रूप में दोनों प्रकार की है साङ्ग तथा अनाङ्ग के रूप में दोनों प्रकार की है इस प्रकार से वह माया महान् भूतस्वरूपा अनिर्वचनीया होती है)

12.9) अविद्याया/त्रिगुणात्मक त्रिवृत्तकरण

वह माया तीन प्रकार की होती है। तथा वे लोहितशुक्लकृष्णादि गुण श्रुतियों में प्रतिपादित किये गये है। माया के कार्य तेज, जल तथा पृथ्वी में त्रिवृत्तकरण से समुत्पन्नों में तथा स्थलभूतों में इन तीनों गुणों के सत्व होने उनकी कारणभूत माया भी त्रिगणात्मिका होती है यह सिद्ध होता है। इसलिए वेद में कहा गया है की-

यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य इति।

तीन गुण सत्व, रज तथा तम होते हैं। उसी प्रकार माया का भी त्रिगुणात्मकत्व श्रुतियों में तथा भगवद्गीता में प्रतिपादित किया गया है। जैसे अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम् इति इस प्रकार से श्रुतियों में लोहितशुक्ल तथा कृष्णपद के द्वारा सत्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों का निर्देश विहित है। और भगवद्गीता में सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः, दैवी ह्येषा गुणमयी, प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः, प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः, य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह। इस प्रकार के माया के त्रिगुणात्वकत्व का प्रतिपादन करने वाले वचन सुलभ होते हैं। अज्ञान का कारण त्रिगुणात्मकत्व होने से अज्ञान से समुत्पन्न जगत् भी त्रिगुणात्मक होता है। इसलिए गुणत्रयात्मकत्व तथा माया की अभाव रूपता साथ में नहीं चलती है। भाव पदार्थ के ही गुण होते हैं, न की अभाव के, इसलिए वह माया शृङ्गग्राहिकन्याय से इस प्रकार से प्रदर्शन कर सकती है। इसलिए माया को यहाँ पर विशेष दिया गया है।

12.10) माया की सिद्धि में प्रमाण

माया की सिद्धि में बहुत सारे प्रमाण है, जिस प्रकार से मैं अज्ञ हूँ, तुझको/मुझको या किसी और को नहीं जानता हूँ, मुझ में ज्ञान नहीं है, तुम्हारे द्वारा कहे गये अर्थ को नहीं जानता हूँ। इस प्रकार के अनुभव अविद्या के सत्व में प्रमाण होते हैं। विवरणकार इन उदाहरणों के द्वारा अविद्या के भावरूपत्व की भी प्रतिष्ठापना करते हैं। मैंने सुख पूर्वक शयन किया तथा उस समय का मुझे कुछ भी पता नहीं है। इस प्रकार के सुषुप्ति कालीन अनुभव भी अविद्या के प्रमाण होते हैं। इसी प्रकार मैं अज्ञ हूँ इस प्रकार से कहने पर हम अज्ञान की अभाव रूपता को कह सकते हैं। जैसे में सुखी हूँ इत्यादि में सुख का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। उसी प्रकार मैं अज्ञ हूँ ऐसा कहने पर भी इसे अज्ञान की अभावरूपता नहीं कह सकते हैं। जैसे मैं सुखी हूँ इत्यादि में सुख का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। वैसे ही मैं अज्ञ हूँ इत्यादि में भी अज्ञान के प्रत्यक्ष होने से उसका भावरूपत्व ही अङ्गीकार किया जाता है। भले ही अद्वैत वेदान्तियों के शास्त्र में अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता है। अपितु अभाव अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा ज्ञात होता है।

1. भावरूप ज्ञान की सिद्धि के लिए अनुमान को प्रमाण के रूप में इस प्रकार से उपस्थापित किया जाता है। विवादगोचरापन्न प्रमाणज्ञान कहलाते हैं। ये स्वप्रागभावव्यतिरिक्त- स्वविषयावरण- स्वनिवर्त्य- स्वदेशगत-वस्त्वन्तरपूर्वकं होने योग्य है। अप्रकाशितार्थ के प्रकाशकत्व से अन्धकार में प्रथम उत्पन्न प्रदीप आदि के प्रभाव से, इस प्रकार अनुमान किये जाते हैं। इस ज्ञान से समानाश्रयविषय भावरूप अज्ञान की सिद्धि होती है।

ध्यान दें:

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्, मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्, तरत्यविद्यां वितताम्, तम आसीत् तमसा गूढम्, अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम् बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः (देवात्मशक्ति अपने गुणों के द्वारा निगूढ़ है, माया को प्रकृति जानना चाहिए तथा मायापति को महेश्वर, ज्ञानवान अविद्या से तर जाते है, वह तम गूढ़ था, इस लोहितशुक्लकृष्ण अजा के द्वारा बहुत सारी प्रजा की सृष्टि हुई है, इस प्रकार से श्रुतियों के द्वारा माया के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

अज्ञान की सिद्धि में दृष्टार्थापत्ति प्रमाण होता है। ब्रह्म में आरोपित मिथ्याभूत अहङ्कार का शुक्ति का में मिथ्याभूत रजत का मिथ्याभूत किसी उपादान की कल्पना करनी चाहिए। यदि उपादान सत्य है तो कार्य के भी सत्य होने से कार्य का बाध नहीं होता है। इस मिथ्याभूत उपादान के सादित्व में इस के भी किसी उपादान की कल्पना करनी चाहिए। इसलिए मिथ्याभूत यह उपादान अनादि है इस प्रकार से कल्पना करनी चाहिए। इसलिए जो अनादि स्वयं मिथ्या मिथ्याभूतकार्योपादान तथा आत्मसंबंधी उस ज्ञान की कल्पना की जाती है। भले ही उस प्रकार के कारण के बिना मिथ्या अध्यास नहीं होता है। अज्ञान के उपादानत्व से उसके भावरूपत्व की सिद्धि होती है।

अज्ञानसिद्धि में श्रुतार्थापत्ति प्रमाण है। इसलिए आत्मवान् शोक को तर जाता है, इस प्रकार की श्रुतियों में आत्मज्ञानिवर्त्य बन्धहेतुयुक्त शोकोपलक्षित अज्ञान का अस्तित्व ख्यापित होता है। अज्ञानरूप निवर्त्य की सिद्धि के बिना अज्ञान की निवृत्ति का निरूपण नहीं कर सकते है। इसलिए यहाँ पर अज्ञान निर्विवाद सिद्ध होता है।

पाठगत प्रश्ना 12.3

1. वेदान्तसार कृत अज्ञान का लक्षण क्या है?
2. अज्ञान किस प्रकार से सत् होता है तथा किस प्रकार से असत् होता है?
3. अज्ञान का अनिर्वचनीयत्व किस प्रकार होता है?
4. अविद्या में विद्यमान गुणत्रय कौन-कौन से होते हैं?
5. माया में प्रत्यक्ष प्रमाण किस प्रकार से होता है?
6. माया की सिद्धि में अनुमान किस प्रकार से होता है?
7. माया कि सिद्धि में प्रमाणभूत श्रुतियाँ कौन-कौन सी है?
8. अज्ञान की सिद्धि मे दृष्टार्थापत्ति क्या है?
9. अज्ञान की सिद्धि में श्रुतार्थापत्ति क्या है?

ध्यान दें:

12.11) माया तथा अविद्या में भिन्नत्व होता है अथवा अभिन्नत्व

किन्हीं के मत में माया तथा अविद्या ये दोनों समानार्थक शब्द है। शङ्करभगवत्पाद के द्वारा माया तथा अविद्या के पर्यायत्व से ही प्रयोग विहित होता है। इसलिए ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद के तीसरे तदधीनत्वादर्थवत् इस सूत्र में भगत्पादशंकराचार्य के द्वारा लिखा गया है "अविद्यात्मिका हि सा बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः... तदेतदव्यक्तं...क्वचिन्मायेति सूचितम् मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् इति मन्त्रवर्णात्, अव्यक्ता हि सा माया, तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्याशक्यत्वात"

(अविद्यात्मिका वह बीजशक्ति अव्यक्त से निर्देश्य परमेश्वराश्रय मायामयी महासुषुप्ति होती है, वह अव्यक्त माया रूप में सूचित होती है। माय को प्रकृति जानना चाहिए तथा माया पति को महेश्वर, इस प्रकार के मन्त्रों के वर्णो से तत्वान्यत्वनिरूपण के अशक्यत्व से वह अव्यक्त ही माया है)

भगवद्गीता में पञ्चम अध्याय के चौदहवें मन्त्र की व्याख्या के अवसर पर शंकराचार्य जी ने कहा है कि स्वभावस्तु स्वो भावः स्वभावः अविद्यालक्षणा प्रकृतिः माया प्रवर्तते 'दैवी हि' (भ. गी. 7। 14)। लेकिन उत्तरवर्ती अद्वैत् वादियों के द्वारा माया तथा अविद्या में भिन्न परिभाषा के द्वारा व्यवहार विहित है।

इसलिए किन्हीं के मत में तो सभी भूतों की प्रकृति ब्रह्माश्रित माया ही है। वह एक ईश्वर की उपाधि है। अविद्या के द्वारा परिच्छिन्न अनन्त जीव की उपाधि होती है। इसलिए माया तथा अविद्या भिन्न भिन्न होती है। तत्वविवेक के प्रकरण में विद्यारण्यस्वामी ने भी माया तथा अविद्या के भेद का प्रतिपादन किया है। उनके मत में रज तथा तम भूत शुद्धतत्वप्रधान वाली को माया कहा गया है। तथा रज एवं तम के द्वारा जो मलिनसत्त्वप्रधाना है वह अविद्या है। माया में चैतन्य का प्रतिबिम्ब ही ईश्वर है, अविद्या में चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है, इस प्रकार से उनका मत है। इसलिए उनके द्वारा कहा भी गया है सत्वशुद्धि तथा अविशुद्धि ये गुण वाली माया तथा अविद्या होती है। कहीं पर तो माया तथा अविद्या में भेद ही प्रतिपादित किया गया है कि मूलप्रकृति एक ही होती है वह ही विक्षेप शक्ति के प्राधान्य से माया इस प्रकार से कहलाती है तथा आवरणशक्ति के प्राधान्य से अविद्या कहलाती है। माया ईश्वर की उपाधि होती है तथा अविद्या जीव की उपाधि होती है। आवरण के कारण ही जीव का मैं अज्ञ हूँ इस प्रकार को अनुभव होता है। न की ईश्वर को।

12.12) माया का एकत्व तथा नानात्वविचार

ब्रह्मसूत्र के शाङ्करभाष्य पर वाचस्पतिमिश्र की भामती टीका प्रसिद्ध है। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य पर पद्मपादाचार्य की पञ्चपरिका टीक तथा उस टीका का विवरणाख्य आख्यान प्रकाशात्मयति के द्वारा प्रकाशित किया गया है। भामतीकार माया का अनेकत्व स्वीकार करते हैं। तथा विवरणकार प्रकाशात्मयति तो माया का एकत्व अङ्गीकार करते हैं।

भामतीकार के मत में तो वह अविद्या एक नहीं होती है जो प्रतिजीव में भिन्न-भिन्न होती है। इसलिए एकबद्ध जीव की अविद्या की निवृत्ति में सभी का मोक्ष सम्भव नहीं है। इसलिए वाक्यन्वयाधिकरण भाष्य के विचारकाल में कहा गया है कि- यथा हि बिम्बस्य मणिकृपाणादयो गुहा एवं ब्रह्मणोऽपि प्रतिजीवं भिन्ना अविद्या गुहा इति। अविद्या बहुत्व के कारण इन्द्रमायायी के द्वारा पुरु के रूप में देखा जाता है, इस प्रकार से श्रुतियों में सिद्ध भी है।

ध्यान दें:

विवरणकार के मत में तो मूल अविद्या एक ही होती है। इसलिए शास्त्रों अविद्या का एकत्व कहा गया है- अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्, मायां तु प्रकृतिं विद्यात् इत्यादि श्रुतियों में। इन्द्र मायाओं के द्वारा इस प्रकार की श्रुतियों में माया में बहुवचन को माया में स्थित शक्ति बहुत्व की दृष्टि से समझना चाहिए। शुक्तिरजतादि उपादानभूत अज्ञान शुक्त्यादि ज्ञान के द्वारा निवर्तित होते हैं। मूल अविद्या का एकत्व होने पर भी बद्धमुक्त व्यवस्था प्रत्येक जीव की अविद्या के अवस्था भेद को अङ्गीकार करके भी निरन्तर रूप से कही जा सकती है। इसलिए अविद्या ही अंश विशिष्ट होती है। कही पर तो उपाधि में ब्रह्म ज्ञान के होने पर अविद्याया के किसी अंश का निवारण निवर्तित होता है अन्य उपाधियों में अविद्या की स्थिति नहीं होने के कारण सभी की मुक्ति नहीं होती है।

12.13) माया का आश्रयत्व तथा विषयत्व विचार

मैं घट को नहीं जानता हूँ इसके द्वारा घट का ज्ञान ज्ञापित होता है। यहाँ पर अज्ञान का विषय घट होता है,जिससे घट का ही ज्ञान यहाँ पर नहीं है इस प्रकार से प्रतिपादित होता है। अज्ञान का आश्रय यहाँ पर शब्द है। विषय ज्ञान तथा अज्ञान निराश्रय होकर नहीं रुकते हैं। इसलिए अविद्या माया पर्याय भूतों का आश्रय क्या होता है इस विषय में विचार करना चाहिए। अविद्य ा के आश्रयत्व तथा विषयत्व के विषय में भामती तथा प्रस्थान में मतभेद का विवरण है।

भामतीकार के मत में अविद्या का आश्रय जीव होता है। तथा निरूपाधिकब्रह्म में अविद्या रुकने योग्य नहीं है। अविद्या का विषय ब्रह्म ही होता है। जीव ही ब्रह्मस्वरूप को अपरोक्षता के कारण नहीं जानता है इस प्रकार के वाक्य से अविद्या का विषय जीव ही स्पष्ट रूप से होता है। इसलिए समन्वयाधिकरणभाष्य के विचारकाल में भामतीकार के द्वारा कहा गया है "नाविद्या ब्रह्माश्रया, किं तु जीवे, सा त्वनिर्वचनीयेत्युक्तम्, तेन नित्यशुद्धमेव ब्रह्म" इति। (अविद्या ब्रह्माश्रित नहीं होती है वह तो जीव में ही होती है तथा उसे अनिर्वचनीय इस प्रकार से कहा गया है। उसके द्वारा नित्य शुद्ध तो ब्रह्म ही कहलाता है।)

विवरणकार के मत में संक्षेप में शारीरिककार सर्वज्ञात्ममुने के मत में अज्ञान का आश्रय विषय ब्रह्म ही होता है। अज्ञान के ब्रह्माश्रयत्व में दोष नहीं होता है। तथा अज्ञान का और शुद्ध चैतन्य का विरोध भी नहीं है। ब्रह्म ही अज्ञान का अवभासक तथा साक्षी चैतन्य का अज्ञान भासकत्व इस प्रकार से अद्वैत वेदान्तियों के द्वारा अङ्गीकार किया जाता है। जैस घर में विद्यमान तम घर का ही विषय होता है उसी प्रकार अविद्या भी ब्रह्माश्रित ब्रह्म का ही विषय होता है, इसप्रकार से यहाँ पर कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसलिए विवरण कार के द्वारा प्रथम वर्णक में कहा गया है कि "न तावदज्ञानं आश्रयविषयभेदापेक्षम् किन्तु एकस्मिन्नेव वस्तुनि आश्रयत्वमावरणं चेति कृत्यद्वयं सम्पादयति" (अज्ञान आश्रय से तथा विषय भेद से अपेक्षित नहीं होता है अपितु एक ही वस्तु में आश्रयत्व तथा आवरण दोनों को सम्पादित करता है) इसलिए संक्षेप में शारीरककार के द्वारा कहा गया है

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥ (सं.शा. 1.3.19) इति।

12.14) माया का जगदुपादानत्वविचार

ब्रह्म ही जगत् का निमित्त विवर्त तथा उपादान कारण होता है। माया को ही परिणामी तथा उपादानकारण के रूप में से पाठों में आलोचित किया गया है। लेकिन माया जगत् का उपादानत्व किस प्रकार से होती है इस विषय में अद्वैत वेदान्त के बहुत सारे विचार उपलब्ध होते हैं।

ध्यान दें:

पदार्थत्व निर्णयकारकों के मत के अनुसार "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" जिससे ये सभी भूत उत्पन्न हुए है "मायां तु प्रकृति विद्यात्" माया को प्रकृति समझना चाहिए इस प्रकार से दोनों प्रकार श्रुतियों के दर्शन से ब्रह्म तथा माया दोनों को ही जगत् के उपादान समझना चाहिए। इन दोनों में ब्रह्मजगत् विवर्तमानता के द्वारा जगत् का उपादान होता है तथा माया परिणाम मानता के कारण जगत् का उपादान है।

संक्षेप रूप में शारीरिककारों के मत में तो वह ब्रह्म ही जगत् का उपादान है। कूटस्थब्रह्म का स्वयं में उसके निर्गुत्व से तथा निर्विशेषत्व से स्वयं में कारण सम्भव नहीं होता है। इसलिए माया को ही द्वार कारण कहा जाता है। जिस प्रकार से द्वार अकारण होता हुआ भी कार्यों में अनुगत रूप से रुकता है उसी प्रकार माया भी प्रपञ्च मे अनुगत होती हुई रुकती है। यहाँ पर उदाहरण रूप में कह सकते है कि जिस प्रकार मृत्तिका ही घट का उपादान है, मृत्तिका के घटरूपता को प्राप्त होने पर उस में गये हुए लक्षण ही द्वारा कहलाते हैं। इसलिए संक्षेप शारीरिककार के मत में माया ही प्रपञ्च की उत्पत्ति में द्वार कारण है तथा उपादान ही ब्रह्म है।

वाचस्पति मिश्र के मत में माया जीवाश्रित रहती है। उस प्रकार की माया के द्वारा विषयीकृतब्रह्म स्वयं ही प्रपञ्च के रूप में दिखाई देता है। इसलिए ब्रह्म ही प्रपञ्च का उपादान है तथा माया सहकारी मात्र है, और द्वारकारणकार्यानुगत नहीं है।

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली के लेखक प्रकाशानन्दस्वामी के मत में-

माया शक्ति ही जगत् का उपादान होती है न की ब्रह्म। क्योंकि ब्रह्म के कारणत्व श्रुतियाँ निषेध करती है 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमबाह्यम्' न तस्य कार्यं कारणञ्च विद्यते। इस प्रकार की श्रुतियाँ है। इसलिए जगद् की उपादानभूता माया का अधिष्ठानत्व ब्रह्मा में कारणत्व के रूप में देखा जाता है, ब्रह्म में जगत् की कारणता गौण होती है।

पाठगत प्रश्न 12.4

1. शंङ्काराचार्य के मत में माया तथा अविद्या का भिन्नत्व है अथवा अभिन्नत्व?
2. विद्यारण्य स्वामी के मत में माया क्या है तथा अविद्या क्या है?
3. वाचस्पतिमिश्र माया का एकत्व तथा अनेकत्व किस प्रकार से स्वीकार करते हैं?
4. विवरणकार के मत में माया एक है अथवा अनेक?
5. अज्ञान का आश्रय तथा विषय किसे कहते हैं?
6. संक्षेप शारीरिककार के मत में माया किस प्रकार से जगत् की उपादान्त्व है?
7. वाचस्पतिमिश्र के मत में माया का जगद् उपादानत्व किस प्रकार का होता है?

पाठ सार

अद्वैत वेदान्त के मत में माया ही जगत् का कारण है। माया से उपहित चैतन्य ही ईश्वर है। ईश्वर मायाधीश होता है तथा माया को वश में करके जगत् का निर्माण करता है। वह माया श्रुति तथा स्मृतियों के द्वारा सिद्ध है। मानार्थ मा धातु से 'माछाससिभ्यो य:' इस सूत्र से य प्रत्यय करने पर तथा उससे स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्यय करने पर माया शब्द सिद्ध होता है। जिसके द्वारा मापा जाता है, देखा जाता है, अपरोक्षवत् प्रदर्शित किया जाता है वहा माया है इस प्रकार के व्युत्पत्ति के दृष्टि से माया के अर्थ

ध्यान दें:

सम्भव होते हैं। अज्ञान अविद्या, प्रकृति, मिथ्याज्ञान तथा अव्यक्त इस प्रकार के अर्थ माया के पर्यायवाची हैं।

चित्सुखाचार्य के द्वारा प्रतिपादित माया का लक्षण- अनादिभावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम् है। उत्तर ज्ञान के नाश होने पर पूर्वज्ञान में अतिव्याप्ति के वारण के लिए लक्षण में अनादिपद उपात्त होता है। ज्ञान के पूर्वभाव में अतिव्याप्ति के वारण के लिए भावरूपपद उपादान होता है तथा अनादि भावरूप आत्मा में लक्षण की अतिव्याप्तिनिवारण के लिए ज्ञाननिवर्त्यत्व उपात्त होता है। माया उत्पत्ति रहिता होती है। इसलिए वह अनादि है। माया अखिल जगत् का उपादान होती है। अभाव किसी का भी उपादान नहीं होता है। इसलिए माया भावरूप होती है। अनादित्व से तथा भावरूपत्व से माया को आत्मा के समान नित्य रूप में चिन्तन नहीं करना चाहिए। ब्रह्म के द्वारा ही उसकी निवृत्ति होती है। शुक्ति के उत्पत्ति होने पर उसका विषयी अविद्या की भी उत्पत्ति होती है। शुक्ति विषयक अविद्या ही तूलाविद्या तथा सादि कहलाती है। इसलिए तूलाविद्या में अविद्यालक्षण की अव्याप्ति हो तो ऐसा नहीं होता है क्योंकि शुक्तिरूपकल्पित उपाधि के कारण से ही यहाँ पर अविद्या का सादित्व कहा गया है। अविद्या स्वरूप से अनादि ही कही जाती है। अद्वेतसम्मत अनादि षट्क में अविद्या का परिगणन होता है। अविद्या के भावरूपत्व से उसका अभावरूपत्व निषेधार्थ ही कहा जाता है। वस्तुत: अविद्या भाव अभाव विलक्षणा तथा अनिवर्चनीया होती है। अविद्या के ज्ञान के निवर्त्यत्व में आत्मावान् शोक से तर जाता है इस प्रकार के श्रुतियों में प्रमाण प्राप्त होते हैं। इस प्रकार से ज्ञानत्व के द्वार ज्ञाननिवर्त्यत्व होता है इस प्रकार का भी माया का निर्दिष्ट लक्षण प्राप्त होता सम्भव होता है। ज्ञानस्वरूप अज्ञान का ही निवर्तक होता है।

भ्रमोपादत्व इस प्रकार का अविद्या का दूसरा लक्षण मधुसूदनस्वामी के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। यहाँ पर परिणामित्व के द्वारा तथा अचेनत्व के द्वारा भ्रमोपादनत्व अविद्या के लक्षण का तात्पर्य है। उस चेतन से जगत के विवर्तकारणभूत आत्म में अतिव्याप्ति नहीं होती है। पूर्वाचार्यों के मतो को लेकर सदानन्दयोगीन्द्र के द्वारा अज्ञान के लक्षण के विषय में यह कहा गया है कि अज्ञानं तु सदसद्भ्याम् अनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चित् इति।

अविद्या ही अनिर्वचनीय कही जाती है। यदि अविद्या सत् हो तो वह बाध्य नहीं होती हो तथा असत् हो तो उसकी प्रतीति न ही हो। परस्पर विरुद्धधर्मी के एकत्र असम्भव होने से अविद्या के सत् तथा असत् दोनों ही नहीं होते हैं। इसलिए अविद्या तीन प्रकार की कोटि से विनिर्मुक्त अनिर्वचनीय कहलाती है। तथा सत्वरज् तथा तम इस प्रकार से यह त्रिगुणात्मिका भी होती है।

माया के सत्व में प्रत्यक्षादि बहुत सारे प्रमाण है। जिस प्रकार से मै अज्ञ हूँ, मुझको तथा दूसरे को नहीं जानता हूँ, इस प्रकार से प्रत्यक्षादि प्रमाण विवादगोचरापन्न प्रमाणज्ञान कहलाते हैं। ये स्वप्रागभावव्यतिरिक्त, स्वविषयावरण, स्वनिवर्त्य, स्वदेशगत, वस्त्वन्तरपूर्वकं होने योग्य है। अप्रकाशितार्थ के प्रकाशकत्व से अन्धकार में प्रथम उत्पन्न प्रदीप आदि के प्रभाव से, इस प्रकार अनुमान किये जाते है। "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" इस प्रकार श्रुतियाँ माया के विषय में कहती है। ब्रह्म मे आरोपित मिथ्याभूत अहङ्कार का शुक्ति का में आरोपित मिथ्याभूतरजत का मिथ्याभूत कोई उपादान हो इस प्रकार की दृष्टार्थापत्ति होती है। जैस आत्मज्ञानी शोक को तर जाता है, इस प्रकार की श्रुतियों में आत्मज्ञानिवर्त्यत्व से मिथ्या ही बन्धहेतु शोकोपलक्षित अज्ञान श्रुतार्थापत्ति प्रमाण होते हैं जो माया के सत्त्व में प्रमाण होते हैं।

शङ्कराचार्य के द्वारा माया तथा विद्या में पर्याय शब्द को रूप में व्यवहार विहित है, लेकिन परवर्ति अद्वैतवादियों के द्वारा माया तथा विद्या में भिन्नता के द्वारा पारिभाषिकता से व्यवहार विहित है। किन्हीं के मत में माया ही ईश्वर की उपाधि है तथा अविद्या जीव की उपाधि है। कुछ फिर एक ही

मूलप्रकृति को विक्षेपशक्ति के प्राधान्य से माया कहते हैं तथा आवरणशक्ति के प्राधान्य से अविद्या कहते हैं।

भामतीकार के मत में माया प्रत्येक जीव में भिन्न-भिन्न होती है, विवरणकार के मत में तो माया एक ही होती है। प्रत्येक जीव में एक अविद्या के ही अवस्था भेद देखे जाते है। भामतीकार के मत में माया का आश्रय जीव होता है तथा विषय ब्रह्म होता है। विवरणकार के मत में तो माया का आश्रय तथा विषय ब्रह्म ही होता है।

ध्यान दें:

माया का जगदुपादानत्वविषय पदार्थतत्त्वनिर्णयकारों के मत में ब्रह्म ही विवर्तमानता से जगत् का उपादन है तथा माया परिणाममानता से जगत् का उपादान है। संक्षेप शारीरिककारों के मत मे माया ही प्रपञ्च की उत्पत्ति में द्वारकारण है। उपादान तो ब्रह्म ही है। वाचस्पति के मत मे माया ही सहकारिमात्र है न की ब्रह्म तथा कार्यानुगत द्वारकारण नहीं होता है। प्राकशानन्द के मत में तो माया शक्ति ही जगत् का उपादान है न की ब्रह्म। ब्रह्म की जगत् कारणता माया के अधिष्ठानत्व से गौण ही होती है।

आपने क्या सीखा

- माया की आलोचना को जाना,
- माया के शब्दार्थ को जाना,
- तत्त्वप्रदीपिका द्वारा माया के लक्षण को जाना;
- माया का संपूर्ण संक्षिप्त परिचय प्राप्त किया।

पाठान्त प्रश्न

1. माया शब्द के व्युत्पत्ति के द्वारा प्राप्त होने वाले अर्थ कौन-कौन से है?
2. चित्सुखाचार्य के द्वारा कहा गया अविद्यालक्षण प्रतिपादक श्लोक कौन-सा है?
3. अनादिसत्व में ज्ञान का निवर्त्यत्व होता है इस अविद्या के लक्षण की ज्ञान प्राग के अभाव में किस प्रकार अतिव्याप्ति होती है?
4. अनादिष्टप्रतिपादक श्लोक कौन-सा है?
5. किस प्रकार से अज्ञान घटादि विशेष ज्ञान अभाव वाला होता है?
6. अविद्या के भावरूपत्व को किस प्रकार से अङ्गीकार नहीं कर सकते हैं?
7. अविद्या यहाँ पर नञ् समास का क्या अर्थ है?
8. सोपाधिक भ्रमस्थलों में ज्ञानोदय काल में अज्ञान की किस प्रकार से निवृत्ति होती है?
9. अविद्या की त्रिगुणत्व प्रतिपादक श्रुतियाँ कौन-कौन सी है?
10. अद्वैत वेदान्त में अभाव की किस प्रमाण से प्रत्यक्षता अङ्गीकार की जाती है?
11. विवरणकार के मत में मूल विद्या के एकत्व से एक के ज्ञान के द्वारा सभी मुक्ति किस प्रकार से नहीं होती है?
12. संक्षेप शारीरककार के मत में माया का आश्रय विषय क्या है?

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 12.1

1. जगत् के जडत्व के कारण चेतनब्रह्म के अतिरिक्त द्वितीय के अभाव से जगत् के उपादान के रूप मे माया को ही अङ्गीकार किया जाता है।
2. मायं तु प्रकृति विद्यात्, इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते इत्यादि श्रुतियों में माया के विषय में प्रमाण है।
3. अज्ञान, अविद्या, प्रकृति, मिथ्याज्ञान, अव्यक्त, अव्याकृत, महासुषुप्ति, अक्षर इत्यादि माया के पर्यायवाची शब्द होते हैं।
4. माया की सिद्धि में माया को, मम माया दुरत्यया नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः, अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः, इस प्रकार के स्मृतियों के प्रमाण है।
5. मानार्थक मा धातु से माछाससिभ्यो यः इस सूत्र से य प्रत्यय करने पर तथा उससे स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् करने पर माया शब्द की सिद्ध होती है।
6. अनादि ज्ञान निवर्त्य में ज्ञान प्रागभाव में अतिव्याप्ति निवारण के लिए है।
7. अनादिभावरूपत्व होने पर ज्ञाननिवर्त्यत्व होता है।
8. उत्तर ज्ञान के नाश के लिए तथा पूर्वज्ञान में अतिव्याप्ति के वारण के लिए, अथवा उत्तर ज्ञान नाश के पूर्वज्ञान के भाव रूपत्व से तथा ज्ञान निवर्त्यत्व से वहाँ पर लक्षण की अतिव्याप्ति द्वारा होती है।
9. जीवः, ईश्वरः, शुद्धचौतन्यम्, जीवेशयोर्भेदः, अविद्या, अविद्या-चैतन्ययोः सम्बन्धः, इस प्रकार छः सम्बन्ध अद्वैतवाद में अनादि पदार्थ के रूप में अङ्गीकार किये गये है।
10. मूलाविद्या ब्रह्माश्रित जगत् का कारण तथा ब्रह्मस्वरूप आच्छादिका होती है और तूलाविद्या शुक्त्यादिपरिच्छिन्न भ्रमर जाति आदि हेतु के रूप में होती है
11. अज्ञान अपने कार्य जडशुक्ति का आश्रय लेकर के नहीं रुकता है। शुक्त्यवच्छिन्न चौतन्य ही अज्ञान का विषय है। शुक्ति तो अज्ञान की अवच्छेदिका है।
12. अनादि भावरूप आत्मा में अतिव्याप्तिवारण के लिए है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 12.2

1. अविद्या के भावरूपत्व का तात्पर्य तो अभाव विलक्षण ही होता है।
2. अविद्या के अभावरूपत्व में जगत का उपादान, अभाव से भाव की होने से शङ्करता के कारण सौ प्रकार दूषित होने के कारण अविद्या नहीं होती है।
3. वस्तुतः अविद्या न तो भाव रूप है और न अभाव रूप। अविद्या तो भाव अभाव विलक्षण होती है।
4. अविद्या यहाँ पर नञ् समास का विरोधित्व अर्थ है, इसलिए अविद्या का अर्थ यहाँ पर विद्या की विरोधी तथा विद्या की निवर्त्या है।

ध्यान दें:

5. तरति शोकमात्मवित्, तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति इत्यादिश्रुतय: अविद्याया के ज्ञाननिवर्त्यत्व में प्रमाण है।
6. अविद्या के लक्षण में ज्ञाननिवर्त्यत्व पद का साक्षात् ज्ञाननिवर्त्यत्व तात्पर्य है।
7. ज्ञान ही ज्ञानत्व से अज्ञान का निवर्तक होता है।
8. भ्रमोत्पादनत्व ही माया का अपर लक्षण है।
9. ब्रह्म में अतिव्याप्ति होती है, इसलिए लक्षण में परिणामित्व अचेतनत्व से यह पद जोड़ना चाहिए।
10. शुक्तिरजतोत्पत्ति का अभाव होने पर भी शुक्ति विषय अज्ञान में भ्रमोपादनत्व स्वरूपयोग्यता के विद्यमानत्व से फलोपधायकत्व का अभाव होने पर भी भ्रमोपादनत्व सिद्ध होता है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 12.3

1. अज्ञान जो कुछ भी होता है वह सद् असत् से अनिर्वचनीय त्रिगुणात्मक ज्ञान विरोधी भावरूप होता है।
2. अज्ञान ही ज्ञान के द्वारा बाधित होता है, इसलिए सत् नहीं होता है तथा अज्ञान की जगत् के आकार से प्रतीति होने के कारण वह खरगोश में पुँछ के समान असत् भी नहीं है।
3. अज्ञान का सद्भिन्नत्व से असत् भिन्नत्व से सदसत्भिन्नत्वसे तथा सद् असद् दोनों के द्वारा अनिर्वचनीयत्व होता है।
4. लोहितशुक्लकृष्ण ये अविद्या के गुण होते हैं। कुछ लोग सत्व रज तथा तम को यहाँ गुण के रूप में मानते है।
5. मैं अज्ञ हू, मैं मुझे नहीं जानता हूँ। इस प्रकार के प्रत्यक्ष अनुभव ही माया के प्रमाण होते है।
6. विवादगोचरापन्न प्रमाणज्ञान कहलाते है। ये स्वप्रागभावव्यतिरिक्त- स्वविषयावरण- स्वनिवर्त्य- स्वदेशगत- वस्त्वन्तरपूर्वकं होने योग्य है। अप्रकाशितार्थ के प्रकाशकत्व से अन्धकार में प्रथम उत्पन्न प्रदीप आदि के प्रभाव से, इस प्रकार अनुमान किये जाते है। इस ज्ञान से समानाश्रयविषय भावरूप अज्ञान की सिद्धि होती है।
7. देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्, मायां तु प्रकृतिं विद्यात्, तरत्यविद्यां विततात्, तम आसीत् तमसा गूढम्, अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम् इत्यादि श्रुतियाँ माया कि सिद्धि में प्रमाण होती है।
8. ब्रह्म में आरोपित मिथ्याभूत अहङ्कार की शुक्ति का में आरोपित मिथ्याभूतरजत का मिथ्याभूत ही कोई उपादान हो। मिथ्याभूतरजत के उपादान रूप से अहङ्कार उपादान से अज्ञान की कल्पना होती है।
9. आत्मज्ञानी शोक से तर जाता है। इस प्रकार की श्रुतियों मे आत्मज्ञान निवर्त्यबन्ध हेतु के शोकोपलक्षित अज्ञान की सिद्धि मे शोकतरण का अनुपपद्यमानत्व से श्रुतार्थापत्ति के द्वारा भी अज्ञान की सिद्ध होती है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 12.4

ध्यान दें:

1. शङ्काराचार्य के मत में माया तथा अविद्या में अभिन्नता ही होती है।
2. विद्यारण्यस्वामी के मत में रज तम दोनों से अभिभूत शुद्धसत्त्वप्रधान ईश्वर की उपाधि ही माया है तथा रज, तम के द्वारा अभिभूत मलिनसत्त्वप्रधान जीव की उपाधि ही अविद्या है।
3. वाचस्पति मिश्र माया के एकत्व को अङ्गीकार करते हैं।
4. विवरणकार के मत में माया एक ही है।
5. भामतीकार के मत में ब्रह्म ही जगत् का उपादान होता है तथा माया द्वारकारण होती है।
6. ब्रह्म ही जगत का उपादान है।
7. वाचस्पतिमिश्र के मत में माया सहकारी मात्र होती है तथा ब्रह्मप्रपञ्च का उपादान होता है।

ध्यान दें:

13

अध्यास लक्षण विचार

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष ये चार प्रकार के पुरुषार्थ होते हैं। प्रत्येक पुरुषार्थ के लाभोपाय शास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं। मनु आदि के द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्र, कौटिल्यादि के द्वार प्रणीत अर्थशास्त्र तथा वात्स्यायन आदि के द्वारा प्रणीत कामशास्त्र संसार में प्रसिद्ध हैं तथा दर्शनों को मोक्षशास्त्र कहा गया है। भारतीयदर्शन आस्तिक तथा नास्तिक भेद के द्वारा दो प्रकार से विभाजित हैं। अर्थात् जो दर्शन वेद को प्रमाण रूप में मानते हैं वो आस्तिक दर्शन हैं, और वेद जो के प्रमाण को नहीं मानते हैं वे नास्तिक दर्शन हैं। चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शन नास्तिक दर्शन हैं, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा तथा उत्तरमीमांसा आस्तिक दर्शन कहे जाते है। कर्मकाण्ड के अन्तर्गत वेद वाक्यों का विचार पूर्वमीमांसा दर्शन में होता है। ज्ञानकाण्ड के रूप मे उपनिषदों का विचार उत्तरमीमांसा दर्शन में होता है। उत्तर मीमांसा दर्शन का ही अपर नाम वेदान्त है। उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र इन तीनों के आधार पर ही वेदान्तों का प्रपञ्च होता है। प्रस्थानत्रयी की बहुत प्रकार की व्याख्या के दर्शन से बहुत प्रकार के वेदान्त अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत भेद अभेद आदि का प्रादुर्भाव हुआ। इन सभी में आचार्य शंकर के द्वारा विरचित अद्वैतवेदान्त ही पूर्णरूप से विराजमान है।

ब्रह्मसत्य है जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है न की कोई ओर। इस प्रकार से सभी अद्वैतवेदान्त के प्रतिपाद्य विषयों का यह सार होता है। ब्रह्म के स्वरूप का भूत, भविष्य तथा वर्तमान में परिवर्तन नहीं होता है। इसलिए ब्रह्म सत्य कहलाता है। अत: शङ्कराचार्य तैत्तिरीय उपरनिषद् के भाष्य में कहते हैं की – यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत् सत्यम्। अर्थात् जिस रूप में जो निश्चित हो चुका हो वह अपने स्वरूप से कभी व्यभिचरित नहीं होता हो वह सत्य कहलाता है। इस प्रकार से सत्य नित्य होता है। लेकिन अविद्यादि दिदोषशून्यत्व से ब्रह्मशुद्ध होता है अजड़ होने से बद्ध भी है, उसके बन्धन के असम्भव से वह मुक्त भी है तथा परमप्रेम के अस्वीकार होने से वह आनन्दस्वरूप भी है। जो जहाँ पर प्रतीत होता है, परवर्तिकाल में उत्पन्न यथार्थ ज्ञान के द्वारा उसका वही निषेध होता है तो वह मिथ्या कहलाता है। इसलिए यह अनुभूयमान जगत् उत्पन्न भी होता है तथा नष्ट भी होता है इसलिए यह सत् नहीं है। लेकिन खरगोश के सींग के समान भी असत् नहीं है क्योंकि जगत् की तो प्रतीति होती है। यहा जगत् सत् तथा असत् उभयात्मक भी नहीं है क्योंकि परस्पर विरुद्ध धर्म एकस्थान पर नहीं रह सकते हैं। इसलिए यह जगत् सत् तथा असत् दोनों के द्वारा अनिर्वचनीय है। ब्रह्म ही अपने में आरोपित माया के कार्य से अन्त: करण के द्वारा उपहित होकर जीव कहलाता है। जिस प्रकार से आकाश एक होता हुआ भी घट भेद से अलग अलग होता है उसी प्रकार वह ब्रह्म भी एक होता हुआ प्रत्येक शरीर में

ध्यान दें:

अलग-अलग रूप में विद्यमान है। अन्तः करण बहुत होते हैं इसलिए जीव भी बहुत हैं। उनमें से जो शास्त्राचार्यों के उपदेश के द्वारा शमदमादि के द्वारा संस्कृत मनस से श्रवण-मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा जो अपने ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार करता है वह मुक्ति को प्राप्त होता है। मुक्ति अर्थात् आत्यन्तिकदु:खनिवृत्ति तथा स्वरूपानन्दप्राप्ति है। वह मुक्ति श्रवणादि के द्वारा ब्रह्मकार चित्तवृत्ति के उदय होने से तथा अज्ञान के नाश से सिद्ध होती है।

अद्वैत वेदान्त शास्त्र के अवबोध के लिए ब्रह्म मायादि ज्ञान के साथ अध्यासक ज्ञान भी बहुत ज्यादा आवश्यक होता है। अध्यास ज्ञान के बिना- निर्गुण ब्रह्म का किस प्रकार से जीवत्व होता है तथा जीव का किस प्रकार से कर्तृव भोक्तृत्व आदि बन्धन होते हैं, कैसे अध्यस्त बन्धनों की निवृत्ति होती है इत्यादि विषय नहीं जाने जा सकते हैं। अखिल जगत् के ब्रह्म में अध्यस्त्व होने से जगत् का मिथ्यात्व निश्चय करने के लिए अध्यास क्या होता है, क्या उसका कारण होता है। उस अध्यास के कौन से भेद होते हैं, कैसे सभी प्रकार के लौकिक तथा शास्त्रीयव्यवहारों की अध्यास पूर्वता है, तथा किस प्रकार से अध्यास की निवृत्त होती है ये सभी विषय जानना चाहिए। इस पाठ में हम उन विषयों का आलोचन करके अध्ययन करेंगे।

उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन से आप समर्थ होंगे;

- अद्वैतवेदान्त में अध्यास के आलोचन का क्या प्रयोजन है जानने में;
- अध्यासपद का व्युत्पत्तिगत अर्थ जानने में;
- अध्यास का लक्षण तथा अध्यास के लक्षण विचार में मतभेद को जानने में;
- अध्यास के भेद को जान पाने में;
- अध्यास सत्व में प्रमाण को जान पाने में;
- लौकिक तथा शास्त्रीय व्यवहारों का आध्यासिकत्व जानने में;

13.1) अध्यासप्रयोजन

अद्वैतवेदान्त में प्रतिपाद्यविषय तो जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य,मुक्ति तथा इस शास्त्र का प्रयोजन। जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य संसार में प्रसिद्ध है तथा उसके ज्ञान के बिना बुद्धिमानों की अद्वैतवेदान्त में प्रवृति नहीं हो सकती है। लेकिन संसार में ये अनुभव तो होता ही है की शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि आदि के द्वारा अवच्छिन्न जीव शास्त्र प्रतिपादित नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावा वाले ब्रह्म से भिन्न होता है। जीव तथा ब्रह्म का यह भेद तात्विक है इसे सैकड़ों शास्त्र के द्वारा भी दूर नहीं किया जा सकता है। इसलिए जीव तथा ब्रह्म के ऐक्य रूप विषय की सिद्ध के लिए सर्वप्रथम ब्रह्म ही अज्ञानकारण से जीव होता है इस प्रकार से ब्रह्म का जीवत्व, मिथ्या, अध्यासकार्य का प्रतिपादन करना चाहिए। अध्यास स्वरूप के ज्ञान के बिना जीव का अध्यास कार्यत्व बुद्धिगोचर न होता है इसलिए सबसे पहले अध्यास ही आलोचन का विषय होता है।

बन्धन की निवृत्ति से ही मोक्ष सम्भव होता है। जीव का अविद्यादिकृत बन्धन यदि परमार्थिक है तो किसी भी उपाय से उसकी निवृत्ति सम्भव नहीं है। बन्धन निवृत्ति के असम्भव होने पर मुक्ति की

ध्यान दें:

सिद्धि में वेदान्तशास्त्र विफल हो जाता है। क्योंकि वहाँ पर मुमुक्षुओं की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए यहाँ पर कहा जाता है कि अविद्या के द्वारा किये गये कर्तृत्व भोक्तृत्वादि बन्धन पारमार्थिक होते हैं। यह बन्धन ब्रह्म में आरोपित होता है जीव का स्वरूप ज्ञान होने पर इनके मिथ्याभूत बन्धनों की निवृत्ति हो जाती है। जैसे रस्सी का स्वरूप ज्ञान होने पर मिथ्या भूत सर्प की निवृत्ति हो जाती है उसी प्रकार। छान्दोग्योपनिषद् में यह सुना जाता है की 'तरति शोकम् आत्मवित्।' आत्मवान् शोक को तर जाता है। इसलिए अद्वैतवेदान्त की प्रयोजनसिद्धि के लिए बन्धन मिथ्यात्व के तथा अध्यस्तत्व के प्रतिपादन के लिए अध्यारोप पर्याय अध्यास के लक्षण प्रमाण का ज्ञान हमेशा अपेक्षित है।

वेदान्त शास्त्रों में ब्रह्म विचार प्रस्तुत किया गया है। विचार के सन्दिग्ध सप्रयोजन तथा होने पर वह विषय में सम्भव होता है। निश्चित रूप से सभी का ही अहं इस विचार के उत्पन्न होने से ब्रह्म सन्दिग्ध नहीं होता है। आत्मा के यथा स्वरूपज्ञान के द्वारा संसार की निवृत्ति होती है। लोक प्रसिद्ध आत्मानुभव के अलावा अन्य आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं होता है। उस प्रकार की आत्मा का यथार्थ स्वरूप का अनुभव होने पर सत्य होने पर भी संसार की निवृत्ति के अभाव से ब्रह्म का प्रयोजन भी कुछ नहीं होता है। इसलिए सन्दिग्धत्व सप्रयोजनत्व के अभाव से ब्रह्म का विचार नहीं करना चाहिए। यहाँ पर कहते हैं की प्रकृत लोगों का अहं इस प्रकार का अनुभव हो जाने पर श्रुतिप्रतिपाद्य-नित्यशुद्धबुद्धमुक्त संसार रहित आत्मतत्व भासित नहीं होता है। देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि आदि विषयों को उनके धर्मो का आत्मा में अध्यास्य होने पर ही मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं काना हूँ, मैं सन्दिग्ध हूँ, मैं निश्चित करता हूँ इस प्रकार का व्यवहार प्रवर्तित होता है। इसलिए साधारण जनों का आध्यासिक ही मैं अनुभव होता है। न केवल साधारण लोगों का अपितु पण्डितों का भी मैं यह अनुभव तथा उनके अनुयायियों के साथ लौकिक व्यवहार भी अध्यासपूर्व ही होता है। इसलिए जीवों के यथार्थ ब्रह्म स्वरूप के ज्ञान के अभाव से उसके ज्ञान के लाभ के लिए ब्रह्म ज्ञान आवश्यक हो जाता है। श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के साक्षात्कार होने पर शुकवाम देवतादि आदि के जैसे मोक्ष निश्चित हो जाता है। इसलिए ब्रह्म के विचार का सप्रयोजनत्व सिद्ध होता है। इसलिए यह ब्रह्म सामान्य रूप से ज्ञात तथा विशेष रूप से अज्ञात होता है। जिस प्रकार से देह इन्द्रियादि में अध्यासवश देहेन्द्रियों की अभिन्नता से ब्रह्म सामान्य रूप से सभी के द्वारा जाना जाता है। लेकिन सभी प्रकार की उपाधियों से विनिर्मुक्त होने के कारण विशेषरूप से ब्रह्म का ज्ञान जीवों का नहीं होता है। इसलिए ब्रह्म का विचार करना चाहिए। अत: मण्डनमिश्र के द्वारा ब्रह्म की सिद्धि में यह कहा गया है

सर्वप्रत्ययवेद्ये वा ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते
प्रपञ्चस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते॥

(अर्थात् सभी प्रकार के विचारों को जान लेने पर ब्रह्म रूप में व्यवस्थित होने पर प्रपञ्च का प्रविलय होता है जो शब्द के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है)

अध्यास के प्रतिपादन के बिना ब्रह्म के सन्दिग्धत्व तथा सप्रयोजनत्व का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। तथा उसके द्वारा ब्रह्म का विचार भी नहीं किया जा सकता है। इसलिए उसके प्रतिपादन के लिए अध्यास का आलोचन अपेक्षित होता है।

उपनिषदों को आधार मानकर ही वेदान्तशास्त्रों की प्रवृत्ति कही गयी है। आचार्य शङ्कर के द्वारा जन्माद्यधिकरणभाष्य में कहा गया है कि- वेदान्तवाक्य-कुसुम-ग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम् इति। इस प्रकार से निषेध द्वारा ब्रह्म के प्रतिपादक उपनिषद के वाक्य हैं- नेह नानास्ति किञ्चन, अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्, अवाङ्मनसगोचरम्- सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, सच्चिदानन्दं ब्रह्म। इत्यादि। यहाँ पर यह शङ्का होती है कि किस प्रकार से सर्वं खल्विदं ब्रह्म, इस प्रकार से ब्रह्म की व्यापकता सिद्ध होती है।

ध्यान दें:

इसलिए उपनिषद् वाक्यों में परस्पर विरोध होने से उनकी प्रमाण्यता सिद्ध नहीं होती है। अपास्तं च प्रामाण्यं तदाश्रितानां वेदान्तशास्त्राणाम्।

यहाँ पर कहते हैं कि, उपनिषद् वाक्यों का परस्पर विरोध नहीं है। अपितु निषेध वाक्यों के द्वारा भी ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन ही किया गया है। न ही ब्रह्मणि नानात्वमस्ति। न चानेन ब्रह्मणः सर्वव्यापकत्वविरोधः। सर्वव्यापकत्वं च ब्रह्मणः ब्रह्मणि आरोपितेषु अखिलेषु विषयेषु ब्रह्मणः अनुस्यूतत्वात्। (ब्रह्म में नानात्व नहीं होता है,इस वाक्य के द्वार यहाँ पर ब्रह्म के सर्वव्यापकत्व का विरोध होता है। क्योंकि ब्रह्म के सर्वव्याकपकत्व होने से ब्रह्म में आरोपित सभी विषय अनुस्यूतत्व के रूप से रहते हैं। इसलिए शङ्काराचर्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् के भाष्य में कहा है- "दर्शनविषय में ब्रह्म में इससे नाना प्रकार का कुछ भी नहीं है, यह पूर्णतया सत्य है ब्रह्म में नानात्व नहीं होता है, नानात्व तो अविद्या के द्वारा ब्रह्म में अध्यारोपित किया जाता है। उस अध्यास के कारण से ही ब्रह्म में नानात्व की प्रतीति होती है। न की उसमें पारमार्थिक नानात्व होता है। इसलिए उपनिषद् वाक्यों की विरुद्ध प्रतिपादकता भी नहीं है। तथा उससे आश्रित वेदान्त ग्रन्थों में शङ्का भी नहीं होती है। इसलिए यह अध्यास अद्वैत वेदान्ततत्वालोचन के प्रसंग में महान्तगुरुत्व का वहन करता है।

'अध्यारोप तथा अपवाद के द्वारा निष्प्रपञ्च प्रपञ्चित होता है। इसलिए अद्वैत वेदान्त में उपदेश की प्रक्रिया दी गई है। अपवाद के अध्यारोपपूर्वकत्व से पहले अध्यारोप को प्रतिपादन करना चाहिए। उसके अध्यारोपितमिथ्याभूतविषयों का निषेध करना चाहिए। इसलिए वेदान्तसार की बालबोधिनीटीका में आपोदेव के द्वारा कहा गया है 'अपवाद के अध्यारोपपूर्वकत्व से पहले अध्यारोप का निरूपण किया जाता है। अद्वैतवेदान्त के विचारप्रसङ्ग में सबसे पहले अध्यारोपापर्याय के अध्यास का विचार करना चाहिए। इस प्रकार से अध्यास का प्रयोजन स्पष्ट होता है।

13.2) अध्यासपदार्थ

अधि उपसर्गपूर्वक दिवादिगणीय अस् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर अध्यास पद निष्पादित होता है। अधि इसका ऊपर अर्थ होता है। अस् धातु क्षेपण अर्थ में होती है। 'असु क्षेपणे' इस प्रकार से यह धातु पाठ में दी गई है। घञ् प्रत्यय भावार्थ तथा कर्मार्थ में होता है। एक वस्तु के ऊपर तथा अपर वस्तुओं के उपर भ्रमवश फेंकने पर क्षिप्त अपर वस्तु का व्युत्पत्ति के कारण अध्यास पद के द्वारा ग्रहण होता है। इसलिए भावार्थ में घञ् प्रत्यय से निष्पन्न अध्यास पद का अर्थ अध्यारोपण क्रिया होता है। कर्मवाच्य में घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न अध्यास पद का अध्यारोप वस्तु इस प्रकार से अर्थ होता है। जिस प्रकार से रस्सी में जो सर्प का ज्ञान होता है, वह भी अध्यास पद का वाच्य होता है। अर्थात् रस्सी में जिस सर्प का ज्ञान होता है वह सर्प भी अध्यास पद् के द्वार वाच्य होता है। इस प्रकार से प्रथम अध्यास का अर्थ ज्ञानाध्यास तथा द्वितीय अध्यास का अर्थ अभिधान होता है। इन दोनों का विचार आगे विधान किया जाएगा।

पाठगत प्रश्न 13.1

1. अद्वैतवेदान्त का प्रतिपाद्य विषय क्या है?
2. अद्वैतवेदान्तशास्त्र का प्रयोजन क्या है?
3. बन्धनों का मिथ्यात्व किस प्रकार से है?
4. किस प्रकार के विषय में विचार सम्भव होता है?

ध्यान दें:

5. ब्रह्म का किस प्रकार का सन्दिग्धत्व होता है?
6. विधिमुख से ब्रह्म के लिए प्रतिपादित श्रुतियों के वचन कौन-से हैं?
7. निषेध मुख से ब्रह्म के लिए प्रतिपादित श्रुति के वचन कौन-से हैं?
8. अध्यास पद की व्युत्पत्ति क्या है?
9. अध्यास पद का व्युत्पत्तिगत अर्थ क्या है?

13.3) अध्यासलक्षण

'लक्षण प्रमाण के द्वार वस्तु सिद्धि तो मात्र उद्देश्य मात्र है। इस प्रकार से शास्त्र का नियम है। किसी वस्तु के सिद्धि के लिए उसका लक्षण आवश्यक होता है तथा उसके लक्षण की सिद्धि के लिए वह लक्षण लक्ष्य में होना आवश्यक होता है, और वह लक्षण लक्ष्य में है अथवा नहीं इसके लिए प्रमाण आवश्यक होता है।

कुछ पूर्वपक्षी इस प्रकार से आक्षेप करते हैं की आत्म अहं इस प्रकार के प्रत्यय के रूप में भाषित होता है। तथा अनात्मा अहं भिन्न प्रत्यय में, अनात्मा विषयी होती है तथा आत्मा विषय होता है। इस प्रकार से अत्यन्त भिन्नता के कारण आत्मा में तथा अनात्मा में अध्यास सम्भव ही नहीं होता है। यदि आत्मा तथा अनात्मा में अध्यास स्वीकार नहीं करें तो परमात्म का जीवत्व किसी भी प्रकार से प्रतिपादित नहीं कर सकते हैं। तथा उससे बन्धन तथा मोक्ष का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों के प्रयोजन का निरूपण भी नहीं कर सकते हैं। इसलिए अध्यास का प्रतिपादन करने के लिए सर्वप्रथम अध्यास के लक्षण तथा उसके विषयक प्रमाणों का अलोचन करना चाहिए।

सदानन्द योगीन्द्र के द्वारा प्रणीत वेदान्तसार में प्रतिपादित अध्यास का लक्षण यह है कि- वस्तुनि अवस्त्वारोपः अध्यारोपः इति। अध्यास का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा है कि असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवत्। वस्तु में किस पदार्थ में उससे भिन्न अवस्तु पदार्थ का अरोप या अवभास ही अध्यारोप कहलाता है। उदाहरण की लक्षण सङ्गता इस प्रकार से है वस्तु रस्सी में अवस्तु रस्सी भिन्न सर्प का आरोप अध्यारोप कहालाता है। इसी प्रकार वस्तु सच्चिदानन्द ब्रह्म में अवस्तु वस्तुभिन्न ब्रह्मभिन्न अज्ञानादि जड़ पदार्थों का आरोप अवभास ही अध्यारोप इस प्रकार से सिद्ध होता है। यह अध्यास के लक्षण का स्वरूप होता है। इसलिए नृसिंहाचार्य ने पञ्चपदिकाविवरण की भावप्रकाशटीका में कहा है - 'परत्रावभास इत्यध्यासमात्रस्य स्वरूपलक्षणम्'

अद्वैत वेदान्त सम्मत अध्यास के इतर सम्मत अध्यास की विलक्षणता इस लक्षण के द्वारा स्फुट नहीं होती है। शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में सर्वप्रथम अध्यास भाष्य लिखा है। वहाँ पर उनके द्वारा प्रतिपादित अध्यास के लक्षण से स्वविलक्षणमत का स्थापन तथा अपर के मत का खण्डन सम्भव होता है। शङ्काराचार्य के द्वारा किये गये अध्यास का लक्षण यह है कि स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः इति। पञ्चपदिका के विवरण में प्रकाशात्मयति के द्वारा ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यटीका पर भामतीटीका में वाचस्पति मिश्र ने इस लक्षण का विस्तार पूर्वक आलोचन किया है। उनके दोनों व्याख्यानों को अलग से सरल रूप में अभी प्रस्तुत किया जा रहा है। वाचस्पतिमिश्र के द्वारा लक्षण के व्याख्यान में यह विधान किया जा रहा है कि स्मृति का रूप ही रूप होता है जिसका वह स्मृति रूप कहलाता है। रूप स्वरूप को कहते हैं। स्मृति का स्वरूप असन्निहितविषयत्व कहलाता है। जब किसी वस्तु की स्मृति होती है वह वस्तु के समीप में नहीं रूकती है, लेकिन यहाँ पर इसका सद् वस्तु यह अर्थ होता है। यहाँ पर परत्र पद से

ध्यान दें:

आरोपित अधिष्ठान निर्दिष्ट है। पूर्व में दृष्ट का अवभास ही पूर्वदृष्टाभास कहलाता है। पहले देखा गया पूर्वदृष्ट कहलाता है। दृश धातु का भले ही दर्शन यह अर्थ होता है फिर भी इसका ज्ञान अर्थ ग्रहण करना चाहिए। इसलिए पूर्वज्ञात का विषयीभूत अर्थ होता है। पूर्वदृष्टपद से आरोपणीय का उल्लेख किया गया है। अरोप मिथ्या होता है इसलिए पूर्वदृष्ट पद से मिथ्याभूत अनृत का ही निर्देश विहित है। भामतीकार ने अवभाव के दो प्रकार से अर्थ किये हैं। अवसन्न: अवमतो वा भास: अवभास: इति। भास अर्थात् अज्ञान और अवसाद अर्थात् उच्छेद है। ये उत्तर ज्ञान के द्वारा बाधित होते हैं। आवमान से तात्पर्य है यौक्तिक तिरस्कार ज्ञान का तिरस्कार ज्ञान की इच्छा प्रवृत्यादि कार्य सम्पादन में अक्षमता कहलाती है। इसी प्रकार उत्तर ज्ञान के द्वारा बाधित युक्ति से तिरस्कृत तथा ज्ञान अवभास पद का अर्थ होता है। उसके द्वारा पूर्वदृष्ट के तथा पूर्वज्ञात के अन्य स्थान पर उससे भिन्न सद् वस्तु में स्मृति रूप असन्निहित विषयक, अवभास बाधित तथा तिरस्कृत ज्ञान ही अध्यास कहलाता है। असन्निहितविषयक अवभास असन्निहित विषय का अवभास होता है। इसलिए असन्निहित पूर्व दृष्ट विषय का अन्य स्थान पर उससे भिन्न सद्वस्तु में जो अवभास होता है तथा जो बाधित होता है वह तिरस्कृत ज्ञान रूप में अध्यास का अर्थ होता है। पूर्वदृष्ट पद के द्वारा यह कहा गया है कि भ्रम में जो विषय भासित होता है अन्य स्थान पर सत्यभूत हो तो ऐसा भी नियम नहीं है, उस वस्तु के ज्ञान मात्र से ही अपेक्षित अध्यास का ज्ञान हो जाता है।

वाचस्पति मिश्र के मत में अवभास इससे ही अध्यास का संक्षिप्त लक्षण होता है। अवभास पद के द्वारा ही मिथ्याज्ञान कहा गया है। अवभास पद का अर्थ अवसन्न अथवा अवमतभास इस रूप में प्रतिपादित किया गया है। पूर्व दृष्ट इत्यादि पदों के द्वारा संक्षिप्त लक्षण का ही व्याख्यान तथा परिष्कार होता है।

यहाँ पर उदाहरण इस प्रकार से है- शुक्ति में रजत है इस प्रकार का ज्ञान होता है। दुकान पर पहले देखा गया रजत (चांदी) का रजतभिन्न अन्य स्थान शुक्ति में अवभास ही अध्यास होता है इस प्रकार से यह लक्षण समन्वय होता है। यह रजत है इस प्रकार से रजत के ज्ञान में अधिष्ठान शुक्ति के दर्शन से यह रजत नहीं है इस प्रकार का ज्ञान बाधित होता है।

लक्षण में स्मृतिरूप पद प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्तवारण के लिए दिया गया है। प्रत्यभिज्ञा में विषय सन्निहित होता है। जिस प्रकार से काशी में देवदत्त को देखकर दिल्ली में देवदत्त को देखते हुए कोई कहता है की वह यह देवदत्त है। यह ज्ञान प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। देवदत्त तब वक्ता का प्रत्यक्ष विषय होता है। इस प्रकार से अन्य स्थान पर प्रत्यक्ष विषय देवदत्त में पूर्वदृष्ट काशी में देखे हुए देवदत्त का जो भेद के द्वारा ज्ञान होता है वह भी अध्यास पद का वाच्य होता है। उसी प्रकार स्वमतीनाम की गाय में पहले देखे गये गोत्वधर्म का फिर बाद में देखी गई कालाक्षीनाम की गाय में जो यथार्थ अवभास होता है वह भी प्रत्यभिज्ञा रूप अध्यास होता है। लक्षण में स्मृतिरूप पद के प्रदान करने से यथार्थ ज्ञान रूप प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति का प्रत्यिभिज्ञ में विषय के सन्नहित होने से निवारण हो जाता है। लक्षण में अन्य जगह पर उपादान पद के द्वारा यथार्थ ज्ञान में अतिव्याप्ति का निवारण किया गया है। रजत में रजत का ज्ञान यथार्थ ही होता है।

पञ्चपदी विवरण ग्रन्थ में प्रकाशात्मयति के द्वारा अध्यास का लक्षण व्याख्यापित किया गया है। उनके मत में स्मृति रूप पद का अर्थ स्मृति के रूप के समान जिसका रूप होता है वह, यह अर्थ है। स्मृति के स्वरूप का यहाँ पर कारणत्रयजन्यत्व है। यहाँ पर कारणात्रय दोष है तथा संस्कार सम्प्रयोग भी है। काल का व्यवधान होने से इन दोनों का योग होने पर ये दोष होते हैं, संस्कार पूर्वज्ञानजन्य होता है, सम्प्रयोग इन्द्रियसन्निकर्ष को कहते हैं। स्मृ धातु से भाव तथा कर्म में क्तिन् प्रत्यय करने पर स्मृतिपद की सिद्धि होती है। भाव में क्तिन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न स्मृतिपद का अर्थ स्मरण होता है। कर्म में क्तिन्

ध्यान दें:

प्रत्यय करने पर स्मर्यमाण वस्तु होता है। अन्य जगहों पर भी इस का यही अर्थ होता है। पूर्वदृष्ट का अवभास पूर्वदृष्टाभास कहलाता है। पूर्वदृष्ट पद का अर्थ पूर्वदृष्ट सजातीय ही होता है न की पूर्वदृष्ट वस्तु ही भ्रम स्थल में भासित होती है। अवभास पद की दो प्रकार से व्युत्तपत्ति कल्पित की गई है। वो है अवपूर्वक भासधातु से भाव तथा कर्म में घञ् प्रत्यय करने पर अवभास शब्द सिद्ध होता है। भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर अवभास शब्द का अर्थ ज्ञान होता है तथा कर्म में घञ प्रत्यय करने पर अवभास पद का अर्थ ज्ञानविषय होता है। इसलिए अन्य जगह पर पूर्वदृष्ट सजातीय का अन्य कारण त्रिजन्य जो अवभास होता है वह अध्यास कहलाता है, इस प्रकार से यह लक्षण का अर्थ है । प्रकाशात्मकयति के मत में परत्र अवभास इसके द्वारा ही अध्यास के लक्षण को सम्भव करते हैं। यहाँ पर परत्र इस कथन से पर का अवभास यह ही आक्षेप से सिद्ध होता है। इसलिए परत्र पर का अवभास ही अध्यास का लक्षण होने योग्य है। और उसके द्वारा दूसरी शुक्ति में पर रजत के अवभास अध्यास के रूप में सिद्ध होता है। पूर्व दृष्ट स्मृति रूप इत्यादि पद उस लक्षण की स्पष्टता के लिए ही जोड़े गये हैं।

पाठगत प्रश्न 13.2

1. वेदान्तसार में प्रतिपादित अध्यारोप का क्या लक्षण है?
2. शङ्कराचार्य के द्वारा प्रतिपादित अध्यास का क्या लक्षण है
3. भामतीकार के मतमें अध्यास का संक्षिप्त लक्षण क्या है?
4. भामती के मत में अवभास पद का क्या अर्थ है?
5. ज्ञान का अवसाद किसे कहते हैं?
6. ज्ञान का अवमान किसे कहते हैं?
7. भामती के मत में लक्षण स्थिति स्मृति रूप पद का क्या अर्थ है?
8. अध्यास लक्षण स्थित स्मृति रूप पद में कैसे अतिव्याप्ति का निवारण होता है तथा वहाँ पर क्या हेतु होता है?
9. विवरण के मत में अध्यास का क्या लघु लक्षण हो सकता है?
10. विवरण कार के मत में स्मृति का क्या स्वरूप है?

13.4) अध्यास के भेद

अध्यास ही अर्था ध्यास तथा ज्ञानाध्यास इस प्रकार से दो प्रकार का होता है। अध्यास काल में विषय का अध्यास होता है तथा ज्ञान का भी अध्यास होता है। शुक्ति में जिस प्रकार रजत का अध्यास होता है वैसे ही रजत ज्ञान का भी अध्यास सम्भव होता है। जब शुक्ति में रजत का अध्यास होता है तब वह अध्यास अर्था ध्यास कहलाता है और जब शुक्ति में रजत के ज्ञान का अध्यास होता है तब वह अध्यास ज्ञानाध्यास कहलाता है। विवरणकार के मत में अर्थाध्यास में तथा ज्ञानाध्यास में अध्यासलक्षण का समन्वय प्रदर्शित है जैसे परत्र शुक्ति में पूर्वदृष्ट के पूर्वदृष्टसजातीय रजत का स्मर्यमाणसदृश अवभासमान विषय का अध्यास के द्वारा ग्रहण से अर्थाध्यास में लक्षणसङ्गति होता है। लेकिन परत्र शुक्ति में पूर्वदृष्ट के पूर्वदृष्टसजातीय का स्मृतिरूप स्मरणसदृश जो अवभास ज्ञान होता है वह-वह अध्यास ही ज्ञानाध्यास होता

ध्यान दें:

है इस प्रकार से यहाँ पर लक्षणसङ्गति होती है। इसलिए प्रकाशात्मकयति के द्वारा पञ्चपदिका के विवरण में कहा गया है लक्षणसङ्गति:। उक्तं च प्रकाशात्मयतिना पञ्चपादिकाविवरणे "यदा ज्ञानविशिष्टोऽर्थ एवाध्यास:, तदा स्मर्यमाणसदृश: अन्यात्मना अवभासमान: अन्य: अर्थ: अध्यास इत्येवंलक्षणपरतया वाक्यं योजितम्। यदा पुनरर्थविशिष्टं ज्ञानमेवाध्यास:, तदा स्मृतिसमानोऽन्यस्यान्यात्मनावभास: अध्यास: इत्येवंलक्षणपरतयापि तदेव वाक्यं योजयितुं शक्यते" "जब ज्ञानविशिष्ट अर्थ ही अध्यास होता है तब स्मर्यमाणसदृश अन्य आत्मा के द्वारा अवभासमान अन्य अर्थ अध्यास होता है। यह ही लक्षणपरता वाक्य में जोड़ी गई है। जब पुनरर्थविशिष्ट ज्ञान ही अध्यास होता है तब स्मृति समान अन्य की अन्य आत्मा के द्वारा अवभास अध्यास होता है। इस प्रकार से इस लक्षणपरता के द्वारा उस वाक्य को जोड़ा जा सकता है"

इस प्रकार से भामतीकार के मत मे भी अवभास पद की दो प्रकार से व्युत्पत्ति अङ्गीकार करके अर्थाध्यास में तथा ज्ञानाध्यास में अध्यास के लक्षण का समन्वय किया है।

यह अर्थाध्यास ही अर्थाध्यास,धर्म्याध्यास तथा धर्माध्यास इस प्रकार के सम्बन्ध से तीन प्रकार से विभाजित होता है। एक धर्म में अपर धर्मी का अध्यास ही धर्म्याध्यास होता है। जैसे धर्मी शुक्ति में अपर धर्म रजत का आरोप ही धर्म्याध्यास है। उसी प्रकार आत्मा में अन्त: करण का आरोप ही धर्म्याध्यास होता है। एक धर्म में अपरधर्मी के धर्म का अध्यास धर्माध्यास कहलाता है। जैसे धर्मी रज्जु में धर्मी सर्प के विषय युक्त धर्म का अध्यास ही धर्माध्यास है। जैसे आत्म धर्म चैतन्य का अध्यास ही धर्माध्यास है। उसी प्रकार आत्म धर्म चैतन्य के अन्त: करण में आरोप ही धर्माध्यास है। जब एक धर्मी में धर्म का आरोप नहीं होता है केवलसम्बन्धमात्र का आरोप होता है तब वह सम्बन्धाध्यास कहलाता है। जैसे आत्मा के साथ सम्बन्धहीन शरीर के आत्मा के साथ सम्बन्धमात्र आरोपित होता है। इसलिए उससे यह मेरा शरीर है इस प्रकार का भ्रमज्ञान हो जाता है।

अर्थाध्यास फिर तादात्म्याध्यास तथा संसर्गाध्यास के रूप में दो प्रकार का होता है ऐसा कुछ लोग कहते हैं। आत्मा में जब किसी अनात्मवस्तु के अभेद से आरोप होता है तब वह अनात्मवस्तु अभेद के कारण आरोप होती है तब वह तादात्म्याध्यास कहलाता है। स्वपरूपाध्यास इसका अपर नाम भी है। उसी प्रकार आत्मा में इन्द्रियों का अरोप होने पर में देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। जब आत्मा में अनात्मवस्तु न होकर केवल उसके संसर्ग का केवल आरोप होता है तब वह संसर्गाध्यास कहलाता है। उसी प्रकार जब आत्मा में पुत्रसंसर्ग का आरोप होता है तब मेरा पुत्र इस प्रकार का भ्रमज्ञान उत्पन्न होता है। यहाँ पर आत्मा में पुत्र का आरोप नहीं होता है, नहीं तो मैं पुत्र हूँ इस प्रकार का तादात्म्याध्यास हो जाए इसलिए यहाँ पर पुत्र के साथ आत्मा का अविद्यमान सम्बन्ध का केवल आरोप मात्र होता है। अहंकार के द्वारा तादात्म्यध्वास का तथा मम कार के द्वारा संसर्गाध्यास का निर्देश होता है। इस प्रकार से दोनों प्रकार के अध्यास को अङ्गीकार करके शङ्कराचार्य जी ने कहा है- यह मैं तथा मेरा यह इस प्रकार का नैसर्गिक यह लौकिक व्यवहार होता है।

सोपाधिक तथा निरूपाधिक भेद से अध्यास दो प्रकार को होता है। जिसमें अध्यास में कारण रूप से कोई उपाधि होती है वह सोपाधिक अध्यास कहलाता है। जैसे दो चन्द्रों के दर्शन के रूप में भ्रम होने पर अङ्गुलीव्यापार उपाधि होता है इसलिए यहाँ पर दो चन्द्रों का दर्शन सोपाधिक अभ्यास कहलाता है। अथवा जैसे एक ही ब्रह्म के अन्त: करण रूप उपाधियों के कारण से जीव को भ्रम हो जाता है। सोपाधिक अभ्यास मे अधिष्ठानज्ञानमात्र के द्वारा ही अध्यास की निवृत्ति नहीं होती है। उपाधिनाश से ही अध्यास की निवृत्ति होती है जिस अध्यास में कारणरूप से उपाधि नहीं होती है वह निरूपाधिक अध्यास कहलाता है। जैसे शुक्ति में रजत का ज्ञान। यह अध्यास शुक्तिरूपाधिष्ठान के दर्शन से बाधित होता है अध्यास का

ध्यान दें:

उदाहरण देते समय शङ्कराचार्य दोनो प्रकार के अध्यास के उदाहरण देते हैं "जैस लोक में यह अनुभव है की शुक्ति ही रजत के समान भासित होती है उसी प्रकार एक ही चन्द्र दो के समान होता हैं"।

यह अध्यास ही सादि तथा अनादि भेद से फिर दो प्रकार का होता है। आत्मा में अविद्या का अध्यास अनादि है तथा अनादि काल से ही यह अध्यास विद्यमान है। चित् सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका में छः प्रकार के अनादियों का अङ्गीकार किया है वे है जीव, ईश्वर, विशुद्ध चैतन्य, जीव तथा ईश्वर का भेद, अविद्या, अविद्या तथा चैतन्य का सम्बन्ध। इस प्रकार से कहा है-

जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥ इति।

शुक्ति रज्जु आदि में रजत सर्पादि का अध्यास सादि है जिससे वे अध्यास उत्पन्न होते है। लेकिन दोनों प्रकार के भी अध्यास ज्ञान के उदय होने पर बाधित होते हैं।

पाठगत प्रश्न 13.3

1. अध्यास कितने प्रकार का होता है?
2. अर्थाध्यास कितने प्रकार का होता है?
3. ज्ञानाध्यास किसे कहते हैं?
4. अर्थाध्यास कितने प्रकार का होता है?
5. सम्बन्धाध्यास क्या है, तथा उसका उदाहरण क्या होता है?
6. धर्म्याध्यास क्या है, तथा उसका उदाहरण क्या होता है?
7. धर्माध्यास किसे कहते हैं तथा अध्यास कितने प्रकार के होते हैं?
8. उपाधि दृष्टि से अध्यास कितने प्रकार का होता है?
9. सोपाधिक अध्यास किसे कहते हैं तथा उसका उदाहरण क्या है?
10. निरूपाधिक अध्यास किसे कहते हैं?
11. सादिध्यास किसे कहते हैं?
12. अनादि अध्यास किसे कहते हैं?

13.5) लौकिक एवं शास्त्रीय व्यवहार का अध्यास

लौकिक तथा वैदिक प्रामाणिक व्यवहार अध्यास के कारण ही सम्भव होते हैं। विधि प्रतिषेध तथा मोक्षपरक शास्त्र अध्यास पूर्वक ही प्रवर्तित होते हैं। उसी प्रकार देह इन्द्रियादि में भी अहं का अभिमान होने पर निर्गुण असङ्ग आत्मा प्रमाता होता है। प्रमाता शरीर में अधिष्ठित होकर के इन्द्रियों के रूप में व्यापार करता है। उससे प्रत्यक्षादि ज्ञान उत्पन्न होते हैं। देहेन्द्रियादि में आत्मा के अध्यास के बिना आत्मा प्रमाता नहीं होता है। आत्मा प्रमाता नहीं होता है तो ज्ञान भी नहीं होता है। इसलिए सभी प्रमाण प्रमेय व्यवहार अध्यासपूर्वक ही सिद्ध होते हैं। पूर्वकाल से लेकर सभी जन अध्यास पूर्वक ही संसार में व्यवहार

ध्यान दें:

करते है। जिस प्रकार से संसार में गवादि पशु जब दण्डाधारी को आते हुए देखते है तब वे यह समझते है यह मुझे मारेगा और यह सोचकर के भाग जाते है। उसी प्रकार जिसके हाथ में हरी घास होती है उसके पास आ जाते हैं। उसी प्रकार विद्वान् लोग भी हिंसकदृष्टि तलवारधारी बलवान व्यक्ति को देखकर भाग जाते है तथा उसके विपरीत के प्रति आकर्षित होते हैं। इसलिए पशुआदि के द्वारा पुरुषों का प्रमाण प्रमेय व्यवहार काल में भेद नहीं देखा जाता है। पशुओं का यहाँ पर लोगो के प्रति जो व्यवहार है वह अध्यास पूर्वक ही है। शरीर में आत्मा ध्यास के बिना मैं मरता हूँ, यह बोध उत्पन्न ही नहीं होता है।

कर्मकाण्ड के अन्तर्गत अथवा ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत भी शास्त्र अध्यास को ही आश्रय लेकर प्रवर्तित होते हैं। इसलिए आत्मा में ब्राह्माणादि वर्णों का गृहस्थादि आश्रमों का, बालक युवादि व्यस्कों तथा व्याधिग्रस्तत्वादि अवस्थाओं का अध्यास करके ही ये शास्त्र प्रवर्तित होते हैं। वर्णों का अध्यास जैसे ब्राह्मण यज्ञ करे, आश्रम का अध्यास जैसे गृहस्थ को उसी प्रकार की भार्या प्राप्त हो,आयु का अध्यास आठ वर्ष के बालक का उपनयन करें। अवस्था अध्यास जैसे अप्रितसमाधेय व्याधियों के नाश के लिए जलादि में प्रवेश करके प्राणत्याग करना चाहिए। भलेही कर्मकाण्ड में देह से अतिरिक्त आत्मा भी अङ्गीकार की गई है। फिर भी उपनिषदों में प्रतिपादित नित्यशुद्दबुद्धमुक्तस्वभाव अत्मा वहाँ विधि का विषय नहीं होती है। ज्ञानकाण्ड में आध्यासिक जीवत्व को स्वीकार करने पर जीव के बन्ध आदि विषय अध्यास कारण से ही सिद्ध होते हैं। इसलिए सभी लौकिक व्यवहार तथा सभी शास्त्र अविद्यापूर्वक ही प्रवृत्त होते हैं। प्रत्यगात्मा में देहान्तकरणादि अनात्मनों को अध्यास के साथ ही लोकव्यवहार सम्भव होता है। इसलिए आत्मा में बाह्य धर्मों के अध्यास करके पुत्र के नष्ट होने पर में भी नष्ट हो जाऊँगा, इस प्रकार से जीव मानता है। उसी प्रकार शरीर धर्मों का आत्मा में अध्यास करके मैं मोटा हूँ, मैं गौरा हूँ, मैं जाता हूँ, मैं उल्लङ्घन करता हूँ, इन्द्रियों के धर्मों का आत्मा में अध्यास करके मैं गूँगा हूँ, मैं काना हूँ . मैं बहरा हूँ, मैं अन्धा हूँ, और अन्त: करण के धर्मों का आत्मा में अध्यास करके मैं चाहता हूँ, मैं सङ्कल्प करता हूँ,इस प्रकार के व्यवहार संसार में दिखाई देते हैं। आत्मा में अनात्माओं का अध्यास ही सभी प्रकार के अनर्थों का हेतु है न की शक्तिरजतादि का भ्रम। इसलिए सभी अनर्थ के हेतु अध्यास के दूर करने के लिए सभी उपनिषद् प्रवृत्त हैं, तथा उनके अनुयायी वेदान्तशास्त्र प्रवृत्त है।

पाठगत प्रश्न 13.4

1. किस प्रकार से निर्गुण असङ्ग आत्मा का प्रमाता होता है?
2. शास्त्रों का आध्यासिकत्व किस प्रकार से है?
3. वर्णाध्यास उपेत विधिवाक्य कौन-सा है?
4. आश्रम अध्यासयुक्त शास्त्र वाक्य का उदाहरण क्या है?
5. अन्त: करण के धर्मों को आत्मा में आरोपित करके किस प्रकार के व्यवहार होते हैं।
6. सभी अनर्थों का हेतु क्या है?

पाठ सार

वेदान्तशास्त्र के जीवब्रह्मैक्य के विषय का मोक्ष रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए अध्यास का आलोचन अपेक्षित है जीवत्व ही ब्रह्म के अध्यास का कारण होता है। इसलिए जीव तथा ब्रह्म का भेद

मिथ्या होता है। जीव तथा ब्रह्म का वास्तविक भेद तो होता ही नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म में कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वादि बन्धन अध्यास के कारण से ही कल्पित होता है। इसलिए मिथ्याभूत बन्ध ब्रह्म ज्ञान होने पर नष्ट हो जाता है यह सिद्ध होता है। इस प्रकार से अध्यास के कारण से अद्वैतवेदान्त के विषय प्रयोजन की सिद्धि होती है। अधि उपसर्ग पूर्वक दिवाणि गण की अस् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर अध्यास शब्द सिद्ध होता है। घञ् प्रत्यय दो अर्थों में होता है। भाव तथा कर्म। जब जब भाव अर्थ में होगा तब यहाँ पर भाव अर्थ में अध्यास पद का अर्थ होता है। आरोप क्रिया तथा घञ् प्रत्यय के कर्म अर्थ में होने पर अध्यास पद का अर्थ 'आरोपितपदार्थ' यह अर्थ होता है।

अध्यास के लक्षण शंकराचार्य के द्वारा स्मृतिरूप, तथा अन्य जगहों पर पूर्वदृष्टाभास होता है। भामतीकार इस प्रकार से अध्यास के लक्षण को सम्भव रूप में मानते है, अवसन्न तथा अवमत जो भाग होता है वह अवभास कहलाता है, यह उसकी व्याख्या है। स्मृतिरूप पद का असन्निहित विषय यह अर्थ होता है। इस पद के द्वारा प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति का निवारण हो जाता है। परत्र पद के द्वारा यथार्थज्ञान होने पर अतिव्याप्ति का निवारण हो जाता है। पूर्वदृष्टपद के द्वारा अरोपणीय उल्लेख से उसका मित्थ्यातत्व जाना जाता है। विवरणकार के मत में ही परत्रावभास यही लक्षण अध्यास के स्पष्टार्थ के रूप में किये गये है। वहाँ पर स्मृतिरूप शब्द का स्मर्यमाणसदृश इस प्रकार का अर्थ किया गया है। तथा परत्र पद का स्वभिन्न अर्थ है और पूर्वदृष्टपद का पूर्वदृष्ट सजातीय अर्थ है। अवभास पद का ज्ञान तथा ज्ञेय अर्थ होता है। यह ही अध्यास ज्ञानाध्यास तथा अर्थाध्यास के रूप में दो प्रकार का होता है। इसलिए दूसरी जगह पर शुक्ति में पूर्वदृष्ट का पूर्वदृष्टसजातीय रजत के स्मर्यमाणसदृश अवभासमान के विषय का अध्यास पद के द्वारा ग्रहण होने से अर्थाध्यास में लक्षण की सङ्गति होती है। धर्म्यध्यास धर्माध्यास तथा सम्बन्धाध्यास इस प्रकार से तीन प्रकार के अर्थाध्यास विभाजित होते हैं। अर्थाध्यास फिर तादात्म्याध्यास तथा संसर्गाध्यास के रूप में दो प्रकार होता है ऐसा कुछ लोग कहते हैं। सोपानाधिकरण के रूप में भेदनाध्यास भी फिर दो प्रकार का होता है। साद्य तथा अनादिभेद के द्वारा भी अध्यास के दो प्रकारों की विद्वानों ने कल्पना की है।

सभी प्रकार के लौकिक तथा वैदिक व्यवहार अध्यास के कारण ही सम्भव होते हैं। उसी प्रकार देह तथा इन्द्रियादि में ब्रह्म के अध्यास होने पर ब्रह्म का प्रमातृत्व सिद्ध होता है। ब्रह्म के प्रमातृत्व सिद्ध होने पर प्रमाणप्रवृत्ति होती है। उससे ज्ञान सम्भव होता है। इसलिए सभी प्रकार का लौकिक व्यवहार अध्यास के कारण से ही होता है। पण्डितों का मूर्खों का, पशुओं का तथा सभी का प्रमाण प्रमेय पूर्वक लौकिक व्यवहार अध्यास के कारण से ही होता है। शास्त्रीय व्यवहार भी ब्रह्म मे वर्णाश्रम व्यावस्था आदि विशेष के साध्य से आश्रित होकर ही प्रवर्तित होता है। इसलिए लौकिक तथा वैदिक व्यवहारों का आध्यासिकत्व होता है।

आपने क्या सीखा

- अद्वैत वेदान्त में अध्यास के आलोचन में प्रयोजन को जाना।
- अध्यासपद का व्युत्पात्तिलभ्य अर्थ को जाना।
- अध्यास का लक्षण तथा अध्यास लक्षण विचार को जाना।
- लौकिक तथा शास्त्रीय व्यवहारों को आध्यासिकता को जाना।

ध्यान दें:

पाठांत प्रश्न

1. चार पुरुषार्थ कौन-कौन से होते हैं?
2. अद्वैतवेदान्त के प्रतिपाद्यविषयों का सार क्या है?
3. ब्रह्म का शुद्धत्व किस प्रकार से है?
4. ब्रह्म का आनन्दस्वरूप किस प्रकार से है?
5. मुक्ति किसे कहते हैं?
6. बन्ध के मिथ्यात्व की प्रतिपादिका श्रुतियाँ कौन-कौन सी है?
7. असत् किस कहते हैं तथा उसका उदाहरण क्या है?
8. ब्रह्म में नानात्व प्रतीति का क्या हेतु है?
9. छः अनादि कौन-कौन से हैं?
10. वय के अध्यास का उदाहरण क्या है?
11. अवस्थाध्यास का उदाहरण क्या है?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 13.1

1. अद्वैत वेदान्त का प्रतिपाद्यविषय ही जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य है।
2. अद्वैत वेदान्त शास्त्र के प्रयोजन का विषय मोक्ष है।
3. ब्रह्म में आरोपितत्व जीव के स्वरूप का ज्ञान होने पर बन्धनों की निवृत्ति को मिथ्यात्व कहते हैं।
4. सन्दिग्ध के सप्रयोजन होने पर ही विषय में विचार सम्भव होता है।
5. देहेन्द्रियादि की अभिन्नतया के द्वारा ब्रह्म का सामान्य ज्ञान होता है। लेकिन सर्वोपाधि विनिर्मुक्तता से द्वारा ब्रह्म का विशेषज्ञान जीवों को नहीं होता है। इसलिए ब्रह्म का सन्दिग्धत्व होता है।
6. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, सच्चिदानन्दं ब्रह्म इस प्रकार से उपनिषद् वाक्य है।
7. नेह नानास्ति किञ्चन,अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्,अवाङ्मनसगोचरम् इत्यादि श्रुतियों के निषेध मुख के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन करते है।
8. अधिपूर्वक दिवादिगण की अस् धातु से भाव अर्थ में तथा कर्म अर्थ में घञ् प्रत्यय करने पर अध्यास पद निष्पादित होता है।
9. भावव्युत्पत्ति के द्वारा अध्यासपद की आरोपक्रिया यह अर्थ है। कर्मव्युत्पत्ति से अध्यास पद की आरोपित वस्तु होती है।

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 13.2

1. असर्पभूत रस्सी में सर्प के आरोप के जैसे वस्तुओं में अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप होता है।
2. स्मृतिरूप परत्र पूर्वदृष्टाभास इस प्रकार से .
3. अवभास यह भामतीकार के मत में अध्यास का संक्षिप्त लक्षण है।
4. अवसन्न अवमत जो भास होता है वह अवभास कहलाता है।
5. ज्ञान के अवसाद का नाम ज्ञान उच्छेद तथा उत्तरज्ञान का बाध्यत्व होता है।
6. ज्ञान का अवमान यौक्तिक तिरस्कार कहलाता है। इच्छाप्रवृत्यादिकार्य सम्पादन में अक्षमता तथा ज्ञान का तिरस्कार है।
7. असन्निहित विषय यह अर्थ है।
8. प्रत्यभिज्ञा में विषय के सन्निहत होने से अतिव्याप्ति का निवारण होता है।
9. विवरणमत में परत्र अवभास होना यही अध्यास का लघु लक्षण होता है।
10. दोष का संस्कार सम्प्रयोग होता है तथा कारणत्रितय जन्यत्व स्मृति का स्वरूप होता है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 13.3

1. अध्यास दो प्रकार का होता है अर्थाध्यास तथा ज्ञानाध्यास।
2. अधिष्ठान में आरोपित वस्तु का अर्थाध्यास होता है। जैस शुक्ति में रजत का अध्यास ही अर्थाध्यास है।
3. अधिष्ठान में आरोपित वस्तु के ज्ञान का अध्यास ही ज्ञानाध्यास है। जैस शुक्ति में रजत के ज्ञान का अध्यास।
4. धर्म्यध्यास धर्म्याध्यास सम्बन्धाध्यास इस प्रकार से अर्थाध्यास तीन प्रकार का होता है। तादात्म्याध्यास संसर्गाध्यास इस प्रकार से अर्थाध्यास दो प्रकार का होता है ऐसा कुछ लोग कहते हैं।
5. एक धर्म में ही सम्बन्धमात्र का आरोप ही सम्बन्धाध्यास होता है। जैस आत्मा में सम्बन्ध हीन शरीर के सम्बन्ध अध्यास होकर के होता है और हम मेरा शरीर यह प्रयोग करते है।
6. एक धर्म में अपरधर्मी का अध्यास ही धर्म्यध्यास होता है। जैस शुक्ति में रजत का अध्यास।
7. एक धर्म में अपर धर्मी के धर्म का अध्यास ही धर्माध्यास है। जैस रस्सी में धर्मी सर्प के विषयुक्तत्व धर्म का अध्यास ही धर्माध्यास कहलाता है।
8. उपाधिदृष्टि से अध्यास दो प्रकार का होता है। सोपाधिक तथा निरूपाधिक।
9. जिस अध्यास में कारणरूप से कोई उपाधि होती है। सोपाधिक अभ्यास कहलाता है। जैसे दो चन्द्रों का दर्शन सोपाधिक अभ्यास है। अङ्गुली आदि का व्यापार वहाँ पर उपाधि होती है।
10. सोपाधिक अभ्यास न केवल अधिष्ठानज्ञान मात्र के द्वार निवर्तित होता है अपितु उपाधि नाश के द्वारा यहाँ पर ज्ञान का भी नाश होता है।

ध्यान दें:

11. जिस अध्यास में कारण रूप से कोई उपाधि नहीं होती है वह निरूपाधिक अध्यास कहलाता है। जैस शुक्ति में रजत का ज्ञान।
12. जिस अध्यास की उत्पत्ति का निरूपण किया जात सकता है वह सादिध्यास कहलाता है। जैसे शुक्ति में रजत का अध्यास वह सादि अध्यास है।
13. जिस अध्यास के आदि का निरूपण नहीं किया जा सकता है वह अनादि अध्यास होता है। जैसे आत्मा में अविद्या का अध्यास वह अनादि है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 13.4

1. देहेन्द्रियादि में अहं के अभिमान में सत्य ही असङ्ग आत्मा तथा प्रमाता होता है।
2. आत्मा में वर्णाश्रम, वय, अवस्था आदि विशेष अध्यास के आश्रित होने से ही शास्त्रों की प्रवृत्ति दर्शन से शास्त्रों का आध्यासिकत्व होता है।
3. ब्रह्मणो यजेत, राजा राजसूयेन यजेत इत्यादि।
4. गृहस्थ को सदृश भार्या का ही लाभ प्राप्त हो, इस प्रकार से।
5. मैं कामना करता हूँ। मैं सङ्कल्प करता हूँ, इस प्रकार से।
6. आत्मा में अनात्मा का अध्यास ही सभी अनर्थों का हेतु है।

14

अध्यास कारण विचार

ब्रह्म में अखिल जगत् अध्यसत् है। जगत् ही मिथ्या होता है। जीव अज्ञान के कारण से अपने स्वरूप को नहीं जानता हुआ सुखदु:खादि का अनुभव करता है। ब्रह्म के अज्ञान के कारण ही मिथ्याभूत अन्त: करण के साथ मिथ्या सम्बन्धवश ब्रह्म का जीव भाव हो जाता है। जगत के मिथ्यात्व के जानने के बाद वैराग्य उत्पन्न होता है। जीव भाव के मिथ्यात्व को जानकर के जैसे जीव अपने स्वरूपज्ञान के लिए प्रवर्तित होता है उसके लिए अभ्यास किस प्रकार का होता है यह जानना चाहिए। जैसे ज्वर का कारण जान लेते हैं तो ज्वर के नाश के लिए उपचारों की कल्पना में सरलता आ जाती है। उसी प्रकार अध्यासकारणों को जानने के बाद उनका निरोध सरल हो जाता है। अध्यस्त क्या है तथा सत्य और असत्य क्या है इसके ज्ञान के लिए अध्यस्त के स्वरूप को अच्छे से जानना चाहिए। अध्यस्त वस्तु का वह क्या स्वरूप है जिसमें भारतीय आस्तिक दर्शनो में परस्पर मतविरोध भी होता है। इससे पूर्व पाठ में अध्यासलोचन का प्रयोजन, अध्यास लोचन का लक्षण, अध्यास के भेद, अध्यासत्व, आदि प्रमाण उपस्थापित किये गये हैं। इस पाठ में हम अध्यास कारणों का तथा अध्यस्त वस्तुओं के स्वरूप को तथा उस वस्तु के प्रतिपादन के विषय में भारतीय दर्शनों के जो परस्पर विरुद्धमत है उनका आलोचन करेंगे।

उद्देश्य

इस पाठ को पढ़कर के आप सक्षम होंगे;

- अध्यस्त वस्तुओं की उत्पत्ति तथा उनके प्रकार को जानने में;
- भ्रमज्ञान के स्वरूप को जानने में;
- अध्यास का उपादान तथा निमित्ति कारण जानने में;
- अध्यस्त वस्तुओं के स्वरूप को जानने में;
- सलक्षण सत्ता त्रय को जानने में;
- विवर्त तथा परिणाम के स्वरूप को जानने में;

ध्यान दें:

14.1) अध्यस्तवस्तु उत्पत्ति विचार

यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं, वेदान्त परिभाषा में प्रमा का लक्षण- "अनधिगताबाधितार्थविषयत्वज्ञानत्व कहा गया है"। इस प्रकार से ब्रह्मचैतन्य अखिलप्रपञ्च का उपादान होता है उससे सभी जगह तादात्म्य होने के कारण वर्तमान में सत् दिखता हुआ स्व संसृष्ट जगत् अवभासित होता है। इसलिए अप्पयदीक्षित ने सिद्धान्तलेशसंङ्ग्र में जीवाल्पज्ञत्व के विषय में विवरणमतालोचन काल में कहा है- "ब्रह्मचैतन्यं सर्वोपादनतया सर्वतादात्म्यापन्न सत् स्वसंसृष्ट होने पर सभी को अवभासित करता है, न की जीवचैतन्य"। जीव का अन्त: करण के साथ ही साक्षात् सम्बन्ध होता है बाह्यघटादि के साथ उसका साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता है। जब अन्त: करण नयन आदि के द्वारा जाकर के विषयपर्यन्त दीर्घप्रभाकार में परिणित होकर के विषय को प्राप्त करता है तब उसकी विषयाकार वृत्तियों का उदय होता है। वह अन्त: करणवृत्ति विषय चैतन्य के आवरक अज्ञान का अभिभव करती है। उसके द्वारा विषय चैतन्य की अभिव्यक्ति उत्पन्न होती है। उस विषय से ज्ञान होता है।

ज्ञान का ब्रह्मस्वरूपत्व भी वृत्तिधर्म जन्यत्व के ज्ञान में आरोपित होने से ज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा कहा जाता है। प्रकाशात्मयति के द्वारा विवरण मे कहा गया है कि - "ज्ञानावच्छेदकत्व से वृत्ति में ज्ञानत्व उपचार होता है"। जिस प्रकार से विषय प्रत्यक्षनिमित्त चैतन्य तीन प्रकार का चैतन्य कहा जाता है- विषय चैतन्य, प्रमाण चैतन्य, और प्रमातृचैतन्य। घटावच्छिन्न चैतन्य विषयचैतन्य होता है अन्त: करणवृत्यवच्छिन्नचैतन्य प्रमाणचैतन्य होता है तथा अन्त: करणावच्छिन्न चैतन्य प्रमातृचैतन्य होता है। जैसे तालाब का जल छिद्र से निकलकर नालिका के द्वारा केदार में प्रवेश करके केदार के आकार के अनुसार त्रिकोण चतुष्कोण आदि आकार वाला हो जाता है तथा तेज अन्त: करण चक्षु आदि के द्वार निकल कर घटादि विषय देश में जाकर के घटादि विषयाकार में परिणमित हो जाता है। यह परिणाम ही वृत्ति कहलाता है। इस प्रकार से विषयावच्छिन्न चैतन्य तथा प्रमातृचैतन्य दोनों में अभेद होन पर विषय का ज्ञान होता है। विषयावच्छिन्न चैतन्य की चैतन्यस्वरूप से प्रमातृचैतन्य के समान ही सत्ता होती है । इसलिए उन दोनों का एक्य होने के कारण कोई उपपत्ति नहीं होती है। अधिष्ठान की सत्ता ही आरोपितों में होती है। न की आरोपितों की भिन्न सत्ता होती है। विषयादि सकल प्रपञ्च ब्रह्म में अध्यस्त होते हैं। इसलिए सभी जगहों पर ब्रह्म सत्ता ही अनुवर्तित है।

इस प्रकार से शुक्तिरूप आदि के भ्रमस्थल में देशान्तरस्थ रजत का शुक्ति में भान नहीं होता है। उसके असन्निकृष्टत्व के कारण उसकी प्रत्यक्ष विषयता सम्भव नहीं होती है। तो कहते हैं की रजत उत्पादक रजत अवयवों का शुक्ति में अभाव होने से किस प्रकार से प्रातिभासिकरजत की उत्पत्ति होती है तो कहते है कि लोक प्रसिद्ध सामग्री प्रातिभासिक रजत का उत्पादन करती है लेकिन विलक्षण ही सामग्री यहाँ पर अपेक्षित होती है।

इस प्रकार से प्रकाश कारण से चकाचौंध शुक्ति को देखकर के काचकामलादि दोष से दूषित आँख से सामने स्थित शुक्ति के द्रव्य के संसर्ग से यह सामने वाला आकार चकाचौंध वाला है इस प्रकार की कोई अन्त: करण में वृत्ति का जन्म होता है। उसी वृत्ति में यह अवच्छिन्न चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। वहाँ पर तडागोदक न्याय से वृत्ति के निर्गमन से यह शुक्ति रूप समान देश स्थत्व से अवच्छिन्न चैतन्य ही वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य प्रमातृचैतन्य तथा उससे भिन्न होता है । अन्त: करण की वृत्ति के द्वारा यहाँ पर यह सामान्यमात्र रूप विषयी होता है न कि शुक्तिरूपविशेष। वहाँ से प्रमातृचैतन्यभिन्न विषयचैतन्यनिष्ठा शुक्तित्वप्रकारिका अविद्या चकाचौंध आदि सादृश्य के दर्शन के कारण से उद्बोधित रजत संस्कार सामग्री सहित तथा काचकामालादि दोष सहित रजतरूप अर्थ के कारण से रजतज्ञान भास के द्वारा। परिणाम से प्राप्त होता है।

ध्यान दें:

इन्द्रिय दोष सादृश्य संस्कारादि सामग्री सहित अविद्या एक ही प्रकार से रजत के रूप में कभी रंग के रूप में परिणमित होती है। ऐसा कहा जाता है कि जो पुरुषीय अविद्या जिस प्रकार के संस्कार के साथ होती है, वह उस पुरुष के उसी प्रकार में ही परिणमित होती है न की अन्याकार में। यहाँ पर इष्टसिद्धिकार कहतें है कि रंङ्गस्याज्ञानं भ्रमस्तस्य भ्रान्तः सम्यक् च वेत्ति सः (जिसका ज्ञान ही भ्रम है उसका ज्ञान करने वाला अच्छे से जानता हुआ भी भ्रान्त हो जाता है) इसलिए एक ही शुक्ति में किसी को रजत भ्रम तो किसी को रङ्ग का भी भ्रम हो जाता है।

इस प्रकार से शुद्ध ब्रह्म में घटादि व्यावहारिक वस्तु अध्यास में अविद्या ही दोषत्व से हेतु होती है। शुक्तिरूप्य आदि स्थलों में तो काचकामलादि आदि दोष के रूप में अङ्गीकार किये जाते हैं। इसलिए आगन्तुक दोषजन्यत्व प्रातिभासिकत्व में नियामक होता है। स्वप्न में रथ आदि का आगन्तुक निद्रादि दोषजन्यत्व से प्रातिभासिकत्व होता है। यह ही धर्म्यध्यास कहलाता है।

धर्मी के विवेक को जान लेने पर भी एकधर्मिगत धर्मों के अन्यधर्मी अध्यास में उदाहरण होता है पीतः शङ्खः (पीला शङ्ख) इस प्रकार से।

जिस प्रकार से बाहर घूमते समय स्वच्छ नयन रश्मि पित्तदोष से दूषित होने के कारण पीत मात्र का अनुभव करता हुआ शङ्ख में इन्द्रिय दोष के कारण से शुक्लता को नहीं देखता हुआ व्यक्ति शङ्ख में भी पीत वर्ण ही देखता है, तथा पूर्वदृष्ट अनुभव से ही अनुभूय पीतं तपनीयपिण्डम् पीतं बिल्वफलत् इत्यादि में भी पूर्वदृष्ट पीत्वत तथा शङ्ख का आरोप करता है। इस प्रकार से पीतः शङ्खः यह उदाहरण वाचस्पतिमिश्रादि के द्वार दिया गया है।

14.2) भ्रम ज्ञान विचार

शुक्ति में रजत रूप में उत्पन्न होने वाला भ्रम ही होता है। भ्रमज्ञान होने पर अधिष्ठान के एकदेश में होने से तादात्म्य भान होता है। जहाँ पर आरोप होता है। वह अधिष्ठान कहलाता है। जब शुक्ति में रजत का आरोप होता है तब शुक्ति रजत का अधिष्ठान कहलाती है। अधिष्ठान का सामान्य अंश विशेषार्थ होते हैं। जैसे यह रजत है इस प्रकार का ज्ञान होने पर यह शुक्ति का सामान्य अंश है। जब काचकामलादि दोष दूषित चक्षु इन्द्रिय के साथ शुक्ति का संयोग होता है। तब चक्षु के द्वारा अन्तः करण का शुक्ति के सम्बन्ध वश इस प्रकार के आकार वाली अन्तः करण की वृत्ति उत्पन्न होती है। इन्द्रयों के दोष के कारण से शुक्तित्व-नीलपृष्ठत्वादि विशेष का ज्ञान नहीं होता है। इसलिए यह रजत है इस प्रकार के ज्ञान में इदं अंश मिथ्या होता है जो की स्वरूप से मिथ्या नहीं होता है। इसलिए पञ्चदशीकार विद्यारण्यस्वामी ने कहा है "इदमंशस्य सत्यत्वं शुक्तिगं रूप्य ईक्षते" इस प्रकार से यहाँ पर प्रत्येक में अधिष्ठान का सामान्य अंश होता है। शुक्ति में आरोपित रजत के साथ अन्तः करण का संयोग नहीं होता है इसलिए रजताकार अन्तः करण की वृत्ति का उदय नहीं होता है। अद्वैत वेदान्त के ज्ञानस्थल में विषयाकार वृत्ति को हमेशा अङ्गीकार करना चाहिए, इसलिए शुक्ति में रजत के ज्ञान स्थल पर रजताकार अविद्या वृत्ति अङ्गीकार की जाती है। उससे रजत का ज्ञान सम्भव होता है। यह रजत ही भ्रमज्ञान में विद्यमान होता है, व्यहारिक रजत के वहाँ पर अविद्यमानत्व से यह रजतांश तो यहाँ पर मिथ्या होता है। इसलिए-

यद्यपि सन् इत्यंशेन सह नास्ति घटस्य सम्बन्धः तथापि घटेन सह तादात्म्येन सन् इत्यंशस्य भानात् घटः सन् इति ज्ञानं भ्रम एव। एवं सर्वत्रानुसन्धेयम्।

यह रजत है यहाँ पर भ्रम ज्ञान होने पर इदमंश स्वरूप से तो मिथ्या नहीं होता है, रजत का अंश ही मिथ्या होता है। शुक्त्यंशत्व के कारण इदं अंश के साथ रजत का सम्बन्ध नहीं होता है, लेकिन यह

ध्यान दें:

रजत है इस प्रकार का ज्ञान होने पर इदं के तादात्म्य के द्वारा रजत के भान से यह रजत है इस प्रकार का ज्ञान मिथ्या होता है।

इसी प्रकार ब्रह्म में प्रपञ्च का ज्ञान आरोपवश होता है। सत्ताविशिष्ट सत्तादात्म्यापन्न घट होता है। यह ज्ञान हो जाने पर सत्ताविशिष्ट अधिष्ठान ब्रह्म का यह स्वरूप मिथ्या नहीं होता है। घट के ब्रह्म में आरोपितत्व से मिथ्यात्व द्वारा होता है। भले ही इस अंश के साथ घट का सम्बन्ध नहीं है फिर भी घट के साथ तादात्म्य से इस अंश के भान से घट होता है यह ज्ञान भ्रम ही है। इस प्रकार से सभी जगहों पर अनुसन्धान करना चाहिए।

पाठगत प्रश्न 14.1

1. प्रमा का लक्षण क्या है?
2. विषयचैतन्य किसे कहते हैं?
3. प्रमाणचैतन्य किसे कहते हैं?
4. प्रमातृचैतन्य किसे कहते हैं?
5. शुक्ति तथा रजत की उत्पत्ति में इन्द्रियदोष क्या होता है?
6. प्रातिभासिकत्व में नियामतक क्या होता है?
7. यह रजत है इस प्रकार का ज्ञान होने पर कौन शुक्ति के सामान्यांश का निर्देश करता है?
8. इदम् अंश के सत्यत्व होने पर कैसे यह रजत है इस प्रकार का ज्ञान होने पर वह भ्रम कहलाता है?
9. इन्द्रियदोष के कारण से शुक्ति के किन अंशो का ज्ञान नहीं होता है?
10. ज्ञानस्थल में अन्तः करण की वृत्ति किसलिए अपेक्षित है?
11. एक ही अविद्या कभी रजत के रूप में कभी रङ्ग के विपरिणित होती है?

14.3) अध्यास का उपादान तथा निमित्त कारण

आगन्तुक दोष के संस्कार के लिए अधिष्ठान समान्य ज्ञान सादृश्य अविद्या ही अध्यस्त वस्तु के उत्पत्ति में हेतु रूप से अङ्गीकार की जाती है। उनमें सत् ही अध्यास होता है न की उसका अभाव, इन कारणों में फिर अविद्या ही अध्यस्तवस्तु की उपदानकारण होती है। अन्य तो निमित्त कारण होते हैं। जिस से कार्य की उत्पप्ति होती है तथा कार्य का नाश होने पर कार्य का लय जहाँ पर होता है वह ही उपादान कारण है। जिस प्रकार से घट मृत्तिका से उत्पन्न होता है तथा घट का नाश होने पर घट का मृत्तिका में ही लय हो जाता है। इसलिए मृत्तिका ही घट का उपादान कारण है। अध्यस्त वस्तु से उत्पन्न होने वाली अविद्या का परिणाम ही होता है। सभी प्रकार के कार्य उन उपादान कारण की अविद्या के अधिष्ठान ब्रह्म में रुकते हैं। इसलिए शुक्ति में प्रतीयमान रजत वस्तुगत होती हुई शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त होती है। वेदान्तपरिभाषा में धर्मराजध्वरीन्द्र ने कहा है- "अस्मन्मते सर्वस्यापि कार्यस्य स्वोपादानाविद्याधिष्ठानाश्रितत्वनियमात्" इस प्रकार से प्रातिभासिक रजत का परिणाम उपादान कारण अविद्या होती है तथा विवर्त का उपादानकारण यह अवच्छिन्न चैतन्य ही होता है।

ध्यान दें:

संस्कार अध्यास का कारण नहीं होता है प्रथम उत्पत्ति होने के कारण संस्कार के अभाव से। इसलिए कहा गया है ब्रह्म में वर्तमानजगत् अध्यास के प्रति पूर्वजगत् संस्कार हेतु होता है। लेकिन सर्वप्रथम जगत् की उत्पत्ति होने के कारण किस प्रकार संस्कार हेतु होता है तब कहते है कि संसार अनादि है इसलिए जगत् का प्रथम निरूपण अशक्य होता है। उसका आश्रय लेकर यह पूर्वपक्ष भी सम्भव नहीं होता है। इसलिए शङ्कराचार्य ने श्रीमद्भगवद्गीता के भाषा में कहा है कि **"यथा अस्मिन् जन्मनि देहादिसङ्घाताभिमानरागद्वेषादिकृतौ धर्माधर्मौ तत्फलानुभवश्च, तथा अतीते अतीततरेऽपि जन्मनि इति अनादिरविद्याकृतः संसारः अतीतोऽनागतश्च अनुमेयः"।**

सादृश्य सभी जगह अध्यास में निमित्तकारणरूप से नहीं होता है, सादृश्य का अभाव भी अध्यास में बहुत बार होता है। जैसे पीला शङ्ख, आकाश में मालिन्य का अभाव इत्यादि। रस्सी में सर्प का भय भले ही अवयवगत सादृश्य के कारण होता है फिर भी ब्रह्म प्रपञ्च अध्यास में ब्रह्म प्रपञ्च का किस प्रकार का सादृश्य हेतुत्व के रूप में होता है। दृष्टा तथा दृश्य में जड तथा चैतन्य में, तम तथा प्रकाश के अविरुद्धस्वभाव में, ब्रह्म तथा प्रपञ्च में अत्यन्तवैलक्षण्यसत्व होने पर भी 'अहमिदं मम्इदम्' यह में हूँ तथा यह मेरा है इस प्रकार के तादात्म्य अध्यास के दर्शन से सादृश्य के सभी प्रकार के अध्यास के प्रति कारणत्व अङ्गीकार किया नहीं जाता है। इसलिए कहा गया है

विवर्तस्तु प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मणोऽपरिणामिनः।
अनादिवासनासम्भूतो न सारूप्यमपेक्षते॥ इति।

नृसिंहभट्ट उपाध्याय के मत में जहाँ पर अध्यास शुक्तित्वदि विशेष दर्शन के द्वारा प्रतिबद्ध होता है वहाँ पर अध्यास सादृश्य ज्ञान का कारणत्व होता है। उसी मत को सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह में ग्रहण किया गया है- **''सादृश्यज्ञानस्याध्यासकारणत्ववादेऽपि विशेषदर्शनप्रतिबध्येषु रजताद्यध्यासेष्वेव तस्य कारणत्वं वाच्यं, न तु तदप्रतिबध्येषु पीतशङ्खाद्यध्यासेषु, असम्भवात्''** इति। अर्थात् सादृश्य ज्ञान का अध्यास कारणत्व वाद होने पर भी असम्भव होने के कारण विशेष दर्शन प्रतिबद्ध रजताध्यासो में ही उसका कारणत्व वाच्य होता है, न की उसके प्रतिबद्धपीतशङ्खादि अध्यासों में। इस प्रकार से सादृश्य का कुछ कारण अङ्गीकार किया जाता है।

14.4) अध्यस्त वस्तु का स्वरूप

आरोपित वस्तु का अनिर्वचनीयत्व अद्वैत वेदान्ति अङ्गीकार करते हैं। जैस शुक्ति में रजत सत् नहीं होता है, उसके सत् होने पर यह शुक्ति है इस प्रकार के उत्तर ज्ञान के द्वार उसका बाध नहीं होता है। आत्म के द्वारा शुक्ति को रजत के रूप में ग्रहण करता हुआ व्यक्ति भ्रमित होता है। शुक्ति में प्रतीत होने वाला रजत् असत् है यह भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि वह उसमें प्रतीत होता है। शुक्ति में जो रजत है वह दूसरे स्थान पर है ऐसा भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि यह रजत है यहाँ पर इदम् अहंकार के द्वारा पूर्व में अवस्थित तत्व का ही निर्देश दिया गया है। इसलिए शुक्ति में रजत है यह बाधित भी नहीं होता है तथा जो प्रतीत होता है वह भी नहीं होता है। उस रजत को सत् तथा असत् के रूप में अङ्गीकार भी नहीं किया जा सकता है क्योंकि सत् तथा असत् के परस्पर विरुद्ध होने के कारण उसका सामानाधिकरण्य सिद्ध नहीं होता है। इसलिए रजत न तो सत् है और नहीं असत्, तथा सदसत् दोनों ही नहीं है। अपितु वह सद् तथा असत् दोनों के द्वारा अनिर्वचनीय है।

वह रजत अज्ञानोप पादक तत्कालोत्पन्न अभिनव होता है। रजत के बिना रजत का ज्ञान सम्भव नहीं होता है। इसलिए पूर्ववर्ती शुक्ति में ज्ञानकाल में प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति अङ्गीकार करना चाहिए। उस रजत के दूसरे स्थान पर असत्व होने से तथा वहाँ पर उत्पन्नत्व से उसका अभिनवत्व सिद्ध होता है।

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्न 14.2

1. अध्यस्तवस्तृत्पत्ति में कौन हेतु के रूप में रुकते हैं?
2. अध्यस्तवस्तु का क्या उपादान होता है?
3. आगन्तुकदोष संस्कारादि अध्यस्तवस्तु के किस प्रकार से कारण कहलाते हैं।
4. उपादानकारण किसे कहते हैं?
5. सभी प्रकार के कार्य कहाँ पर अध्यस्त कहलाते हैं?
6. किन अध्यासों में सादृश्य का ज्ञान कारण कहलाता है?
7. अद्वैत वेदान्त के मत में आरोपित वस्तु का क्या स्वरूप होता है?
8. ब्रह्म में प्रपञ्च का अध्यास होने पर सादृश्य के रूप में क्या हेतुत्व होता है?

14.5) ख्यातिवाद

व्यक्त वाक् के अर्थ में विद्यमान चक्ष् धातु से भाव अर्थ में क्तिन् प्रत्यय करने पर ख्याति शब्द निष्पन्न होता है। ख्याति शब्द का ज्ञान यह अर्थ होता है। दर्शनशास्त्र में ख्याति शब्द भ्रम में भासमान वस्तु के ज्ञान के रूप प्रयुक्त है। दार्शनिक लोग भ्रम में भासमान वस्तु के स्वरूप के विषय में बहुत प्रकार के मत उपस्थापित करते हैं। इसलिए विविध प्रकार की ख्यातियाँ प्रसिद्ध हो चुकी हैं। उनमें आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति, अनिर्वचनीयख्याति, ये पाँच ख्यातियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इसलिए कहा भी गया है।

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।
तथानिर्वचनख्यातिरित्येतत्ख्यातिपञ्चकम्॥
योगाचारा माध्यमिकास्तथा मीमांसका अपि।

नैयायिक तथा मायावादियों ने पाँच ख्याति क्रम से मानी है। इनके अलावा रामानुज की सत्ख्याति, वीरशैवों की अलौकिकख्याति, विज्ञानभिक्षु की सदसत्ख्याति, भाट्ट तथा पातञ्जलों की अन्यथाख्याति, इत्यादि ख्यातियों के विचार करने के समय सबसे पहले इनके आलोचन का विषय उपस्थित हो जाता है। अतः सर्वप्रथम मुख्य पाँच ख्यातियों का आलोचन उपस्थापित किया जा रहा है।

आत्मख्याति सौत्रान्तिक-वैभाषिक तथा योगाचारों का ख्यातिविषयक वाद आत्मख्याति इस प्रकार से कहलाता है। इसलिए इनके मत में रजतभ्रम में प्रतीयमान रजत ज्ञानकारक होता है तथा उसका बाहर आरोप होता है। सौत्रान्तिकों के मत में बाहर प्रत्यक्ष विषय में, वैभाषिकों के मत में बाहर अनुमान के विषय में, योगाचारों के मत में अनादि अविद्या वासनारोपित अलिकबाह्य विषय में ज्ञानाकार का आरोप होता है। इसलिए उनके मत में बाह्यशुक्त्यादि में ज्ञानाकार रजत का आरोप होता है। बोद्धों के मत में विज्ञानप्रवाह अतिरिक्त आत्मा के अस्वीकार से रजत की विज्ञानस्वरूपत्व से जो ख्याति होती है वह आत्मख्याति कहलाती है।

अख्याति प्राभाकरमीमांसकों का अख्यातिवाद प्रसिद्ध है। उनके मत में सभी प्रकार का ज्ञान समीचीन होता है। प्रभाकर के मत में यह रजत है इस प्रकार से शुक्तिरजतज्ञानस्थल मे ही दो प्रकार के ज्ञान होते है। वहाँ पर इदं यह प्रत्यक्ष का विषय तथा रजत यह स्मृति का विषय होता है। इसलिए इन दोनों में महान भेद होता है। लेकिन उन दोनों के भेद के अग्रहण से समानाधिकरण्य के द्वारा यह रजत

है इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। क्योंकि अनुभव तथा स्मरण में विवेक के (भेद के) अग्रहण से यह रजत है इस प्रकार का लोकप्रसिद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए इनके मत में विवेकख्याति ही अख्याति कहलाती है।

अन्यथाख्याति नैयायिकों का तथा भाट्टमीमांसकों का वाद अन्यथा ख्यातिवाद कहलाता है। विपरीतख्याति इसका दूसरा नाम है। नैयायिकों के मत मे शुक्ति में यह रजत है, इस प्रकार के भ्रमस्थल में देशान्तरस्थ रजत ही पुरोवर्तिनी शुक्ति में प्रतिभासित होता है। इसलिए शुक्ति के अन्यथा देशान्तरस्थरजतादिरुप के ज्ञान से यह इनके मत में अन्यथा ख्याति कहलाती है।

असत्ख्याति शून्यवादि तथा माध्यमिक बौद्ध ही असत्ख्यातिवादी कहलाते हैं। इनके मत में यह रजत है इस प्रकार से शुक्ति में रजत के भ्रमस्थल पर अधिष्ठान शुक्ति भी असत् होती है तथा वहाँ पर प्रतीयमान रजत भी असत् ही होता है। शुक्ति में अत्यन्त असत् रजत की कल्पना से यह ख्याति असत् ख्याति इस प्रकार से कहलाती है।

अनिवर्चनीयख्याति अद्वैतवेदान्तियों के मत में तो शुक्ति में प्रतीयमान रजत ही सद् तथा असत् के द्वारा अनिर्वचनीय होता है। इसलिए यह रजत है यहाँ अद्वैत वेदान्तियों के द्वारा अनिर्वचनयीख्याति अङ्गीकार की गई है।

आत्मख्यातिवाद में विज्ञानधर्म के सत्य के ही रजत के भ्रमस्थल में स्वीकार करने से अख्यातिवाद में स्मृतिविषय के सत्य होने से ही विषय को शुक्ति में यह रजत है इस प्रकार से अङ्गीकार किया गया है। अन्यथाख्यातिवाद में देशान्तरस्थ सत्य के ही रजत के भ्रमस्थल में प्रतीयमानत्व से इनकी सत्ख्याति इस प्रकार के अभिधान के द्वारा भी व्यपदिष्ट होती है। इसलिए इष्टसिद्धिकार विमुक्त आत्मा के द्वारा कहा गया है कि-

अन्यथाख्यातिरख्यातिरात्मख्यातिरिति त्रयः।
सत्ख्यातिपक्षा नैतेऽपि विना सिध्यन्ति मायया।।

भगवान् रामानुजाचार्य का ख्यातिविषयक मतवाद भी सत्ख्याति कहलाती है। रामानुजाचार्य के मत में तो सबकुछ भूत पञ्चीकृत ही है। इसलिए शुक्ति में तथा रजत में बहुत सारे साधारण अवयव है। शुक्ति में रजत अवयव सदृशों को देखने के बाद ही यह ज्ञान होता हैं कि यह रजत है। लेकिन शुक्ति में रजतावयवसदृश अवयवों से अतिरिक्त जितनें भी अवयव होते हैं उनके ज्ञान के अभाव से शुक्ति में यह रजत है इसप्रकार से उत्पन्न होने वाला ज्ञान भ्रम ही कहलाता है। यहां पर रजतावयवसदृश अवयवों के शुक्ति में दर्शन से ज्ञान में भासमान विषय ही होता है।

पाठगत प्रश्न 14.3

1. ख्यातिपद का क्या अर्थ है?
2. आत्मख्यातिवादी कौन है?
3. अख्यातिवादी कौन हैं?
4. असत्ख्यातिवादी कौन है?
5. अद्वैतवेदान्तियों का ख्यातिवाद किस नाम से प्रसिद्ध है?
6. अन्यथाख्यातिवादी किसे अङ्गीकार करते हैं?

ध्यान दें:

7. अन्यथाख्याति का अपर नाम क्या है?

8. रामानुजचार्य का ख्यातिवाद किस नाम से प्रसिद्ध है?

14.6) परिणामवाद तथा विवर्तवाद

शुक्ति में प्रतीयमान रजत अज्ञान का परिणाम है। शुक्ति विषयक अज्ञान ही रजताकार में परिणमित होता है। वह रजत शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्य का विवर्त होता है। इसलिए अज्ञान ही शुक्ति रजत का परिणामी उपादान है, तथा इदमवच्छिन्न रजत ही शुक्ति रजत का विवर्तोपादन है। अपवाद स्वरूप कथन काल में सदानन्दयोगीन्द्र के द्वारा वेदान्तसार में परिणाम तथा विवर्त का स्वरूप आलोचित किया गया है। जैसे रस्सी कार्यभूत सर्प की जिस प्रकार से रस्सी के अलावा पृथक सत्ता नहीं है उसी प्रकार ब्रह्म से समुत्पन्न इस जगत् की भी ब्रह्म के अतिरिक्त पृथक् सत्ता नहीं है। अब कहते हैं की किस प्रकार से यह जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। सजातीय कारण से ही सजातीय कार्य की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार का दार्शनिकों का सिद्धान्त है। तथा इस मत को आधार मानकर के सांख्यों के द्वारा इस प्रतीयमान जगत् का तत्सजातीय कारण के रूप में सामान्य तथा दृष्ट अनुमान से प्रकृति का अनुमान किया गया है। लेकिन ब्रह्म जगत् का सजातीयत्व नहीं होता है। ब्रह्म चेतन तथा अचेतन जगत् के रूप में होता है, इसलिए विजायतीय ब्रह्म किस प्रकार से जगत् का कारण होगा, लेकिन यदि ब्रह्म ही जगत होता है तो यह प्रश्न हमेशा उठेगा की क्या सम्पूर्ण ब्रह्म ही जगत् के रूप में है अथवा ब्रह्म का कोई अंश जगत् के रूप में है। यदि पहले पक्ष को अङ्गीकार करें तो जगत के रूप में परिवर्तन के कारण से यह ब्रह्म नहीं है इस प्रकार का भाव होता है तथा दूसरे पक्ष को अङ्गीकार करें तो ब्रह्म के सावयव स्वरूप की आपत्ति उत्पन्न होती है। इसलिए यहाँ पर कहा गया है कि यह ब्रह्म जगत् के रूप में उत्पन्न नहीं होता है जिससे पूर्व आपत्ति का समाधान हो जाता है। यह जगत् ब्रह्म में आरोपित है, इसलिए जगद् ब्रह्म का विवर्त तथा अज्ञान का परिणाम कहलाता है। अब प्रश्न करते हैं की विवर्त किसे कहते हैं तथा परिणाम किसे कहते हैं। इसे सदानन्दयोगीन्द्र का एक वचन है

सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥ इति।

कारण के स्वरूप से ही अन्यथाभाव तथा अन्यरूप धारण करने वाला परिणाम होता है।स्वरूप को बिना त्यागे कारण का अन्यथा भाव विवर्त कहलाता है। जैसे दही दूध का परिणाम होता है, दूध स्वरूप ही अन्यथा स्थिति ग्रहण करके दही रूप में परिणमित होता है। इसलिए दही दूध का परिणाम कहलाता है। अन्धकार में जैसे रस्सी में सर्प का अनुभव होता है, उस समय रस्सी अपना स्वरूप त्याग किये बिना ही सर्पाकार में प्रतिभासित होती है। इसलिए जब यह सर्प नहीं है ऐसा कहने पर सर्प का बाध होता है तब वह रस्सी मात्र ही अवशिष्ट रहती है। इसलिए सर्प ही रज्जु के रूप में विवर्त होता है।

अप्पय्यदीक्षित ने सिद्धान्तलेशसंग्रह में परिणाम तथा विवर्त का लक्षण इस प्रकार से किया है - वस्तुनस्तत्समसत्ताकोऽन्यथाभावः परिणामः, तदसमसत्ताको विवर्त इति, अर्थात् वस्तुओं का उसकी सत्ता से अन्यथा भाव ही परिणाम तथा उसके समान सत्ता ही विवर्त होती है। धर्मराजध्वरीन्द्र ने वेदान्तसार की परिभाषा में कहा है कि परिणामो नामोपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः। विवर्तो नामोपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः इति। अर्थात् उपानदान सत्ता के समान कार्यापत्ति परिणाम होता है, तथा उपादान सत्ता से विपरीत कार्यापत्ति विवर्त कहलाता है।

अद्वैत वेदान्त में तीन प्रकार की सत्ता अङ्गीकार की गई हैं। पारमार्थिक सत्ता,व्यावहारिक सत्ता तथा प्रातिभासिक सत्ता। पारमार्थिक सत्ता का लक्षण कालत्रयबाध्यत्व होता है। ब्रह्म के अतिरिक्त सभी का

ही ब्रह्म ज्ञान से बाध्य होने के कारण ब्रह्म ही कालत्रयबाध्यत्व कहलाता है। जिसकी सत्ता का ब्रह्म ज्ञान के द्वारा बाध नहीं होता है, और नहीं किसी और शुक्ति रज्जु आदि ज्ञान के द्वारा वह व्यवहारिक सत्ता होती है। शुद्ध ब्रह्म में आरोपित अज्ञान से उसके कार्यों की व्यवहारिक सत्ता अङ्गीकार की जाती है। ब्रह्म ज्ञान के द्वारा ही इनका बाध उत्पन्न होता है । प्रातिभासिकसत्ता का लक्षण ब्रह्मज्ञान से इतर ज्ञान का बाध्यत्व है इसलिए शुक्ति में प्रतीयमान रजत का ज्ञान ब्रह्म ज्ञान से भिन्न ज्ञान के द्वारा बाधित होता है। अतः शुक्ति में प्रतीयमान रजत की सत्ता प्रातिभासिक सत्ता कहलाती है।

जब उपादान की तथा उसके कार्य की सत्ता समान होती है तब उपादान से कार्य की उत्पत्ति होती है वह परिणाम कहलाती है। जैस दूध की सत्ता व्यावहारिक सत्ता होती है। तथा दूध से उत्पन्न कार्य दही सत्ता की भी व्यावहारिक सत्ता ही होती है। इसलिए दूध तथा दही के उपादान तथा समान सत्ता विशिष्टत्व से दूध से दही की उत्पत्ति परिणाम कहलाती है। कारण की तथा कार्य की सत्ता यदि समान नहीं होती तो उपादन से कार्य की उत्पत्ति विवर्त कहलाती। जैस ब्रह्म से जगत उत्पन्न होता है। यहाँ पर ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है तथा जगत की सत्ता व्यावहारिक है। ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति में उपादान तथा कार्य के विषमसत्ताविशिष्टत्व से ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति विवर्त ही कहलाती है।

अद्वैतवाद में जगत् की सत्ता को आधार मानकर के तीन मत प्रसिद्ध हैं अजातवाद,दृष्टिवाद तथा सृष्टिदृष्टिवाद। मूलसिद्धान्तों में साम्य होते हुए भी इनमें मतभेद होता ही है। गौडपादप्रमुख अजातवादि के मत में जगत् अजात् होता है अर्थात कभी भी उत्पन्न नहीं होता है। इनकी पारमार्थिक सत्ता मात्र ही अङ्गीकार की जाती है। प्रकाशानन्दप्रमुखों के दृष्टिसृष्टिवादि के मत में जब जगत का ज्ञान होता है तब ही जगत होता है तथा अज्ञान काल में जगत् नहीं होता है। ये पारमार्थिक तथा पारिभाषिक दो सत्ता को ही अङ्गीकार करते हैं। शङ्कराचार्यादि प्रमुख सृष्ठि दृष्टि वादियों के मत में जगत् ईश्वर के द्वारा बनाया गया है तथा जीव के द्वारा जगत् अनुभव किया गया है। सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में जब जगत् का अनुभव नहीं होता है तब भी जगत् होता है इसलिए ये तीन सत्ता वादी कहलाती हैं। विवर्त तथा परिणाम में जो लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं। वे दृष्टि तथा सृष्टि वाद के साथ नहीं चलते हैं। क्योंकि जैसे दूध तथा दही की एवं रज्जु तथा सर्प की समान सत्ता के इस वाद में आपत्ति उत्पन्न होती है। इसलिए परिणाम तथा विवर्त का दूसरा लक्षण अप्पय्यदीक्षि ने यह दिया- कारणसलक्षणोऽन्यथाभावः परिणामः, कारणविलक्षणोऽन्यथाभावः विवर्तः इति। अर्थात् कारण तथा सलक्षण का अन्यथाभाव परिणाम कहलाता है। और कारण तथा विलक्षण का अन्यथा भाव विवर्त होता है। जैसे जब उपादान कारण के सजातीयरूप कार्य के साथ का अन्यथा भाव होता है तब वह परिणाम कहलाता है तथा जब उपादान कारण का विजातीय रूप कारण के कार्य के साथ अन्यथा भाव होता है तब विवर्त कहलाता है। जैस दूध तथा दही दोनों ही अचेतन होते हैं दूध अचेतन का उसके सजातीय अचेतन दही रूप के साथ अन्यथा भाव परिणाम कहलाता है तथा तथा ब्रह्म चेतन का उसके विजातीय अचेतन जगत् के साथ अन्यथा भाव विवर्त कहलाता है। यहाँ पर यह आक्षेप किया जाता है कि शुक्ति से रजत की उत्पत्ति भी तो परिणाम ही होनी चाहिए क्योंकि शुक्ति तथा रजत दोनों ही अचेतन होती है। यहाँ पर यह कहते हैं कि शुक्ति रजत का उपादान नहीं होती है शुक्ति का उपादान तो शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य होता है। अज्ञान उसके कार्य शुक्ति का आवरण नहीं करता है अपितु अज्ञान तो शुक्ति अवच्छिन्न चैतन्य का ही आवरण करता है, इसलिए शुक्ति अवच्छिन्न चैतन्य से विजातीय अचेतन रजत की समुत्पत्ति विवर्त ही होती है। इस प्रकार से यह कह सकते हैं की शुक्ति से रजत की उत्पत्ति होती है। इस लक्षण के निर्दिष्ट होने पर भी परिणाम तथा विवर्त का अप्पयदीक्षित ने तीसरा लक्षण यह किया है- कारण से अभिन्न कार्य परिणाम होता है तथा उसी का भेद व्यतिरेक कार्य विवर्त कहलाता है। उपादान कारण से साथ अभिन्न कार्य जब उत्पन्न होता है तब वह कार्य परिणाम कहलाता है, जैसे मृत्तिका से घट की उत्पत्ति में मृत्तिका तथा घट में कोई भेद नहीं होता

ध्यान दें:

ध्यान दें:

है। जो घट होता है वही मृत्तिका होती है इस प्रकार का व्यवहार लोक में प्रसिद्ध है। इसलिए घट ही मृत्तिका का परिणाम होता है। उपादान कारण के साथ अभेद के बिना ही प्रतीयमान उपादानकारण के व्यतिरेक के द्वारा निरूपण योग्य कार्य विवर्त कहलाता है। शुक्ति तथा रजत के उदाहरण में तो प्रतीयमान रजत तथा भेद होता ही है। वास्तविक दृष्टि से यहाँ पर कुछ नहीं होता है जो रजत होती है वही शुक्ति होती है इस प्रकार से कही जाती है। लेकिन अधिष्ठान शुक्ति के अलावा रजत की सत्ता का प्रतिपादन भी नहीं किया जा सकता है। इसलिए शुक्ति तथा रजत के भेद के बिना भी शुक्तिव्यतिरेक से दुर्वचरण विवर्त ही होता है।

पाठगत प्रश्न 14.4

1. क्या शुक्ति रजत का परिणामी उपादान है अथवा विवर्त उपादान?
2. सदानन्दयोगीन्द्र के द्वार परिणाम का क्या लक्षण कहा गया है?
3. सदानन्दयोगीन्द्र के द्वारा विवर्त का क्या लक्षण कहा गया है?
4. वेदान्त परिभाषा में परिणाम तथा विवर्त का क्या लक्षण कहा गया है?
5. पारमार्थिकसत्ता का क्या लक्षण है?
6. व्यावहारिकसत्ता का क्या लक्षण है?
7. प्रातिभासिक सत्ता का क्या लक्षण है?
8. अद्वैतवाद में जगत की सत्ता को आधार मानकर के कौन कौन से वाद प्रसिद्ध हैं?
9. सिद्धान्तलेश सङ्ग्रह में विवर्त तथा परिणाम का तीसरा लक्षण क्या है?

पाठ सार

इस पाठ में अध्यास की उत्पत्ति प्रकार विषय में अध्यासकारण विषय में अध्यस्तवस्तु के स्वरूप का विस्तार पूर्वक आलोचन किया गया है। विषय चिन्तन के साथ प्रमातृचैतन्य का अभेद के सत्य होने से विषय का ज्ञान होता है। अन्त: करण जब चक्षु के द्वारा विषयदेश के प्रति जाता है तो वह विषय के आकार में परिणमित हो जाता है तब अन्तकरण वृत्ति उत्पन्न होती है। अन्तकरणवृत्ति विषयावच्छिन्न चैतन्य के आवरक अज्ञान का नाश करती है। उसके द्वारा चैतन्य तथा स्वरूप में, विषयचैतन्य तथा प्रमातृचैतन्य में जो अभेद होता है वह विषय प्रत्यक्ष होता है। शुक्ति में रजत भ्रमकाल में अन्त:करण जब काचकामलादि दोषयुक्त चक्षु इन्द्रिय द्वारा से शुक्ति के साथ सम्बन्ध बनाता है तब इन्द्रियदोषवश यह वस्तुमात्र है इस प्रकार का सामान्य ज्ञान होता है। शुक्तित्वरूप विशेष का ज्ञान नहीं होता है। वहाँ पर चाकचिक्यादिसादृश्यदर्शन के कारण से रजत का संस्कार उद्बुद्ध होता है।तब शुक्ति विषयिणी अविद्या उद्बोधित रजतसंस्कार सामग्री के साथ काचकमलादि दोष सहित रजतरूपार्थाकार से तथा रजतज्ञानाभान कारण से परिणित होती है।

शुक्ति में यह रजत है इसप्रकार से उत्पन्न ज्ञान भ्रम ही होता है। भ्रमज्ञान में अधिष्ठान एकदेश के आरोप का तादात्म्य से भान होता है। यह रजत है इस प्रकार का ज्ञान होने पर यह अशं शुक्ति के सामान्यांश का बोध करवाता है। यह रजत है इस प्रकार का आरोप करके रजत का निर्देश करता है। चक्षु इन्द्रिय के साथ शुक्ति के सन्निकर्ष वश इदं आकारवाली अन्त: करण की वृत्ति उत्पन्न होती है। इसलिए इदं (यह) इस प्रकार का ज्ञान यथार्थ ही होता है। फिर भी अनिर्वचनीय आरोपित रजत के साथ अभेद

से प्रतीयमानत्व यह रजत है इस प्रकार का भ्रम होता है। यह तादात्मापन्न रजत है इसका यहाँ पर बोध होता है। शुक्ति में प्रतीयमान रजत ही अनिर्वचनीय अविद्या तत्कालोत्पन्न अभिनव होती है।

ध्यान दें:

भ्रम स्थल में प्रतीयमान वस्तु का क्या स्वरूप होता है इस प्रकार के विषय में बहुत से वाद हैं। उनमें मुख्य है आत्मख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति, असत्ख्याति, अनिर्वचनीयख्याति। सौत्रान्तिक वैभाषिक, योगचार तथा बोद्धों के शास्त्र में विज्ञान ही बाह्य वस्तु कारण के द्वारा प्रतिभासित होती है। इनके मत में आत्मख्याति प्रसिद्ध है। अख्यादि वादी प्रभाकारादि मीमांसक है। उनके मत में इदं (यह) प्रत्यक्षज्ञानविषय रजत है इस प्रकार से यह रजत स्मृति का विषय है। उन दोनों में भेद होने पर भी दोष कारण से भेद का ग्रहण नहीं होता है। प्रभाकर के मत में तो उसके अभेद से यह रजत है इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। नैयायिक तथा भाट्टमीमांसक अन्यताख्यातिवादी कहलाते हैं। इनके मत में देशान्तरस्थ सत्य रजत ही ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से सामने स्थित शुक्ति में ही प्रत्यक्ष होता है। शून्यवादी बौद्ध ही असत्ख्यातिवादी कहलाते हैं। इनके मत में यह रजत है इस प्रकार का ज्ञान होने पर शुक्ति में ही अत्यन्त असत् रजत का भान होता है। अद्वैतवेदान्ति अनिर्वचनीयख्यातिवादी होते हैं। ये भ्रमभूत रजत का सद् तथा असद् के द्वारा अनिर्वचनीयत्व अङ्गीकार करते हैं।

रजत ही शुक्ति विषयक ज्ञान का परिणाम है तथा शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य विवर्त है। इस प्रकार से जगत भी अज्ञान का परिणाम है तथा ब्रह्म का विवर्त है। कारण से उसके समान सत्ताविशिष्ट कार्य की उत्पत्ति परिणाम कहलाती है। तथा कारण से उससे अभिन्न सत्ताविशिष्ट कार्य की उत्पत्ति विवर्त कहलाती है। जैस व्यावहारिक सत्ता विशिष्ट मिट्टी से व्यावहारिक सत्ता विशिष्ट घट की उत्पत्ति होती है। इसलिए घट ही मृत्तिका का परिणाम कहलाता है। व्यावहारिकसत्ताविशिष्ट शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य से प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति होती है। इसलिए रजत शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य का विवर्त होता है। इस प्रकार से कारण के तत्सजातीय अन्य रूप की प्राप्ति परिणाम तथा विजातीय अन्यरूप की प्राप्ति विवर्त कहलाती है। जिस प्रकार से जड अज्ञान का तत्साजातीय जड़ प्रपञ्चरूप प्राप्ति परिणाम है तथा चैतन्यस्वरूप ब्रह्म का तद्विजातीय जडप्रपञ्चरूप प्राप्ति विवर्त होता है। लेकिन कार्य से अभिन्न कार्य का परिणाम होता है। उपादान कारण के साथ अभेद के बिना ही प्रतीयमान लेकिन उपादान व्यतिरेक दुर्वच कार्य विवर्त होता है।

मृत्तिका से उत्पन्न उससे भिन्न घट परिणाम होता है लेकिन चैतन्य से भिन्न लेकिन चैतन्य के बिना अभावापन्न प्रपञ्च विवर्त होता है। इस प्रकार से परिणाम तथा विवर्त का आलोचन शास्त्रों में किया गया है।

इसलिए ब्रह्म का विवर्तभूत जगत् मिथ्या है यह जानकर के विद्वान् वैराग्य को धारण करते हुए मोक्ष के लिए श्रवणमनननिदिध्यासनो में निरन्तर निरत हो जाते हैं, इस प्रकार से यह शास्त्रों में प्रतिपादित किया गया है।

पाठान्त प्रश्न

1. किसलिए सभी जगहों पर ब्रह्म की सत्ता अनुवर्तित होती है?
2. रजत के भ्रम काल में किस प्रकार से देशान्तरीय रजत का भान होता है?
3. स्वप्न तथा जगत की प्रतीति में दोष रूप से क्या होता है?

ध्यान दें:

4. अद्वैत वेदान्त में ज्ञानस्थल में विषयाकार वृत्ति किसलिए अङ्गीकार की गई है?
5. प्रथम जगत की उत्पत्ति किसलिए स्वीकार नहीं की गई है?
6. यह रजत है इस प्रकार का ज्ञान होने पर देशान्तरस्थ रजत प्रतिभासित नहीं होता है, यहाँ पर कौन सा हेतु है?
7. शुक्ति में रजत सत् है अथवा असत् यह कहाँ पर स्वीकार नहीं किया गया है?
8. ख्याति पद की व्युत्पत्ति लिखिए?
9. बौद्धों के शास्त्र में आत्मा किसे कहते हैं?
10. प्राभाकरमीमांसक यह रजत है इस प्रकार के ज्ञान में रजत किसका अंश होता है?
11. सिद्धान्तलेश के द्वारा कहा गया परिणाम तथा विवर्त का दूसरा लक्षण क्या है?
12. कारणसलक्षणोऽन्यथाभावः परिणामः, कारणविलक्षणोऽन्यथाभावो विवर्तः यहाँ पर कौन से उदाहरण है?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 14.1

1. प्रमा का लक्षण ही अनधिगताबाधितार्थविषयज्ञानत्व से युक्त होता है।
2. घटादिविषयावच्छिन्न चैतन्य ही विषय चैतन्य होता है।
3. अन्तः करणवृत्यवच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाण चैतन्य है।
4. अन्तः करणावच्छिन्न चैतन्य ही प्रमातृ चैतन्य है।
5. शुक्ति से रजत की उत्पत्ति में काचकमलादि इन्द्रिय दोष होते हैं।
6. आगन्तुकदोषजन्यत्व प्रातिभासिकत्व में नियामक होते हैं।
7. यह रजत है इस प्रकार का ज्ञान होने पर यह शुक्ति के सामान्यांश का निर्देश करता है।
8. भ्रमभूत रजत के साथ तादात्म्य से प्रतीयमान उसका मिथ्यात्व कहलाता है।
9. काचकामलादिलोचनदोषकारण से शुक्ति के शुक्तित्व तथा नीलपृष्ठत्वादियों के विशेष अंशो का ज्ञान होता है।
10. विषयचैतन्यावरक के ज्ञान के लिए विषयाकार अन्तः करण की वृत्ति अपेक्षित है।
11. अविद्या जब रजत संस्कार के साथ होती है तब रजत का आरोप होता है, जब रङ्ग के साथ होती तब रङ्ग का आरोप होता है।

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 14.2

1. आगन्तुकदोष, संस्कार, अधिष्ठान सामान्य ज्ञान, सादृश्य अविद्या इत्यादि हेतु रूप में होते हैं।
2. अविद्या ही अध्यस्त वस्तु की उपादान होती है।
3. आगन्तुकदोष संस्कारादि अध्यस्तवस्तु के निमित्त कारण होते हैं।
4. जिससे कार्य की उत्पत्ति होती है तथा कार्य के नाश हो जाने पर कार्य का लय जहाँ पर होता है, वह उपादान कारण कहलाता है।
5. सभी प्रकार के कार्य उस उपादानकारण अविद्या के अधिष्ठान ब्रह्म में आश्रित होकर रुकते हैं।
6. जिन अध्यासों का बाध शुक्तित्वादि के विशेष दर्शन के द्वारा होता है उन अध्यासों में सादृश्यज्ञान कारण होता है।
7. अद्वैत वेदान्त के मत में आरोपित वस्तु ही अनिर्वचनीय अविद्या तत्कालोत्पन्न अभिनव होती है।
8. ब्रह्म में प्रपञ्चाध्यास में सादृश्य हेतु नहीं होता है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 14.3

1. ख्याति शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ ज्ञान होता है। भ्रमज्ञान इसका रूढ़ प्रयोग होता है।
2. सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार तथा आत्मख्यातिवादी
3. प्राभाकरमीमांसक असत्ख्यातिवादी कहलाते है।
4. शून्यवादी बौद्ध असत्ख्यातिवादी कहलाते है।
5. अनिर्वचयीयख्याति इस नाम के द्वारा प्रसिद्ध है।
6. भाट्टनैयायिक अन्यथा ख्यातिवाद को अङ्गीकार करते हैं।
7. विपरीतख्याति।
8. सत्ख्याति।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 14.4

1. शुक्ति विषयक अज्ञान ही शुक्ति रजत का परिणामी उपादान होता है तथा शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य ही विवर्तोपादन होता है।
2. सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा इति परिणामलक्षणं तेन प्रतिपादितम्।
3. अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा यह विवर्त का लक्षण सदानन्द योगीन्द्र के द्वारा कहा गया है।
4. उपादानसमसत्ताककार्यापत्ति परिणाम होता है, विवर्त उपादानविषमसत्ताककार्यापत्ति वाला होता है।
5. पारमार्थिक सत्ता का लक्षण कालत्रय बाध्यत्व होता है। ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता है।

ध्यान दें:

6. ब्रह्मज्ञान इतर ज्ञान का बाध्यत्व वाला होता है, इस प्रकार से यह व्यावहारिक सत्ता का लक्षण है।

7. ब्रह्मज्ञानेतरज्ञानबाध्यत्व यह प्रातिभासिक सत्ता का लक्षण है।

8. अद्वैतवाद में जगत की सत्ता को आधार मानकर के अजातवाद, दृष्टि सृष्टिवाद तथा सृष्टि दृष्टि वाद इस प्रकार से तीन वाद प्रसिद्ध हैं।

9. वस्तुनस्तत्समसत्ताकोऽन्यथाभावः परिणामः, तदसमसत्ता को विवर्त इति।

ध्यान दें:

15

सृष्टि विचार

प्रत्येक दर्शन के आलोचित विषयो में से सबसे अन्यतम विषय है सृष्टि रचना। किस प्रकार से इस विचित्र रचनात्मक जगत की उत्पत्ति होती है। यह जीव कौन है। इस प्रकार की जिज्ञासा ही अध्यात्म का बीज है। इसलिए शास्त्रों में ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में कहा गया है।

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ बभूव॥

सभी दर्शनों में सृष्टि के विषय में भिन्न भिन्न मत हैं। जैसे सांख्यमत में प्रकृति ही प्रपञ्चसृष्टि की बीजभूत है। न्याय वैशेषिक के मत में तो नित्य परमाणु ही ईश्वर के सिसृक्षवश द्वयणु आदि क्रम से परिणित होते हैं। इस प्रकार से अद्वैत वेदान्त दर्शन का भी सृष्टि के विषय में स्वयं का मत है। अद्वैत वेदान्त में अज्ञानाभिधेया अनिर्वचनीय माय ही प्रपञ्चसृष्टि का कारण है। सृष्टि इस प्रकार से कहने पर किन की सृष्टि इस प्रकार का प्रश्न उत्पन्न होता है। जिसे इस दर्शन में कहा है कि सृष्टि के जीव तथा जगत् की प्रपञ्चात्मक सृष्टि समझना चाहिए। अद्वैत वेदान्त दर्शन ज्ञान के लिए उस दर्शन से सम्बन्धित दर्शनतत्व हमेशा जानना चाहिए।

उद्देश्य

इस पाठ को पढ़कर के आप समर्थ होंगे;

- अद्वैतवेदान्त के सृष्टि तत्व के विषय में विस्तार से परिचय प्राप्त करने में;
- अद्वैतवेदान्त में परमार्थ रूप से सृष्टि है ही नहीं इस प्रकार के विषय जानने में;
- अद्वैतवेदान्त के मत में सृष्टि तथा श्रुति आदि का आशय विस्तार से जानने में;
- अद्वैतवेदान्त के मत में सृष्टि निष्प्रयोजन है जानने में;
- अध्यारोप तथा अपवाद के विषय में विस्तार से जानने में;
- विवर्तवाद के विषय में तथा परिणामवाद के विषय में विस्तार से जानने में;

ध्यान दें:

- सृष्टि बताने वाली श्रुतियों का भी प्रयोजन जान पाने में;
- ईश्वर की सृष्टि का कारणत्व जान पाने में;
- अज्ञान की दो शक्तियों के विषय में विस्तार से परिचय जान पाने में;
- कार्य तथा कारण के अनन्त्य विषय में परिचय जान पाने में;

15.1) अद्वैत वेदान्त दर्शन में परमार्थ दृष्टि से सृष्टि ही नहीं है

यहाँ पर यह जानना चाहिए की परमार्थ दृष्टि से अद्वैत वेदान्त दर्शन में सृष्टि ही नहीं है। इसलिए अद्वैत सम्प्रदाय के आचार्य गौडपद की यह कारिका है

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥ इति।

इस लोक में यह कहा जाता है कि प्रपञ्च का विनाश नहीं होता है। उत्पत्ति भी नहीं होती है, कोई बद्ध भी नहीं है, कोई साधक भी नहीं है, कोई मुमुक्षु भी नहीं है और कोई मुक्त भी नहीं है। बन्धन के सत्त्व होने पर ही साधक तथा मुमुक्षु मुक्तों का स्थिति प्रसङ्ग होता है। बन्धन के अभाव में तो मुक्ति भी नहीं है इस प्रकार से जानना चाहिए। परमार्थ रूप से सभी अपने अपने स्वरूप में स्थित हैं। यह ही परमार्थ दृष्टि है। व्यवहारिक दृष्टि से तो बद्ध तथा मुक्तादि का व्यवहार समान होता है। इसलिए व्यवहार दृष्टि तथा परमार्थ दृष्टि दो प्रकार की दृष्टि अङ्गीकार की जा सकती है। अद्वैत वेदान्तदर्शन में व्यवहार दृष्टि के द्वारा सृष्टि अङ्गीकार की गई है न की परमार्थ दृष्टि से। परमार्थ दृष्टि से तो केवल अद्वैत ब्रह्म ही विराजमान है। वहाँ पर सृष्टि आदि कार्य है ही नहीं।

अब प्रश्न करते हुए कहते हैं की यदि वेदान्त दर्शन के मत में सृष्टि ही नहीं है तो इस दर्शन में सृष्टि तत्व क्यों आलोचित किया गया है तथा क्यों किया जा रहा है।

तब कहते हैं की यदि हम सृष्टि को नहीं समझेंगे तो हमारे द्वारा दिखाई देने वाला यह जगत् कहाँ से आया है इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर नहीं प्राप्त कर पायेंगे। इसलिए व्यवहार की सिद्धि के लिए अद्वैत्वादियों के द्वारा भी सृष्टि को अवश्य ही समझना चाहिए तथा उसके कारण का भी निरूपण करना चाहिए। अन्यथा यदि इस दर्शन को व्यवहार सिद्ध स्वीकार नहीं करें तथा अलौकिक कपोल कल्पित ही स्वीकार करें तो देखने वालों की अनादरणीयता यहां पर आ जाएगी और सामान्य व्यक्ति तो इसे हेय ही समझने लगेंगे। इसलिए अद्वैत वेदान्त दर्शन में सृष्टितत्व अङ्गीकार किया जाता है जिसे इस दर्शन में कोई अलौकिक कल्पना नहीं होती है। लेकिन सृष्टि का तात्पर्य भिन्न होता है। वह क्या होता है इसको आगे प्रतिपादित किया जाएगा।

15.2) सृष्टि श्रुतियों का आशय

अद्वैत वेदान्त के मत में सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्म ही वस्तु है, उससे अतिरिक्त उपलभ्यमान सब कुछ माया के द्वारा कल्पित है। इसलिए विवेकचूडामणि में कहा गया है।

माया मायाकार्यं सर्वं महदादिदेहपर्यन्तम्।

ध्यान दें:

असदिदमनात्मकं त्वं विद्धि मरुमरीचिकाकल्पम्॥ इति।

इसका अर्थ यह है कि सांख्य स्वीकृत अतिसूक्ष्म महत्तत्व से लेकर के अतिस्थूलदेहपर्यन्त सभी माया के कार्य हैं। इसलिए ब्रह्म के व्यतिरेक से सभी मरुमरीचिका तुल्य असद् है इस प्रकार से ज्ञातव्य है। लेकिन यह निष्प्रपञ्च ब्रह्म साधारण मन के द्वार कल्पित नहीं हो सकता है। इसलिए जैसे निष्प्रपञ्च ब्रह्म का बोध साधारण जनों को हो उसके लिए सविशेष ब्रह्म का निरूपण शास्त्रकारों द्वारा किया गया है। वह इस प्रकार से है-

निर्विकल्पं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुम् अनीश्वरा:।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणै:॥ इति।

जो मन्दमति होते हैं वे परब्रह्म का साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं होते हैं। इसलिए उनके लिए भगवती श्रुति की अनुकम्प से सविशेष ब्रह्म का उपदेश दिया जाता है यह इस श्लोक का आशय है।

सविशेष ब्रह्म तथा निर्विशेष ब्रह्म एक ही ब्रह्म के दो प्रकार के रूपों की कल्पना है। निर्विशेष ब्रह्म नामरूपोपाधिविवर्जित शुद्धस्वरूप है तथा वह सत्यज्ञानान्तादिपद का लक्ष्य है। उस निर्विशेष ब्रह्म की सभी के द्वारा कल्पना नहीं की जा सकती है इस कारण से नामरूप उपाधि आदि सम्बन्ध की उस शुद्धब्रह्म में कल्पना की गई है। उसके द्वारा नामरूपोपाधिविशेषसम्बन्धित्व से ब्रह्म सविशेष रूप में समझा जाता है। वह ही सविशेष ब्रह्म सृष्टि स्थिति प्रलय कारित्व से ईश्वर रूप में बोधित होता है।

अब कहते हैं कि सविशेष के साथ सृष्टि का क्या सम्बन्ध है तब कहते हैं कि सविशेष ब्रह्म अर्थात् ईश्वर ही प्रपञ्च सृष्टि स्थिति तथ प्रलय का कारण है। इसलिए इस जगत के सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर ही प्राप्त होता है। निर्विशेष ब्रह्म ही सृष्टिकर्तृत्व रूप से सविशेष ब्रह्म अर्थात् ईश्वर रूप में जाना जाता है। इस प्रकार से सविशेष ब्रह्म के उपदेश से सृष्टि का आदि अर्थ भी उपदिष्ट होता है। सविशेष ब्रह्म के उपदेश से ही निर्विशेष ब्रह्म ही वस्तुत: निर्दिदिक्षुरूप श्रुति के द्वारा ज्ञातव्य है। इसलिए ही सृष्टि का आदि वर्णन कारण श्रुतियों का आशय होता है। जो सविशेष ब्रह्म को जानते है वे शुद्धचित्त होते हुए सविशेष ब्रह्म के सृष्टिकर्तृत्वादि विशेष के त्याग से निर्विशेष ब्रह्म को समझने में भी सक्षम हो सकते हैं।

सृष्टि श्रुतियों के तात्पर्य के विषय में श्री शङ्कराचार्यभगवत्पाद के द्वारा शारीरिकमीमांसाभाष्य में कहा गया है कि **"न चेयं परिणामश्रुति: (सृष्टिप्रतिपादिका श्रुति:) परिणामप्रतिपादनार्था, तत्प्रतिपत्तौ फलानवगमात् सर्वव्यवहारहीनब्रह्मात्मभावप्रतिपादनार्था हि सा।"** इति।

इससे यह जाना जाता है की सृष्टि प्रतिपादन में भी श्रुति का कोई अन्य तात्पर्य है। केवल सृष्टि के प्रतिपादन के लिए ही प्रपञ्च की सृष्टि प्रदर्शित नहीं होती है अपि तु ब्रह्म को लक्षित करके जानने के लिए ही सृष्टि का प्रतिपादन किया जाता है। किस प्रकार सृष्टि श्रुतियाँ ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं तो कहते हैं जिस कारण से सृष्टि होती है वह कारण ही ब्रह्म है इस प्रकार से कारणमुख से सृष्टि श्रुतियाँ ब्रह्म का बोध करवाती हैं। इसलिए बादरायण के द्वारा रचा गया शारीरिक मीमांसा सूत्र में "जन्माद्यस्य यत" सूत्र है। जिससे इस जगत की सृष्टि होती है तथा जिसमें स्थिति प्रलय आदि सम्भव होती है वह ब्रह्म है, इस प्रकार से इस सूत्र का यह सामान्य अर्थ होता है। इस सूत्र के भाष्य में भगवत्पादशङ्कराचार्य के द्वारा कहा गया है की "इस जगत के नामरूप के द्वारा व्याकृत अनेक कर्तृ भोक्तृ संयुक्त

ध्यान दें:

प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रय मन के द्वारा भी अचिन्त्य रचना रूप के जन्म स्थिति तथा प्रलय जिस सर्वज्ञात शक्ति के कारण होते हैं वह ब्रह्म कहलाता है। इसलिए तैतिरीय उपनिषद् में भी कहा गया है।

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।" (3.1.1) इति।

इसलिए अद्वैत वेदान्तियों के अभिप्रायानुसार ब्रह्म का निर्दिदिक्षुरूप ही श्रुति तथा सृष्टितत्व के अनुसार प्रतिपादन होता है।

15.3) अध्यारोपापवादन्याय

सृष्टि के विचार प्रसङ्ग में अद्वैत वेदान्तियों का अध्यारोपापवादन्याय भी प्रसिद्ध है। इसलिए अद्वैतवादियों का यह प्रसिद्ध श्लोक है-

अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।
शिष्याणां बोधसिद्ध्यर्थं तत्त्वज्ञैः कल्पितः क्रमः॥ इति।

इसका यह अर्थ है कि निष्प्रपञ्च ब्रह्म को अल्पज्ञ शिष्यों को समझाने के लिए तत्वज्ञ आचार्य इस प्रकार का अध्यारोपापवादन्याय स्वीकार करते हैं। उससे ही श्रुति में सविशेष ब्रह्म का तथा सृष्टि आदि का वर्णन प्राप्त होता है। निर्विशेष ब्रह्म में सृष्टि आदि कर्तृत्व का आरोप करने से सविशेष ब्रह्म का ज्ञान होने पर सृष्ट्यादिकर्तृत्व शास्त्रों के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म को समझाने के लिए ग्रहण की जाती है। यह आरोप आहार्यारोप कहलाता है यह वस्तुगत आरोप नहीं होता है।

अब प्रश्न करते हैं की अध्यारोप किसे कहते हैं तथा अपवाद क्या है? तब कहते हैं की अध्यारोप वस्तुओं का अवस्त्वारोप होता है। सच्चिदान्द अद्वय ब्रह्म ही वस्तु है उसको छोड़कर समस्त सम्पूर्ण विश्व अवस्तु होता है। इसलिए सत्यभूत ब्रह्म में अनित्य सभी वस्तुओं का मिथ्याभूत आरोप अध्यारोप कहलाता है। इसलिए वेदान्तसार के रचनाकार सदानन्द योगीन्द्र के द्वारा कहा गया है असर्पभूतरस्सी में सर्प के आरोप की जैसे वस्तु में अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप कहलाता है। अल्पान्धकार में रस्सी को देखकर सर्प इस प्रकार का ज्ञान होता है। तब वस्तुतः रस्सी रस्सी स्वरूप में ही रहती है लेकिन अज्ञानवश दृष्टा सर्प के रूप में रस्सी को देखता है। तब वह रस्सी के स्वरूप को नहीं जानता हुआ "यह सर्प है" इस प्रकार का व्यवहार करता है। इसी प्रकार से असर्पभूत रस्सी में भी जैसे सर्प के मिथ्याभूत का आरोप होता है उसी प्रकार अकर्ता ब्रह्म में भी जो सृष्टियादिकर्तृत्व का मिथ्याभूत जो आरोप होता है वह अध्यारोप कहलाता है। लेकिन यह शास्त्र के द्वारा ब्रह्मतत्व के बाध के लिए किया जाता है। इस कारण से यह आहार्य उपरत्व के द्वारा जानना चाहिए।

अपवाद से तात्पर्य है कि 'रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद् वस्तुविवर्तस्य अवस्तुनः अज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्' इति। इसका यह अर्थ है कि रस्सी अपने स्वरूप का त्याग करके सर्पाकार से भासमान रज्जुविवर्त के अपवाद का नाश अधिष्ठानरज्जुमात्र का अवस्थान कहलाता है। इस प्रकार से ब्रह्मविवर्त के अज्ञानादिप्रपञ्च का नाश ब्रह्मस्वरूप मात्र से अवस्थान कहलाता है। जब रस्सी में सर्पारोप मिथ्याभूत है इस प्रकार का यथार्थ ज्ञान होता है। तब रस्सी रज्जु के स्वरूप के द्वारा ही रुकती है। इसी प्रकार जब ब्रह्मविवर्तभूत यह प्रपञ्च मिथ्याभूत अथवा ब्रह्म में जगत् कर्तृत्वादि मिथ्याभूत ज्ञान होता है

तब निर्विशेष ब्रह्म अपने स्वरूप के द्वारा ही रुकता है। यह अधिष्ठानमात्र से स्वरूपावस्थिति ही अपवाद कहलाती है।

विवर्तस्यास्य जगतः सन्मात्रत्वेन दर्शनम्।
अपवाद इति प्राहुरद्वैतब्रह्मदर्शिनः॥ इति।

इस प्रकार से ब्रह्म में अखिल जगत् का अध्यारोप करके तथा अन्त में नहीं है कुछ भी इस प्रकार से समझकर निर्विशेष ब्रह्म का बोध श्रुतियों के द्वारा तथा अद्वैतवेदान्तियों के द्वारा होता है।

पाठगत प्रश्न 15.1

1. परमार्थ दृष्टि से अद्वैत वेदान्त दर्शन में सृष्टि नहीं है यहाँ पर प्रमाणभूत गौडपाद की कारिका कौन-सी है?
2. अद्वैत वेदान्त के मत में सविशेष ब्रह्म का निरूपण शास्त्र में किनके लिए किया गया है?
3. एक ही ब्रह्म के दो प्रकार के रूप किस प्रकार से होते हैं?
4. निर्विशेष ब्रह्म किसे कहते हैं?
5. ब्रह्म का सविशेषत्व किसलिए है?
6. सृष्टि श्रुतियाँ किसलिए होती हैं?
7. सृष्टि के विचार प्रसङ्ग में अद्वैत वेदान्तियों का कौन-सा न्याय प्रसिद्ध है?

   क) तृणारणिमणिन्यायः

   ख) शाखाचन्द्रमसन्यायः

   ग) अध्यारोपापवादन्यायः

   घ) तिलतण्डुलन्यायः।
8. अध्यारोप किसे कहते हैं?
9. अपवाद किसे कहते हैं?
10. अध्यारोप के एक दृष्टान्त का प्रतिपादन कीजिए?

15.4) विवर्तवाद और परिणामवाद

ब्रह्म विवर्त जगत का ब्रह्ममात्रत्व तथा अपवाद यह अपवाद के विषय मे कहा गया है। लेकिन ब्रह्म का विवर्तभूत यह जगत् विकल्प के रूप में परिणामभूत जगत् इस प्रकार से निः संशय से किस प्रकार से जाना जा सकता है। इसलिए विवर्तवाद के विषय में तथा परिणावाद के विषय में सामान्यज्ञान पूर्व में आवश्यक है। यथा स्वरूप अवस्थित वस्तु का अन्यथा भाव दो प्रकार का होता है। परिणामभाव तथा विवर्तभाव। परिणाम भाव किसे कहते हैं तब कहते हैं कि परिणामभाव जब वस्तु स्वरूप को त्यागकर अपने ही अन्य रूप में परिवर्तित हो जाती है वह परिणाम भाव कहलाता है जैसे दूध अपने स्वरूप को

ध्यान दें:

त्यागकर दधि के आकार में परिणमित हो जाता है। अब प्रश्न करते है विवर्त किसे कहते हैं? तब कहते है की अपने का परित्याग किये बिना स्वरूप से अलग जिसकी प्रतीति होती है वह विवर्त कहलाता है। जैसे शुक्ति अपने रूप को त्यागे बिना रजत के रूप में मिथ्या प्रतीत होती है तथा रज्जु स्वरूप त्याग के बिना सर्परूप में प्रतीति होती है यह विवर्त कहलाता है। इसलिए विवर्त के विषय में कहा गया है

सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥ इति।

जब किसी वस्तु का वस्तुगत अन्यथा रूप के द्वारा विकार होता है तब वह विकार ही परिणाम कहलाता है। जैसे दूध दही रूप में परिणमित हो गया। वस्तुगत दूध का दही रूप में परिणाम होता है। दूध अपना स्वरूप त्यागकर नया दही रूप स्वरूप ग्रहण करता है। लेकिन जब किसी वस्तु का वस्तुगत अन्यथा रूप विकार नहीं होता है वह वस्तु उसी रूप में स्थित रहती है लेकिन भ्रान्ति के कारण वह वस्तु भिन्न रूप में प्रतीत होती है तब वह विवर्त कहलाती है। जैसे शुक्ति में यह रजत है इस प्रकार का भ्रमज्ञान होने पर रजत को स्वीकार करने में भ्रान्तजन्य रजत की प्रवृत्ति होती है। रजत रूप जो कार्य भ्रान्ति के द्वारा प्रतीत होता है वस्तुगत वह मिथ्याभूत ही होता है। इस प्रकार से कारण की वस्तुतः वैसी स्थिति नहीं होती है भ्रान्ति से कारण की मिथ्याकार्त्व के द्वारा प्रतीति ही विवर्त है। इस मत के अनुसार कारण ही कार्य स्वरूप से भासित होता है इस प्रकार से कारण का ही सत्यत्व होता है ना की कारण का सत्यत्व। एक कारण सत्ता ही विविध कार्यों के आकार के द्वारा भासित होती है, सुवर्ण कुण्डलाकार के द्वारा भासित होता है, मिट्टी घटाकार के द्वारा भासित होती है। कुण्डल जिस प्रकार से सुवर्ण का ही आकार भेद होता है तथा घट मिट्टी का उसी प्रकार परिदृश्यमान जगत रूपी सद् वस्तु ही विविध आकारों के माध्यम से दिखाई देती है। सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व यह सद् मात्र के रूप में ही था इसके अतिरिक्त ओर कुछ नहीं था। घट शर आदि भी जैसे परस्पर विभिन्न होते हुए मृत्तिका अलावा और कुछ नहीं होते हैं, पिण्ड का घट से तथा घट का पिण्ड से भेद होने पर भी दोनों मिट्टी से अभिन्न ही होते हैं। उसी प्रकार विविधसृष्टिपदार्थाक्रान्तसंसार भी सत् के अलावा ओर कुछ नहीं है। अपितु सत् ही रूपान्तर संसार है जो सत् वस्तु है वह ही ब्रह्म है। अद्वैत वेदान्त के मत में अविद्या के कारण से ही यह मिथ्याभूत जगत परमार्थसत्यभूत ब्रह्म में अध्यस्त है ब्रह्म ज्ञान होने पर अविद्या का नाश होता है। उससे मिथ्याभूत जगत भी ब्रह्म में बाधित होता है। यह ही विवर्तवाद अनिर्वचनीय कारणवाद, सत्कारणवाद के रूप में भी जाना जाता है।

अप्पय्यदीक्षित ने परिणाम तथा विवर्त का कुछ भिन्न प्रकार से उपस्थापन किया है। उनके मत में समसत्ताकोऽन्यथाभाव परिणाम तथा विषयसत्ताकोन्यथाभाव विवर्त होता है। इस प्रकार से तीन प्रकार की सत्ता अद्वैत वेदान्त में स्वीकार की गई है। प्रातिभासिक सत्ता, व्यावहारिक सत्ता, पारमार्थिक सत्ता। प्रतिभासमात्र जिस वस्तु की सत्ता होती है वह प्रातिभासिक सत्ता कहलाती है। जैसे रस्सी में सर्प की जो सत्त होती है वह प्रतिभासमात्र के कारण प्रातिभासिक सत्ता कहलाती है। वह सत्ता ही व्यवाहार के द्वारा बाधित होती है। व्यवहारबाध्यत्व ही प्रातिभासिकत्व होता है इस प्रकार से इसका लक्षण कर सकते है। व्यावहारिक प्रपञ्च की जो सत्ता होती है वह व्यावहारिक सत्ता कहलाती है, और वह पारमार्थिक ब्रह्मज्ञान के द्वारा बाधित होती है। इसलिए पारमार्थिक सत्ताबाध्यत्व व्यावहारिकत्व इस प्रकार से लक्षण कर सकते है। पारमार्थिक सत्ता ही नित्य सत्ता है। इस प्रकार जो वस्तु जब समान सत्ता से अन्यथा भाव को प्राप्त

होती है तब वह परिणाम कहलाती है जैसे मिट्टी घट के रूप में जब अन्यथा भाव को प्राप्त करती है तब मिट्टी तथा घट के व्यावराहिकत्व से समान सत्ताकत्व परिणाम जानना चाहिए न की विवर्त जब रस्सी सर्परूप के द्वारा अन्यथाभाव को प्राप्त करती है तब रज्जु के व्यावहारिकत्व से तथा सर्प के प्रातिभासिकत्व से विषमसत्ताकत्व से रज्जु तथा सर्प का विवर्त जानना चाहिए।

ध्यान दें:

15.5) सृष्टि का प्रयोजन

सांख्यदर्शन में जिस प्रकार से त्रिगुणात्मक प्रकृति के भोग के लिए पुरुष के कैवल्यार्थ प्रकृति की प्रवृत्ति जो सप्रयोजन रूप में देखी जाती है। उसी प्रकार अद्वैत वेदान्त दर्शन में भी सृष्टि का कुछ प्रयोजन है जिस प्रयोजन से द्वारा प्रेरित ईश्वर प्रपञ्च की सृष्टि करता है। इसलिए कहा गया है अविद्या कल्पित नाम रूप व्यवहार विषयों से युक्त सृष्टि होती है। इस कारण सृष्टि श्रुतियाँ परमार्थ का विषय नहीं होती है। इस प्रकार से अद्वैत वेदान्तियों के द्वारा अङ्गीकार करने से परमार्थ रूप से तो सृष्टि का कोई भी प्रयोजन नहीं ढूँढना चाहिए कुछ सृष्टि विषयक श्रुतियों का ब्रह्मबोधक ही तात्पर्य स्वीकार करने से ब्रह्मप्रतिपादनार्थ ही सृष्टि श्रुति कही गई है इस प्रकार से व्यवहार दृष्टि से सृष्टि श्रुतियों का कोई प्रयोजनत्व होता है।

कहते हैं कि कोई प्रवृत्ति होती है तो उसका प्रयोजन अङ्गीकार करना चाहिए। इसलिए यह प्रसिद्ध उक्ति है 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'। जगत् की सृष्टि रूपी महान् प्रवृत्ति होती है तो उस प्रवृत्ति का प्रयोजन भी अङ्गीकार करना चाहिए नहीं तो जैसे उन्मत्त की निष्प्रयोजन प्रवृत्ति देखी जाती है उसी प्रकार ईश्वर की भी निष्प्रयोजनत्व से प्रवृत्ति मानने पर उन्मत्त के प्रसङ्ग की समोत्तपत्ति होने लग जाएगी। इसलिए कहते हैं की लीला रूप ही यह ईश्वर की जगत के सर्जन की प्रवृत्ति न की सप्रयोजन। इसलिए बादरायण कृत ब्रह्मसूत्र में कहा गया है "लौकवत्तु लालाकैवल्यम्" इस प्रकार से। जैसे लोक में कोई आप्त काम राजा बिना किसी प्रयोजन के क्रीड़ा विहारादि में प्रवर्तित होता है, जैसे श्वास तथा प्रश्वास के बाह्य कुछ प्रयोजन के बिना ही वह स्वभाव से सम्भव होती है। उसी प्रकार ईश्वर की भी प्रयोजन के बिना ही स्वभाव से ही केवल लीलीरूपी यह प्रवृत्ति सम्भव होती है। ईश्वर की प्रवृत्ति प्रयोजन युक्त है इस युक्ति का समर्थन श्रुतियां नहीं करती हैं। यदि आत्म काम ईश्वर का कोई प्रयोजन स्वीकार करें तो उसका आप्तकामत्व सिद्ध नहीं होता है। और आप्तकामत्व स्वीकार करें तो सप्रयोजनत्व सिद्ध नहीं होता है। श्रुतियों में ईश्वर का आप्तकामत्व बार-बार उपदेश दिया गया है। इस कारण से आप्तकाम ईश्वर की लीलीरूप निष्प्रयोजन ही यह जगत्सृष्टिरूप प्रवृत्ति है। इस प्रकार से अङ्गीकार करना चाहिए। भलेही ईश्वर यह सृष्टिरूपी कार्य बहुत ही महान लगता है फिर भी अपरिमितशक्तित्व के कारण ईश्वर की यह लीलारूपी जगत्सृष्टि होती है। यदि संसार में लीला का भी कोई सूक्ष्मप्रयोजन माने तो कहतें हैं कि ईश्वर का जगत् की सृष्टि के विषय कोई सूक्ष्मप्रयोजन नहीं होता है क्योंकि उसके आत्म कामत्व को श्रुतियों में कई बार कहा गया है। गौडपादाचार्य के द्वारा माण्डूक्यकारिका में कहा गया है

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।

देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा॥ इति। [1.9]

इसलिए ईश्वर की यह स्वभाव रूप ही प्रवृत्ति होती है। अब यदि कोई कहे की ईश्वर के अप्रयोजनत्व से सृष्टि प्रवृत्ति भी नहीं होती है, तो ऐसा नहीं है सृष्टि होती है इस प्रकार से श्रुतियों ने

ध्यान दें:

स्वयं प्रतिपादित किया है इसलिए सृष्टि नहीं है इस प्रकार से श्रुतियों के विरुद्ध अङ्गीकार नहीं कर सकते है। यदि उन्मत्त निष्प्रयोजानात्मक प्रवृत्ति की तरह ईश्वर की प्रवृत्ति स्वीकार करें तो ईश्वर को उन्मत्त भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि श्रुतियों में ईश्वर को सर्वज्ञत्व माना है। इसलिए लीलारूप निष्प्रयोजन ही जगत्सृष्टिरूपी यह ईश्वर की प्रवृत्ति होती है।

15.6) ईश्वर का वैषम्यनैर्घृण्य प्रसङ्ग विचार

यदि ईश्वर को ही जगत् का सृष्टा इस प्रकार से माने तो ईश्वर में विषमता तथा निर्घृण्यता के दोष का आरोप होने लगता है। जिस प्रकार से लोक में देखा भी जाता है की कुछ देव आदि आजन्म सुखी रहते हैं तथा पशु आदि आजन्म दु:खी रहते हैं, मनुष्य कभी सुखी तथा कभी दु:खी, कोई धनवान तो, कोई दरिद्र, कुछ अन्धे, तो कुछ बहरे, कुछ बहुत ही सुन्दर तथा कुछ बहुत ही कुरूप होते हैं। इस प्रकार से विषमता युक्त सृष्टि का निर्माण करने वाले ईश्वर का खल व्यक्ति के समान राग तथा द्वेष भाव दिखाई देते हैं नहीं इस प्रकार की विषमता का क्या कारण हो सकता है। जैस क्रूर व्यक्ति सुखी लोगों को दु:ख देता है उसी प्रकार ईश्वर भी घृणावश दु:खयोग के विधान से मनुष्यों को दु:खी करते हैं। विषम सृष्टिकारित्व से तथा दु:खों के विधान से ईश्वर में वैषम्य तथा निर्घृण्य रूपी दोष का आरोप होता है । लेकिन शुद्धस्वभाव वाले ईश्वर में वैषम्य तथा नैर्घृण्य रूपी दोष नहीं हो सकता। इसलिए ईश्वर विषम सृष्टि का कारण नहीं हो सकता तथा नहीं इस जगत का सृष्टा।

तब उत्तर देते हुए कहते हैं कि ईश्वर निरपेक्ष होता हुआ विषम सृष्टि का निर्माण नहीं करता है अपितु वह सापेक्ष होता हुआ ही विषम सृष्टि का ही निर्माण करता है। बादरायण के एक सूत्र में कहा भी है "वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति" [2.1.34] इति। तो कहते हैं की फिर ईश्वर किस की अपेक्षा करता है ईश्वर केवल धर्म तथा अधर्म नाम से कहे जाने वाले कर्मों को देखता है। इसलिए भाष्यकार भगवत्पाद शङ्कराचार्य ने कहा हैं की जो ईश्वर प्राणियों के धर्म तथा अधर्म को देखते हुए जो यह विषम सृष्टि की है इसमें ईश्वर का कोई भी अपराध नहीं है, ईश्वर को तो मेघ की तरह देखना चाहिए मेघ (बादल) धान, जौ आदि धान्यों में साधारण कारण होता है, धान आदि में विषमता तो उनके बीजगत साधारण सामर्थ्य के कारण होती है, इसी प्रकार ईश्वर भी देव मनुष्यादि सृष्टि में साधारण कारण होता है, देव मनुष्यादि में वैषम्य तो तत्तज्जीवगत साधारण कर्मों के कारण ही होता है। इस प्रकार से ईश्वर तो सापेक्ष ही होता है वह वैषम्य तथा नैर्घृण्य दोष से दूषित नहीं होता है। ईश्वर ही प्राणियों को फल देने के लिए उनके कर्मानुसार सृष्टि करता है। जो कर्म जिस प्रकार का होता है वह उसी प्रकार का जन्म प्राप्त करता है, तथा उसी प्रकार के सुख तथा दु:खादि को प्राप्त करता है। इसलिए कर्मों के आक्षेप से ईश्वर में वैषम्य तथा निर्घृण्य दोष नहीं होते हैं। तब प्रश्न करते हैं कि फिर सापेक्ष ईश्वर ही किस प्रकार नीच मध्यम तथा उत्तम सृष्टि की रचना करता है, इसलिए श्रुतियाँ यह दिखाती है कि -'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' (कौषितकीब्राह्मणम् 3.8) इति, 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पाप: पापेन' (बृहदारण्यकोपनिषत् 3.2.13) इति च। स्मृतियों ने भी प्राणि के कर्म विशेषों पर ही आक्षेप करके एक ही ईश्वर का अनुग्रहीतृत्व तथा निग्रहीतृत्व दिखाया है। इसलिए भगवान कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है कि

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या: पार्थ सर्वश:॥ इति। [4.11]

पाठगत प्रश्न 15.2

1. परिणाम किसे कहते हैं?
2. विवर्त किसे कहते हैं?
3. अप्पयदीक्षित के मत में परिणाम तथा विवर्त क्या है?
4. अद्वैतवेदान्तियों का सत्तात्रय क्या है?
5. व्यवहारिकत्व किसे कहते हैं?
6. अद्वैत वेदान्त के मत में परमेश्वर की सृष्टि प्रवृत्ति किस प्रकार की है?

   क) सप्रयोजन

   ख) लीलारूप

   ग) भोगरूप

   घ) मोक्षरूप
7. किस प्रकार की अपेक्षा करके ईश्वर सृष्टि में प्रवर्तित होता है?
8. विषम सृष्टि किसलिए होती है?

15.7) ईश्वर ही जगत की सृष्टि का कारण हैं

अद्वैत वेदान्त के मत में ईश्वर ही जगत की सृष्टि का कारण है। वह ईश्वर ही अपनी माया शक्ति का अवलम्बन लेकर के जगत की सृष्टि करता है। माया शक्ति ही अज्ञान कहलाती है। उस अज्ञान का लक्षण सदानन्दयोगीन्द्र ने वेदान्तसार में बताया है- "अज्ञानं तु सदसद्भ्याम् अनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधी भावरूपं यत्किञ्चित्" अज्ञान सद् तथा असद् दोनों के द्वारा अनिर्वचनीय त्रिगुणात्मक ज्ञानविरोधी भावरूप होता है। पञ्चदशीकार विद्यारण्यस्वामी के द्वारा सत्त्वगुण के तारतम्य के अनुसार अविद्या तथा माया इस प्रकार से अज्ञान के दो रूपों की कल्पना की गई। पञ्दशीकार के मत में अविशुद्धसत्त्वात्मिका अविद्या ही जीव की उपाधि है तथा विशुद्धसत्त्वात्मिका माया ही ईश्वर की उपाधि है इसलिए माया का उपाधिक ईश्वर कहलाता है तथा अविद्योपाधिक जीव। भले ही माया ईश्वर की उपाधि फिर भी माया ईश्वर के अधीन होकर के रहती है, ईश्वर माया के परतन्त्र नहीं होता है। अविद्योपाधिक जीव तो अविद्या के अधीन होकर के ही रहता है इस कारण से वह अविद्या के परतन्त्र होता है। इस प्रकार से माया तथा अविद्या का भेद जानना चाहिए। अत: पञ्चदशी में कहा है

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वर:।
अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचि यादनेकधा॥ इति।

फिर वह अज्ञान समष्टि तथा व्यष्टि के भेद से दो प्रकार का होता है। समष्टि अज्ञानोपाहितचैतन्य ईश्वर होता है तथा व्यष्टि अज्ञानोपाहितचैतन्य जीव होता है, इस प्रकार से व्यवहार किया जाता है।

पाठ-15

सृष्टि विचार

ध्यान दें:

भले ही अज्ञान का आश्रय लेकर के ईश्वर जगत की सृष्टि करता है फिर भी केवल अज्ञान ही प्रपञ्च का कारण नहीं होता है। अपितु स्वयं ईश्वर ही जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण होता है। जैसे चेतन कुम्भकार घट के प्रति निमित्त कारण होता है उसी प्रकार ईश्वर भी चैतन्य की प्रधानता के कारण जगत् का निमित्तकारण होता है। जैस मृत्तिका घट के लिए उपादान कारण होती है उसी प्रकार ईश्वर भी अपनी उपाधि माया की प्रधानता के कारण जगत का उपादान कारण होता है। एक ही वस्तु के निमित्तकारण तथा उपादान कारण होने से यह दृष्टान्त मकड़ी की तरह है। जैसे मकड़ी जाले को बनाने में अपनी प्रधानता से निमित्त कारण तथा अपने शरीर की प्रधानता से उपादान कारण होती है वैसे ही ईश्वर भी चैतन्य की प्रधानता के कारण जगत् का निमित्तकारण तथा अचैतन माया की प्रधानता के कारण उपादान कारण होता है, इस प्रकार से ईश्वर का जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण समझना चाहिए। सर्ववेदान्तसंग्रह में कहा भी गया है कि

यथा लूता निमित्तञ्च स्वप्रधानतया भवेत्।
स्वशरीरप्रधानत्वेनोपादानं तथेश्वरः॥
निमित्तमप्युपादानं स्वयमेव भवन् प्रभुः।
चराचरात्मकं विश्वं सृजत्यवति लुम्पति॥ इति।

निश्चित रूप से ईश्वर का अभिन्न निमित्तोपादनकारणत्व होता है ऐसा कुछ श्रुतियों में प्रमाण भी मिलता है 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इस प्रकार के वाक्य में ब्रह्म का अभिन्ननिमत्तोपादानकारण ज्ञापित भी होता है। सृष्टि कर्तृत्व के कारण ईश्वर जगत का निमित्त कारण होता है लेकिन वह केवल निमित्त कारण ही नहीं है अपितु सृज्यमान जगत में स्वयं ही प्रविष्ट भी है,ऐसा भी श्रुतियों में कहा गया है। तो फिर अचेनतन जड प्रपञ्च के उपादान कारण चेतन ईश्वर किस प्रकार से हो सकता है यह तो कार्य तथा कारण के अनन्यत्व दोनों बातें साथ में नहीं चल सकती। यदि ईश्वर का उपादान कारणत्व माने तो कार्यकारण के अभेद रूप प्रसङ्ग से तो जड़ प्रपञ्च का भी चैतन्यरूपत्वप्रसङ्ग होने लगता है।

तब उत्तर देते हुए कहते हैं की पहला कारण तो कार्य तथा कारण के अनन्यत्व होने पर भी चेतन से अचेतन तथा अचेतन से चेतन की उत्पत्ति जगत में देखी जाती है इस कारण से यह एकान्तिक नियम नहीं है कि चेतन-अचेनत का उपादान कारण होने योग्य नहीं है। जैस संसार में गोबररूपी अचेतन चेतन बिच्छु आदि की तथा मनुष्यरूपी चेतन से अचेतन नखकेशादि की उत्पत्ति देखी जाती है।

दूसरा कार्य कारण के अभेद होने पर भी सभी कारण के गुण कार्य में हो ऐसा भी नियम नहीं है। सभी कारण के गुण यदि कार्य में होंगे तो यह कारण है तथा यह कार्य है इस प्रकार का व्यवहार भेद ही नहीं हो पायेगा।

तीसरा चेतन ईश्वर तो प्रपञ्च का विवर्तोपादान कारण है न की परिणामि उपादान कारण। जगत का परिणामी उपादान कारण तो अज्ञान के कारण माया का ही भेद है। ईश्वर के विवर्तोपादातनत्व से जगत के चेतनत्व के प्रसङ्ग में नित्यता नहीं है। अत: चेतन ईश्वर के उपादान कारणत्व मानने पर यहाँ पर कोई दोष नहीं होता है।

चौथा कारण- जैसे लोहे के सन्निधान के समय (फेक्ट्री में) लोहा भी चेष्टा करता है वैसे ही चैतन्य के सन्निधान में जड अज्ञान भी चेष्टा करता है इस प्रकार से अज्ञान विकार के प्रति चेतन का निमित्तत्व, जडाकाशादिकार्य के प्रति माया का साक्षात् उपादानत्व से ईश्वर की भी परम्परा से गौणता से वह उपादानत्व के विरुद्ध नहीं होता है।

ध्यान दें:

15.8) अज्ञान का शक्तिद्वय

अद्वैत वेदान्तियों के द्वारा अज्ञान की दो शक्तियों को अङ्गीकार किया गया है। आवरण शक्ति तथा विक्षेप शक्ति। आवरण शक्ति के द्वारा वस्तु आच्छादित होती है तथा विक्षेप शक्ति के द्वारा नूतन वस्तु प्रतीत होती है। जैस भ्रान्तिवश जहाँ पर रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है वहाँ पर पहले तो आवरण शक्ति के द्वारा रस्सी का स्वरूप आच्छादित होता है फिर विक्षेप शक्ति के द्वारा रस्सी में सर्प इस प्रकार की नयी वस्तु प्रतीत होती है। जहाँ पर भ्रान्ति के द्वारा भ्रान्ति के द्वारा शुक्ति में रजत की प्रतीति होती है वहाँ पर अज्ञान की आवरण शक्ति के द्वारा शुक्ति का स्वरूप आच्छादित होता है। अज्ञान की विक्षेप शक्ति से शुक्ति में रजत है इस प्रकार की नूतन वस्तु प्रतीत होती है। इसी प्रकार प्रकृत आत्मा में आवरणशक्ति से स्वस्वरूप आच्छादित होता है उसी प्रकार विक्षेप शक्ति के द्वारा आत्मस्वभाव विरुद्ध कर्तृत्व भोक्तृत्वादि आत्मा में प्रकाशित होते है। इसलिए हस्तामलक ने कहा है कि-

घनच्छन्नदृष्टिः घनच्छन्नमर्कं
यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः।
तथा बद्धवत् भाति यो मूढदृष्टेः
स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥ इति।

मेघ के द्वारा जिस मूढ की दृष्टि आवृत होती है, वह मूढ़ जैसे प्रकाशमान सूर्य को मेघावृत्त तथा निष्प्रभ मानता है। वैसे ही जिसका ज्ञान अज्ञान के द्वारा आच्छादित रहता है उसके पास में नित्य चैतन्यस्वरूप आत्मा भी बद्ध रूप में प्रतीत होती है। उस प्रकार का नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा ही 'मैं' इस प्रकार से कहा जाता है। अज्ञान ही आवरण स्वभाव होता है। अज्ञान का उसी प्रकार का आच्छादन सामार्थ्य ही आवरणशक्ति कहलाता है। वस्तुतः अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म कभी भी अज्ञान द्वारा आवृत्त नहीं होता है इसलिए "घटः सन्", "पटः सन्" होता हुआ वह घट पटादि के रूप में भासित होता है।

अब यह संशय होता हैं कि अपरिच्छिन्न चैतन्यस्वरूप असीम आत्मा का किस प्रकार से असीम परिच्छिन्न अज्ञान का आवरण होता है, तब यह समाधान किया जाता है की वस्तुतः अज्ञान ही स्वप्रकाश सर्वव्यापक ब्रह्म का आवरण कारक नहीं होता है। जब अज्ञान परिच्छिन्न जीव का आवरक होता है तब ब्रह्म आवृत्त होता है इस प्रकार भ्रमवश जीव मानने लगता है। अनात्मपदार्थ के धर्म जब कर्तृत्व अभोक्तृत्व सुख दुःखादि हीन आत्मा में आरोपित होते है तब "अहं कर्ता", "अहं भोक्ता", "अहं सुखी", "अहं दुःखी" इस प्रकार से मूढ़ जीव मानने लगता है। आवरण शक्ति के द्वारा ही अपरिच्छिन्न परमात्मा का कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वादि सम्भव होते हैं। जैसे अज्ञानवश सर्प रहित रस्सी में सर्पत्व की सम्भावना होने लगती है। इसलिए सदानन्द योगीन्द्र के द्वारा वेदान्तसार में कहा गया है कि "इस आवरण शक्ति के द्वारा ही अवच्छिन्न आत्मा का कर्तृत्व भोक्तृत्व सुख दुःख मोहात्मक तुच्छ संसार की भावना भी सम्भव होती है जैसे अपने अज्ञान से आवृत्त रस्सी में सर्पत्व की भावना होने लगती है"।

शक्तिमान कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। प्रपञ्चरूपी कार्य के कारण अज्ञान में कार्यजननानुकूल शक्ति अवश्य होती है। सृष्टि की शक्ति ही विक्षेप शक्ति कहलाती है। अज्ञान जिस शक्ति के द्वारा स्वावृत्त आत्मा में आकाशादिप्रपञ्चों को उत्पन्न करता है वह विक्षेप शक्ति कहलाती है। वाक्यसुधा में यह कहा गया हैं कि "विक्षेपशक्ति ही लिङ्गादिब्रह्माण्ड जगत् को उत्पन्न करती है"। तीनों गुणों के

ध्यान दें:

मध्य जब रजोगुण के द्वारा तथा सत्वगुण के द्वारा तम अभिभूत नहीं होता है तब आवरण शक्ति की प्रधानता होती है। जब रजोगुण गुणान्तर के द्वारा अभिभूत नहीं होता है तब विक्षेपशक्ति की प्रधानता जाननी चाहिए। अद्वैतामोद में कहा गया है "रजस्तमोभ्यामनभिभूतं तम: आवरणशक्ति: तम:सत्त्वाभ्याम् अनभिभूतं रज: विक्षेपशक्ति:।" इस प्रकार से तमोगुण प्रधान अज्ञान के द्वारा वस्तु स्वरूप का आवरण उत्पन्न होता है तथा रजोगुण प्रधान अज्ञान के द्वारा आवृत्तवस्तु में मिथ्याभूत वस्तु प्रतीत होती है, इस प्रकार से समझना चाहिए।

15.9) कार्य तथा कारण का अनन्यत्व

कार्य तथा कारण क्या अत्यन्त विलक्षण हैं अथवा कार्य तथा कारण क्या सजातीय होते हैं इस प्रश्न का दर्शन सम्प्रदाय में बहुत काल से विचार किया जा रहा है। वहाँ कार्य को कारण से अत्यन्त ही विलक्षण बहुत से लोग मानते हैं तथा अनेक लोग कार्य तथा कारण सजातीय है इस पक्ष का भी समर्थन करते है। अद्वैत वेदान्ती तो कार्य तथा कारण में अनन्यत्व समझते हैं।

संसार में भोक्ता तथा भोग्य को भिन्न-भिन्न रूप में देखा भी जाता है। व्यवहार में प्रपञ्च की नाना जगहों पर प्रतीति होने से यह सभी को प्रत्यक्ष हो जाता है। इस कार्य भूत प्रपञ्च का कारण ही ब्रह्म है, इस प्रकार से अद्वैतवेदान्ति मानते हैं। अत: कारण ब्रह्म है तथा कार्य जगत् है। उन दोनों कार्य तथा कारण में जगत् तथा ब्रह्म मे सजातीयत्व होता है या नहीं यहाँ पर संशय होता है। सजातीयत्व होने पर ही जगत् तथा ब्रह्म कार्य तथा कारण भाव से युक्त हो सकते हैं, विलक्षण होने पर तो कार्य तथा कारण भाव साथ में नहीं चल सकते है। ब्रह्म नित्य चेतन शुद्ध होता है तथा जगत् अनित्य अचेतन एवं अशुद्ध रूप में जाना जाता है। इसलिए उन दोनों का विलक्षणत्व जानना चाहिए। विलक्षणत्व तो कार्यकारणभाव में दिखाई नहीं देता है। जिस प्रकार से आभूषणों का कारण मृत्तिका नहीं हो सकती तथा शराव आदि का कारण स्वर्ण नहीं हो सकता। मिट्टी से ही मिट्टी के विकार उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार सुवर्ण से ही सुवर्ण के विकार उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार यह यह भी जगत अचेतन सुखदु:खमोहान्वित होता हुआ अचेनत का ही सुखदु:खमोहात्मक कारण होने योग्य है न की विलक्षण ब्रह्म का। ब्रह्म का विलक्षणत्व इस जगत् के अशुद्ध चेतनत्व के दर्शन से समझना चाहिए। यह जगत् सुखदु:खमोहात्मकता के कारण प्रीतिपरितापविषादादिहेतुत्व से तथा स्वर्गनरकाद्युच्चावचप्रपञ्चत्व से अशुद्ध होता है। इसलिए विलक्षणत्व के कारण ब्रह्म तथा जगत का कार्य तथा कारण भाव साथ में नहीं चल सकता है।

तब उत्तर देते हुए कहते हैं कि ऐसा नहीं है। विलक्षणत्वात् से तो यह जगत् ब्रह्मप्रकृति रूप सो जो कहा गया है वह साथ में नहीं चलता है। तथा यह अव्यभिरचरित नियम भी नहीं हैं कि कार्य तथा कारण में विलक्षणत्व नहीं होता है। संसार मे देखा भी जाता है चेतनत्व युक्त पुरुषादि से विलक्षण केश नख आदि कि उत्पत्ति होती है तथा अचेतनत्व के रूप में प्रसिद्ध गोमयादि से वृश्चिकादि की उत्पत्ति होती है। अब कहते हैं की पुरुषों के शरीर भी अचेतन होते हैं तथा उनके कारण नखकेशादि भी अचेतन ही होते हैं तथा वृश्चिकादि अचेतन शरीर ही अचेतन गोमयादि का कार्य है, इस प्रकार से कुछ अचेनत तथा चेतन का आयतन भाव होता इसमें कुछ भी वैलक्षण्य नहीं है।

तब उत्तर देते हुए कहते हैं कि स्वरूप भेद से यहाँ पर पारिणामिक स्वभावविप्रकर्ष पुरुषादि का नखादि से तथा गोमयादि का वृश्चिकादि से होता है। यहाँ पर अत्यन्त सारुप्य होने के कारण प्रकृतिविकारभाव ही प्रतीत होता है,अत: विलक्षणत्व होने पर भी जगद् तथा ब्रह्म के कार्य तथा कारण

ध्यान दें:

भाव को त्याग नहीं सकते। इसलिए श्रुतियाँ प्रपञ्च की ब्रह्म कारणता को बार बार कहती है। "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः" इत्यादियों के द्वारा।

विलक्षणत्व भी यदि जगत् तथा ब्रह्म का कार्यकारणत्वभाव माने तो ब्रह्म के कार्य तथा कारण को स्वीकार करें तो ऐसा भी नहीं है। कार्य तथा कारण में व्यवहार वैलक्षण्य होने पर भी उसे परमार्थरूप से अन्यन्यत्व ही समझाना चाहिए। इसलिए बादरायणकृत शारीरिकमीमांसा सूत्र में कहा गया है - "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" इति। इस सूत्र का सामान्य अर्थ यह है की कार्य का कारणानन्यत्व समझना चाहिए, किस प्रकार से समझे तो कहते हैं कि चेत् ष्वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" इस प्रकार की आरम्भ श्रुतियों के द्वारा समझना चाहिए। अतः भाष्यकार शङ्कराचार्य भगवत्पादने सूत्र भाष्य में कहा हैं कि "अभ्युपगम्य चेमं व्यावहारिकं भोक्तृभोग्यलक्षणं विभागम् 'स्याल्लोकवत्' इति परिहारोऽभिहितः; न त्वयं विभागः परमार्थतोऽस्ति, यस्मात्तयोः कार्यकारणयोरनन्यत्वमवगम्यते। कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत; कारणं परं ब्रह्म; तस्मात्कारणात्परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते। कुतः। आरम्भणशब्दादिभ्यः।"

(अर्थात् इस व्यवहारिक भोक्तृभाव का विभाग लोक समान मानना चाहिए, इस प्रकार से परिहार भी अभिहित हो जाता है, लेकिन जो परमार्थ होता है उसका विभाग नहीं होता है जिससे उन दोनों कार्य तथा कारण का अनन्यत्व समझा जाता है। कार्य आकाशादि बहुप्रपञ्चात्मक जगत् होता है तथा कारण परब्रह्म होता है, अतः कारण से परमार्थत्व का अनन्यत्व तथा व्यतिरेक से अभाव कार्य का भी समझा जाता है। किस प्रकार से तो आरम्भण शब्दादि से।)

कारण तथा कार्य में अनन्यत्व समझना ही भाष्यकार का आशय है। जो अन्य नहीं है वह अनन्य कहलाता है उसका भाव अनन्यत्व अर्थात् उसके समान यह अर्थ होता है। इस प्रकार से उसके द्वारा कारण के समान ही कार्य होता है यह अर्थ लिया जाता है। क्या यही अर्थ भाष्यकार के द्वारा यहाँ पर अभिप्रेत है तो कहते है कि नहीं।भाष्यकार के द्वारा तो अनन्यत्व ही पद का अर्थ बताया गया है तथा व्यतिरेक द्वारा अभाव। इसका यह अर्थ हुआ की कारणव्यतिरेक द्वारा कार्य का अभाव होता है। जैसे घट का कारण मृत्तिका है,यहाँ पर मिट्टी के व्यतिरेक से घट की सत्ता ही सम्भव नहीं होती है क्योंकि कारण मिट्टी तथा घट में अनन्यत्व है। उसी प्रकार रज्जु में जब सर्प प्रतीत होता है तब रज्जु के स्वरूप मे व्यतिरेक के कारण सर्प नहीं होता है। रज्जु की सत्ता ही वस्तुतः सर्प की सत्ता होती है। अद्वैत वेदान्तियों के द्वारा अधिष्ठान सत्ता व्यतिरेक के कारण आरोपित सत्ता अङ्गीकार नहीं की जाती है। उससे अधिष्ठान भूत कारण की सत्ता ही वस्तुतः मिथ्यारूप में प्रतीयमान विकारभूत कार्य की सत्ता होती है। यदि रज्जु नहीं होती तो कभी भी सर्प प्रतीत नहीं होती। इस प्रकार से रज्जु के व्यतिरेक से प्रतीयमान सर्प का जो अभाव होता है, उसे ही कार्य तथा कारण में अनन्यत्व समझना चाहिए। कार्य तथा कारण के अनन्यत्व में छान्दोग्य श्रुति ही प्रमाभूत है। छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में इस प्रकार से कहा गया है कि- 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा. उ. 6.1.4) इति। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार से एक ही मिट्टी के पिण्ड से परमार्थता मिट्टी के स्वरूप को जानने से सभी मिट्टी के घट शराव आदि का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार एक ब्रह्म को जानने से ही उसके विवर्तभूत नामरूपात्मक जगत का भी ज्ञान हो जाता है।

ध्यान दें:

जिस प्रकार विकार- घट शराव आदि होते हैं न की वस्तुवृत्त अन्य कोई विकार होते हैं इनका नामधेयमात्र तो अनृत होता है, इस प्रकार से मिट्टी ही सत्य होती है, उसी प्रकार कार्यभूत प्रपञ्च भी नामधेयमात्र तथा अनृत होता है यहाँ पर केवल कारण ब्रह्म ही सत् होता है। इस प्रकार से ब्रह्म व्यतिरेक के द्वारा कार्यजात का अभाव होता है इस प्रकार के दृष्टान्त से यह निष्कर्ष निकलता है। वस्तुत: उसी एक को जान लेने पर सभी को जाना जाता है इस प्रकार से प्रतिज्ञा की जाती है यदि कार्य तथा कारण में अनन्यत्व नहीं मानेंगे तो एक को जान लेने पर सभी को जाना जा सकता है यह प्रतिज्ञा नहीं की सकती। अत: कार्य तथा कारण का अनन्यत्व स्वीकार करना चाहिए।

पाठगत प्रश्न-15.3

1. सत्वगुण की तारतम्यता के अनुसार अविद्या तथा माया अज्ञान की द्विरूपता किसके द्वारा कल्पित की गई है?

   क) विद्यारण्यस्वामी के द्वारा

   ख) सदानन्दयोगीन्द्र के द्वारा

   ग) गौडपादाचार्य के द्वारा

   घ) शङ्कराचार्य के द्वारा

2. अद्वैत वेदान्त के मत में ईश्वर जगत का है?

   क) उपादानकारणमात्रम्

   ख) निमित्तकारणमात्रम्

   ग) अभिन्ननिमित्तोपादानकारणम्

   घ) कुछ भी नहीं

3. जगत का परिणामी उपादान कारण क्या है?

4. जगत का विवर्तोपादान कारण क्या है?

5. अज्ञान की दो शक्तियाँ कौन-कौन सी है?

6. कार्य तथा कारण का अन्यन्यत्व किसे कहते हैं?

पाठ सार

दर्शनों के आलोचित विषयों में अन्यतमरूप से अद्वैत वेदान्त दर्शन में सृष्टितत्व का विचार किया गया है। अद्वैतमत में परमार्थत: सृष्टि नहीं होती है अपितु व्यवहार से ही सृष्टि होती है। अद्वैत दृष्टि के द्वारा सृष्टि श्रुतियों का तात्पर्य तो ब्रह्मतत्व का अवबोध ही होता है। इसलिए अध्यारोपवाद का आश्रय लेकर के श्रुतियों ने सृष्टि तत्व का वर्णन किया है, इस प्रकार का उनका अभिप्राय है। जगत की सृष्टि ईश्वर की लीला रूप ही है यहाँ पर कुछ कोई अन्य प्रयोजन नहीं समझना चाहिए। ईश्वर ही प्राणियों के

सृज्यमानकर्मों की अपेक्षानुसार जगत् की सृष्टि करता है जिससे इसमें वैषम्यनैर्घृण्यदोष भी नहीं आता है। सृष्टि का मूल कारण तो अज्ञानाभिधेय माया ही है। ईश्वर जगत का अभिन्न निमित्तोपादन कारण है माया को परिणामी उपादान कारण तथा ईश्वर को विवर्तोपादन कारण समझना चाहिए। उस अज्ञान की ही आवरण तथा विक्षेप दो प्रकार की शक्ति होती है। आवरण शक्ति के द्वारा ब्रह्म का स्वरूप आच्छादित रहता है तथा विक्षेप शक्ति शक्ति से इस प्रपञ्च की रचना होती है। जगत् ब्रह्म से भिन्नत्व रूप में प्रतीत होने पर भी ब्रह्मविवर्तत्व के कारण ब्रह्म से अभिन्न ही जगत को अङ्गीकार करना चाहिए कार्य तथा कारण के अनन्यत्व के नियम से। कार्य तथा कारण का अनन्यत्व कारण का व्यतिरेक तथा कार्य का अभाव होता है। इस प्रकार से ब्रह्मव्यतिरेक जगत् की सत्ता नहीं होती है इस प्रकार से समझना चाहिए।

पाठान्त प्रश्न

1. अद्वैतवेदान्ती परमार्थ को किसलिए अङ्गीकार नहीं करते हैं विचार कीजिए।
2. अद्वैतमत में सृष्टि श्रुतियों के आशयों का वर्णन कीजिए।
3. अध्यारोपावाद न्याय का तात्पर्य लिखिए।
4. विवर्तवाद विषय में तथा परिणामवादविषय में लघु टिप्पणी लिखिए।
5. अद्वैतमत में सृष्टि का प्रयोजन हैं अथवा नहीं यह विचार कीजिए।
6. ईश्वर के अभिन्निमित्तोपादन कारणत्व का प्रतिपादन कीजिए।
7. वैषम्यनैर्घृण्यदोषः ईश्वर में किस प्रकार से नहीं होता है विचार कीजए
8. अज्ञान की दोनों शक्तियों का आलोचन कीजिए।
9. कार्य तथा कारणत्व के अनन्यत्व का अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से प्रतिपादन कीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 15.1

1. न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।

   न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।। इति।
2. मन्दों के लिए
3. सविशेष तथा निर्विशेष इस प्रकार से दो रूप होते हैं।
4. निर्विशेष ब्रह्म ही नामरूप उपाधियों से विवर्जित शुद्धस्वरूप तथा सत्यज्ञानानन्तपदादि पद से लक्षित होता है
5. नामरूपोपाधिविशेषसम्बन्ध से ब्रह्म सविशेषत्व वाला होता है।
6. सर्व व्यवहार हीन ब्रह्मात्म प्रतिपादन के लिए।
7. ग) अध्योरोपवादन्याय।

8. अध्यारोप वस्तु में होने वाला आरोप होता है।

9. अपवाद 'रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद् वस्तुविवर्तस्य अवस्तुनः अज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्' होता है।

10. रज्जु में सर्प का आरोप

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 15.2

ध्यान दें:

1. परिणामभाव अर्थात् वस्तु का यथार्थ स्वस्वरूप को त्यागकर अन्य स्वरुप में परिवर्तन करना होता है जैस दूध अपने स्वरूप को त्यागकर दही में रूप में परिवर्तन कर लेता है।

2. स्वस्वरूप अपरित्याग से स्वरूपान्तर से जो मिथ्या प्रतीति होती वह विवर्त कहलाता है, जैसे शुक्ति का अपने स्वरूप के अपरित्याग से रजत रूप में मिथ्या प्रतीत होती है।

3. अप्पयदीक्षित के मत में समसत्ताक अन्यथा भाव परिणाम होता है तथा विषयसत्ताका अन्यथा भाव विवर्त होता है।

4. पारमार्थिक सत्ता, व्यावहारिक सत्ता तथा प्रातिभासिक सत्ता।

5. पारमार्थिक सत्ता बाध्यत्व।

6. ख) लीला रूप

7. धर्माधर्माख्य कर्म।

8. सृज्यमानप्राणिधर्माधर्म की अपेक्षा के कारण विषम सृष्टि होती है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 15.3

1. क) विद्यारण्यस्वामी के द्वारा

2. ग) अभिन्निमित्तोपादान कारण

3. अज्ञानाभिदेया माया

4. ईश्वर

5. आवरण शक्ति तथा विक्षेपशक्ति

6. कारणव्यतिरेक से कार्य का अभाव।

ध्यान दें:

16

सृष्टि प्रलय विचार

सृष्टिविचारप्रसङ्ग में अद्वैतवादियों का प्रधानतत्व अज्ञानतत्व ही होता है। उसके ही नामान्तर अविद्या, माया अव्यक्त तथा अव्याकृत इत्यादि हैं। प्रश्न करते हैं कि अज्ञान किसे कहते हैं। उत्तर देते हुए वेदान्तर सार में कहा गया है की अज्ञान सत् तथा असत् दोनों के द्वारा अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्म, ज्ञानविरोधी तथा भावरूप होता है। ईश्वर ही अनिर्वचनीय इस त्रिगुणात्मिक माया को अपने शक्ति से आश्रित करके लीला के द्वारा जगत् बिम्बरचना के लिए प्रवर्तित होता है। ईश्वर के देखने मात्र से ही जगत की सृष्टि होती है यह श्रुति प्रसिद्ध भी है। फिर भी सृष्टि का अद्वैत वेदान्तसम्मत कोई क्रम है, इस प्रकार से जिज्ञासु दार्शनिकों के ज्ञान के लिए वेदान्तियों ने सृष्टिक्रम प्रतिपादित किया है। सृष्टितत्व के विषय में सांख्यों का प्रकृतिमहत्तत्वादिक्रम सुप्रसिद्ध है, न्याय वैशेषिकों का द्वयणुकादि क्रम। इस विषय मे अद्वैतवेदान्तियों का क्या सृष्टि क्रम है तथा कौन सृष्टि के पदार्थ हैं यह विषय जानना चाहिए।

उद्देश्य

इस पाठ को पढ़कर के आप सक्षम होंगे;

- अद्वैत वेदान्त दर्शन के सृष्टितत्व के विषय में विस्तार से परिचय प्राप्त करने में;
- अद्वैत वेदान्त सम्मत सृष्टिक्रम के विषय में समझ विकसित करने में;
- सृष्टि के क्रम में श्रुतियों का विरोध समझने में;
- आकाश की सृष्टि होती है अथवा नहीं यह समझ विकसित करने में;
- पञ्चीकरण की प्रक्रिया का विस्तार से परिचय करने में;
- प्रलय के विषय में विस्तार से परिचय करने में;

16.1) सृष्टिक्रमः

ब्रह्मा से ही जगत् की सृष्टि होती है इस प्रकार का अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त है। लेकिन जैसे अन्य दर्शनों में सृष्टि का कोई क्रम है क्या वैसे ही अद्वैत वेदान्त में भी सृष्टि का कोई क्रम है यह विषय जानना चाहिए। वस्तुतः परमेश्वर के देखने मात्र से सृष्टि उत्पन्न होती है, उसमें क्रम का अनुसन्धान नहीं करना

ध्यान दें:

चाहिए। लेकिन बहुत सी श्रुतियों में सृष्टि को साधारण जनों के समझाने के लिए किसी क्रम का आश्रय लिया गया है, और वह क्रम सृष्टि साधारण लोगों के बोध के लिए उपयोगी होती है। इस कारण से अद्वैत वेदान्त में सृष्टि का क्रम विचारा गया है। तैत्तिरीय उपनिषद में आत्मा के स्वरूप का विचार करके सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस प्रकार के ब्रह्म के स्वरूप का लक्षण बताकर के उसी ब्रह्म को सृष्टिकारणत्व के रूप में प्रतिपादन करने के लिए सृष्टि का क्रम बताया गया है।

16.1.1) सूक्ष्मभूत

इस प्रकार से अज्ञानोपाहित चैतन्य से अर्थात् ईश्वर से सबसे पहले आकाश की उत्पत्ति होती है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल उत्पन्न होता है तथा जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है, इस प्रकार से यह पञ्चमहाभूतों का सृष्टि क्रम चलता है। ये पञ्चमहाभूत सबसे पहले सूक्ष्मरूप में उत्पन्न होते हैं तब वे एक-दूसरे के साथ मिलकर के अलग भूत के रूप में भी उत्पन्न हो जाते हैं। तब वे अपञ्चीकृत महाभूत तन्मात्रा के रूप में कहलाते हैं। तब वे व्यवहार योग्य नहीं होते हैं। उनसे पञ्चीकरण प्रक्रिया के द्वारा पञ्चमहाभूत परस्पर मिश्रित हो जाते हैं तथा व्यवहार योग्यता को प्राप्त कर लेते हैं। पञ्चीकरण प्रक्रिया क्या होती है तो कहते हैं की पञ्चमहाभूतों के परस्पर मिलने के द्वारा उनकी स्थूलरूपता अपादान ही पञ्चीकरण प्रक्रिया कहलाती है। उसका आगे विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया जाएगा।

अपञ्चीकृत पञ्चसूक्ष्मभूतों से स्थूलभूत पाँच ज्ञानेन्द्रियां, पाँचकर्मेन्द्रियां, पाँच वायु,बुद्धि तथा मन उत्पन्न होता है। श्रोत्र, चक्षु, जिह्व तथा घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियां होती है। वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियां होती हैं। प्राण, अपान, समान,व्यान तथा उदान ये पाँच वायु होती है।

16.1.2) ज्ञानेन्द्रियाँ

ज्ञानेन्द्रियाँ आकाशादि के अलग अलग सात्विकाश से क्रम से उत्पन्न होती हैं। जिसमें आकाश के सात्वकांश से श्रोत्र उत्पन्न होते हैं। वायु के सात्विकांश से त्वक् इन्द्रिय उत्पन्न होती हैं। तेज के सात्त्विकांश से चक्षु उत्पन्न होते हैं। जल के सात्विकांश से जिह्वा उत्पन्न होती है। तथा पृथ्वी के सात्विकांश से घ्राण इन्द्रियां उत्पन्न होती है। इस प्रकार से ये क्रम से उत्पन्न होते हैं।

16.1.3) कर्मेन्द्रियाँ

कर्मेन्द्रियाएँ भी आकाशादि के अलग-अलग रजांशो के द्वारा उत्पन्न होती है। वो इस प्रकार से है रजोगुण प्रधान आकाश से वाक् की उत्पत्ति होती है। रजोगुण प्रधान वायु से पाणि की उत्पत्ति होती है। रजोगुण प्रधान अग्नि से पाद (पैर) की उत्पत्ति होती है। रजोगुण प्रधान जल से पायु इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है तथा रजोगुण प्रधान पृथ्वी से उपस्थेन्द्रिय की उत्पत्ति होती है।

16.1.4) मिलित सूक्ष्मभूतों के कार्य

पाँच वायु पाँच वायु आकाशादि के रजांशों के मिलने से उत्पन्न होते है। क्रिया के भेद होने से ही उनका भेद होता है, वायुत्व की दृष्टि से तो वे समान होते है। वे हैं प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान इनमें उर्ध्वगमन शील नासाग्रवायु प्राण कहलाती है। अधोगमनशील पायुस्थानीय वायु अपान कहलाती है। सर्वनाडीगमनशील अखिलशरीरस्थायीवायु व्यान कहलाती है। उर्ध्व उत्क्रमणशील कण्ठस्थायी वायु उदान कहलाती है। शरीर के मध्य में गमनशील अन्नरसादि को ले जाने वाली वायु समान कहलाती

ध्यान दें:

है। इसलिए सदानन्दयोगीन्द्र ने वेदान्तसार में कहा है "प्राणो नाम प्राग्गमनवान् नासाग्रवर्ती। अपानो नाम अवाग्गमनवान् पाय्वादिस्थानवर्ती। व्यानो नाम विष्वग्गमनवान् अखिलशरीरवर्ती। उदानो नाम कण्ठस्थानीयः ऊर्द्ध्वगमनवान् उत्क्रमणवायुः। समानो नाम शरीरमध्यगताशीतपीतादिसमीकरणकरः। समीकरणं तु परिपाककरणं रसरुधिरशुक्रपुरीषादिकरणम्" इस प्रकार से

कुछ लोग नाग- कूर्म-कृकल देवदत्त तथा धनञ्जय इस प्रकार की पाँच अन्य वायु होती है इस प्रकार से कहते हैं। वहाँ पर नाग उद्गिरणकारक, कूर्म उन्मीलनकारण, कृकल क्षुत्कारण, देवदत्त जृम्भण कारक, धनञ्जय पोषणकारक होती है। जिसे प्रकार से गोरक्षा शतक में कहा गया है

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्मस्तून्मीलने स्मृतः।
कृकलस्तु क्षुधि ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे।

इनके प्राणादि के अन्तर्भाव के कारण कुछ लोग इन्हें प्राणादि के अन्तर्गत ही मानते हैं।

अन्तःकरणम्

आकाशादि सात्विकांशों के परस्पर मिलने के बाद उनसे अन्तःकरण उत्पन्न होते है। अन्तः करण के ही वृत्तिभेद के द्वारा बुद्धि, मन, चित्त तथा अहङ्कार इस प्रकार से चार विभाग होते हैं। इसलिए कहा गया है

आकाशादिगताः पञ्च सात्त्विकांशाः परस्परम्।
मिलित्वैवान्तःकरणमभवत् सर्वकारणम्॥
तदन्तःकरणं वृत्तिभेदेन स्याच्चतुर्विधम्।
मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति तदुच्यते॥ इति।

इनमें मन संकल्पविकल्पात्मिका अन्तःकरणवृत्ति होती है। बुद्धि निश्चयात्मिका अन्तः करणवृत्ति होती है। अहङ्कार अभिमानात्मिका अन्तः करणवृत्ति होती है। चित्त स्मरणात्मिका अन्तः करणवृत्ति होती है। इन वृत्तियों में बुद्धि तथा मन की ही प्रसिद्ध है। इसलिए अनेक लोग अहङ्कार तथा चित्त को अलग नहीं मानकर के बुद्धि तथा मन के अन्तर्गत ही मानते है। इसलिए अन्तः करण की द्विरूपता विद्यारण्य स्वामी के द्वारा पञ्चदशी में इस प्रकार से कही गयी है।

तैरन्तःकरणं सर्वैर्वृत्तिभेदेन तद् द्विधा।
मनो विमर्शरूपं स्याद् बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका। इति।

इस श्लोक में मन की विमर्शरूपता भी कही गयी है। विमर्श विशेष रूप से आलोचन विचार को ही कहते हैं। वह विचार यह अथवा इस प्रकार से नहीं जाना जाता है, यह भाव वाला तथा संकल्प तथा विकल्प के द्वारा नहीं जाना जाता है। इसलिए विमर्श सङ्कल्पविकल्पात्मक मन ही होता है।

16.1.5) सूक्ष्मशरीर

पाँच ज्ञानेन्द्रियां, पाँच कर्मेन्द्रियां, पाँच वायु तथा मन इस प्रकार से सत्रह अवयव मिलकर के सूक्ष्मशरीर का निर्माण करते है। इसलिए सत्रह अवयव से युक्त अवयवी सूक्ष्मशरीर कहलाता है। सूक्ष्मशरीर का अपरनाम लिङ्गशरीर है। जिसके द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष सद्भाव जाना जाता है वह लिङ्गशरीर कहलाता है। इसका अर्थ यह है कि सूक्ष्मशरीर के द्वारा जीवात्मा जानी जाती है इस कारण से सूक्ष्मशरीर लिङ्गशरीर कहलाता है। सूक्ष्मशरीर के विषय में विद्यारण्य स्वामी के द्वारा पञ्चदशी में कहा गया है।

ध्यान दें:

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते।। इति।

संक्षेप में सृष्टिक्रम नीचे दिया जा रहा है

निर्गुणं ब्रह्म

--(माया/अज्ञानम्)

ईश्वर (सोपाधिक ब्रह्म)

▼

आकाश ▶ वायु ▶ अग्नि ▶ आप ▶ पृथिवी (सूक्ष्मभूत)

--(पञ्चिकरणम)

▼ ▼ ▼ ▼ ▼ ▼

पाँच ज्ञानेन्द्रियां, पाँच कर्मेन्द्रियां, पाँच स्थूलभूत, पाँच वायु, मन, बुद्धि

पाठगत प्रश्न 16.1

1. पाँच महाभूतों की सृष्टि का प्रतिपादन करने वाली तैत्तिरीय श्रुति कौन-सी है?
2. अज्ञानोपाहितचैतन्य से सबसे पहले कौन-सा भूत उत्पन्न होता है?
3. पाँच ज्ञानेन्द्रियां कौन-कौन सी है?
4. पाँच कर्मेन्द्रियाएं कौन-कौन सी है?
5. पाँच वायु कौन-कौन हैं?
6. ज्ञानेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं?
   क) सूक्ष्मभूतों के सात्विकांश से
   ख) सूक्ष्मभूतों के रजांश से
   ग) सूक्ष्मभूतों के तम अंश से
7. कर्मेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं?
   क) सूक्ष्मभूतों के सात्विकांश से
   ख) सूक्ष्मभूतों के रजांश से
   ग) सूक्ष्मभूतों के तम अंश से
8. उदान किसे कहते हैं?
9. अन्तः करण किससे उत्पन्न होता है?
   क) सूक्ष्मभूतों के मिलित सात्विकांश से
   ख) सूक्ष्मभूतों के मिलित मिलित रजांश से
   ग) सूक्ष्मभूतों के मिलित तम अंश से

ध्यान दें:

घ) सूक्ष्मभूतों के अलग अलग सात्विकांश से

10. अद्वैत वेदान्त के मत में सूक्ष्मशरीर के कितने अवयव होते हैं?

क) ग्यारह ख) तेरह

ग) सत्रह घ) सोलह

11. सङ्कल्पविकल्पात्मिका अन्त:करण की प्रवृत्ति होती है?

क) मन ख) बुद्धि

ग) चित्त घ) अहङ्कार

12. निश्चयात्मिका अन्त:करण की प्रवृत्ति होती है?

क) मन ख) बुद्धि

ग) चित्त घ) अहङ्कार

13. प्राण किसे कहते हैं?

14. जृम्भणकारण वायु कौन-सी होती है?

16.2) भूतसृष्टिक्रम में विरोध का परिहार तथा आकाश का उत्पत्ति विचार

पञ्चमहाभूत अज्ञानोपाहित चैतन्य से उत्पन्न होते हैं इस प्रकार से पहले भी कहा जा चुका है। लेकिन अभी पञ्चमहाभूतों के बीच में किस की उत्पत्ति सबसे पहले होती है इस विषय में विचार किया जाता है। सबसे पहले आकाश की उत्पत्ति होती है अथवा नहीं यह प्रश्न पूर्वपक्षी के द्वारा सबसे पहले पूछा गया। छान्दोग्योपनिषद् में सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा. उ. 6.2.1) इस प्रकार से सत् शब्द से वाच्य ब्रह्म प्रकृत्य 'तदैक्षत' 'तत्तेजोऽसृजत' (छा. उ. 6.2.3) इस प्रकार से पञ्चमहाभूतों का मध्यम तेज आदि करके इनकी उत्पत्ति सुनी जाती है। श्रुति का अतीन्द्रियार्थ प्रतिपत्ति में हमारा प्रमाण होता है। छान्दोग्य श्रुति के द्वारा आकाश की उत्पत्ति प्रतिपादित नहीं की गई है, इस प्रकार से आकाश की उत्पत्ति नहीं होती है ऐसा नहीं है। आकाश की उत्पत्ति प्रधान वाक्य श्रुतियों में प्राप्त होते हैं। इसलिए तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (2.1.1) इति प्रकृत्य, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश: सम्भूत:' (2.1.1) इस प्रकार से आत्म के द्वारा आकाश की उत्पत्ति वर्णित है।

इस प्रकार से श्रुतियों में परस्पर विप्रतिषेध पाया जाता है कहीं पर तो तेज प्रमुख सृष्टि मानी गयी है तो कहीं पर आकाश प्रमुख सृष्टि को माना है।

अब प्रश्न करते हैं इस प्रकार से तो श्रुतियों मे विप्रतिषेध प्राप्त होता है, कही पर तो तेज प्रमुख सृष्टि तो कही पर आकाश प्रमुख। इन श्रुतियों की एक वाक्यता होनी चाहिए। और 'तत्तेजोऽसृजत' इस प्रकार से एक बार श्रुत सृष्टा के स्रष्टव्य दो के द्वारा संबंध उचित नहीं है, 'तत्तेजोऽसृजतष्तदाकाशमसृजत' इस प्रकार से। और कहते हैं कि एक श्रुत कर्ता के भी दो कर्तव्य देखे जातें जैसे सूप को पकाकर के ओदन पकाता है, इस प्रकार तब आकाश की सृष्टि करके उसने तेज की सृष्टि करी इस प्रकार योजित कर देगें। लेकिन ऐसा भी नहीं है छान्दोग्य के अनुसार तेज को समझना चाहिए तथा तैत्तरीय के अनुसार पहले आकाश को समझना चाहिए। लेकिन दोनों इस प्रकार पहले समझना भी उचित नहीं है। कही पर

पाठ-16

सृष्टि प्रलय विचार

ध्यान दें:

छान्दोग्योपनिषद् में सदाख्याता आत्मा के तेज की सृष्टि बतायी गई है। तैत्तरीयोपनिषद् में तो 'वायोरग्निः' इस प्रकार से वायु को ही तेज के उपादानत्व रूप मे वर्णित है। यहाँ पर भी श्रुतिविरोध दिखाई देता है।

यदि छान्दोग्य श्रुति के अनुसार ही जाना जाए तो आकाश की उत्पत्ति ही नहीं होती है। इसलिए जो आकशोत्पत्तिवादिनी श्रुति है वह गौणत्व के रूप में समझी जानी चाहिए। किस प्रकार से तो कहते हैं कि असम्भव होने से। इस प्रकार से आकाश की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। नैयायिकों के मत मे तो कारण सामग्री ही कार्य को जन्म देने में समर्थ होती है। कारण सामग्री के अभाव से आकाश की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं है। समवाय समवाय निमित्तकारणों से ही सभी की उत्पत्ति होती है। द्रव्य का एकजातीय अनेक द्रव्यों का समवायी कारण होता है। आकाश से एकजातीय अनेकद्रव्य आरम्भक नहीं है, जिसमें समवयीकारण होने पर असमवायीकारण में उसका संयोग होने पर आकाश की उत्पत्ति होती है। समवायी तथा असमवायी कारण के अभाव से तो उसका अनुग्रहप्रवृत्त निमित्तकारण दूरापेत ही आकाश का होत है। और उत्पत्ति मानने वालों के मत में तेज से लेकर के पूर्वोत्तर तथा काल में विशेष सम्भवाना होती है। उत्पत्ति से पहले प्रकाशादि कार्य नहीं होते हैं अपितु बाद में होते हैं। इसलिए आकाश की पूर्वोत्तर काल में सम्भवना नहीं कर सकते। क्या उत्पत्ति से पहले आकाश अच्छिद्र हुआ इस प्रकार से इस समझा जा सकता है। पृथ्वी आदि के वैधर्म्य से तथा विभूत्वादि लक्षण से आकाश की अजत्व सिद्धि होती है। जिससे इस प्रकार से लोक में 'आकाशं कुरु', 'आकाशो जातः' इस प्रकार के गौण प्रयोग होते हैं। जैस घटाकाश,मठाकाश, करकाकाश, गृहाकाश, इस प्रकार से एक ही अकाश जातीय भेद व्यपदेश से गौण होता है उसी प्रकार श्रुति में भी आकाश की उत्पत्ति गौणता के द्वारा देखनी चाहिए। श्रुति भी आकाश का नित्यत्व ही सुनाती है। जिस प्रकार से गौणतया द्रष्टव्या। श्रुतिरपि आकाशस्य नित्यत्वं श्रावयति। तथाहि - ष्वायुश्चान्तरिक्षं चौतदमृतम्ष (बृ. उ. 2.3.3) इति, 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' (शतपथब्राह्मणम् 10. 6.3.2) इस प्रकार से। अमृत के नित्य तथा उत्पत्ति को भी नहीं समझा जा सकता है। इस प्रकार से नहीं है आकाश की उत्पत्ति नहीं होती है। तो सिद्धान्ती कहते हैं कि आकाश की उत्पत्ति होती है।

आकाश की उत्पत्ति को नहीं मानने पर प्रतिज्ञा हानि होती है। आत्मविज्ञान के द्वारा सभी का विज्ञान प्राप्त होता है इस प्रकार से वेदान्त प्रतिज्ञा करता है। जिसको श्रुतियों में इस प्रकार कहा गया है कि 'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा. उ. 6.1.3) इति, 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्' (बृ. उ. 4.5.6) इति, 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु.उ. 1.1.3) इस प्रकार से।

ब्रह्म से यदि आकाश की उत्पत्ति नहीं हो तो ब्रहविज्ञान के द्वारा आकाश का विज्ञान भी नहीं होता। तथा एक विज्ञान के द्वारा सभी विज्ञान को जाना जाता है इस प्रतिज्ञा की भी हानि होती है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इस प्रकार से प्रतिज्ञा करने पर मिट्टी आदि दृष्टान्तों के द्वारा कार्य कारण के भेद का प्रतिपादन करने वालों के द्वारा इस प्रतिज्ञा का समर्थन किया जाता है। उसके साधन के लिए ये शब्द है शब्दाः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा. उ. 6. 2.1) 'तदैक्षत' 'तत्तेजोऽसृजत' (छा. उ. 6.2.3) इस प्रकार से कार्य होने पर ब्रह्म का प्रदर्शन करके अव्यतिरेक को प्रदर्शित करते हैं 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छा. उ. 6.8.7) यहाँ से लेकर के प्रापठक की समाप्ति तक वह जो आकाश हो वह ब्रह्म का कार्य नहीं होना चाहिए। तथा ब्रह्म को जान जाने पर आकाश को जाना जा सकता है। इस प्रकार से वहाँ पर प्रतीज्ञा होनी होती है, और प्रतिज्ञा हानि के द्वारा वेदो को अप्रमाणित करना भी उचित नहीं है। इस प्रकार से प्रत्येक वेदान्त में वे वे शब्द उन उन दृष्टान्तों के द्वारा उसी की प्रतीज्ञा को ज्ञापित करते हैं 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (छा. उ. 2.4.6) 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मु. उ. 2. 2.12)

ध्यान दें:

इस प्रकार से अग्नि आदि की तरह ही गगन की उत्पत्ति होती है।

फिर इस प्रकर से कह गया है की- छान्दोग्य उपानिषद् में आकाश की उत्पत्ति के अश्रवण से आकाश की उत्पत्ति नहीं है। तैत्तिरीय उपनिषद् में आकाश की उत्पत्ति दिखाई गई है- 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै. उ. 2.1.1)। अब कहते हैं की भले ही इस उपनिषद् में आकाश की उत्पत्ति दिखाई गई है लेकिन यह तत् 'तत्तेजोऽसृजत' इस श्रुति वाक्य के तो विपरीत है। इस प्रकार से सभी श्रुतियों की एक वाक्यता कभी नहीं हो पायेगी। अब कहते हैं भले ही एक वाक्यता हो जाए लेकिन यहाँ पर तो विरोध ही है। एकबार सुने गये सृष्टा के प्रथम बार मे दो सृजित पदार्थों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है। आकाश को सृजित करके तेज की सृष्टि करी यह भी विकल्प नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ पर भी बहुत से विरोध हैं। इसलिए एक वाक्य सम्भव नहीं होता तो ऐसा भी नहीं है 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः' इस प्रकार से तेज सृष्टि के तैत्तिरीय उपनिषद् में तृतीयरूप में श्रवण से श्रुतियों का एक वाक्यत्व सम्भव हो जाता है। यह तैत्तिरीय श्रुति अन्यथा परिणित करने में असम्भव मानती है, लेकिन छान्दोग्य श्रुति सम्भव मानती है। छान्दोग्य श्रुति के अनुसार तब आकाश तथा वायु की सृष्टि करके, उसने तेज की सृष्टि करी। यह छान्दोग्य श्रुति तेज के जन्म देने में प्रधान नहीं होकर भी श्रुत्यन्तर प्रसिद्ध रूप में आकाश की उत्पत्ति का निवारण कर सकती है। एक ही वाक्य के दो व्यापारों के असम्भव होने से, सृष्टा एक होने पर भी अनेक की सृष्टि करें तो एकवाक्य में अनेक सृष्टि सम्भव होती है। कुछ लोग कहते हैं की एकबार श्रुत सृष्टा का दो सृजित पदार्थों से सम्बन्ध नहीं हो सकता है, इस प्रकार जो यह कहा गया है यह भी सङ्गत नहीं है। श्रुति में ब्रह्म से सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि होती है तथा एक ही सृष्टा से सम्पूर्ण सृष्टि का उपदेश मिलता है। इस प्रकार से आकाश की तथा तेज की ब्रह्म से उत्पन्न होने वाली श्रुति श्रुत्यन्तर विहित तेज प्रमुख उत्पत्तिक्रम का वारण नहीं करती है। और नहीं श्रुत्यन्तरविहित तेज प्रमुख के उत्पत्ति क्रम का वारण करने में योग्य है। और तो 'तत्तेजोऽसृजत' यहाँ पर कोई क्रम वाचक शब्द भी नहीं है अर्थात् क्रम का तो 'वायोरग्निः' (तै. उ. 2. 1.1) इस श्रुत्यन्तर प्रसिद्ध क्रम से निवारण हो जाता है। कहीं पर आकाश की प्रथम उत्पत्ति मानने पर आकाश की सृष्टि करके फिर उसने तेज की सृष्टि की यह विकल्प भी सङ्गत है जिससे श्रुतियों का विप्रतिषेध नहीं होता है।

जो यह कहा गया है कि- समानजातीय अनेक कारण द्रव्य आकाश का नहीं है तो ऐसा भी नहीं है। उसके प्रति कहा गया है कि- न तो उसका समानजातीयत्व वाला और न ही भिन्न जातीयत्व वाला नियम है। न तन्तुओं के संयोगों का समानजातीयत्व होता है, तन्तु के द्रव्यत्व से, संयोग के गुणत्व से तथा निमित्तकारणों का भी और तुरी वेमादी का भी समानजातीयत्व नियम नहीं होता है। अगर समवायिकारणविषय को ही समानजातीयत्व के रूप में माने तो वह कारणन्तर विषय होने के कारण वह भी अयुक्त है। सूत्रगोवाल अनेकजातीयों के द्वारा एक रज्जु सृज्यमाना दिखाई देती है, तथा सूत्र उनके द्वारा भी विचित्रकम्बलादियों का निर्माण होता है। अगर द्रव्यत्व सत्व होता है दोनों और भी समान सजातीयत्व होता तो वैसा होने पर सजातीयत्वाभ्युगम सभी के सभी के द्वारा समानजातीयत्व होने से व्यर्थ ही होगा।

अणु मन से आध्यकर्मारम्भ के उपगम के कारण ऐसा भी नियम नहीं है की वह एक अनेकों के द्वारा आरम्भ होता है। एक-एक ही परमाणु मन के आद्य कर्मों का आरम्भ करते हैं। नैयायिकों के द्वार यह भी नहीं माना गया है की वह द्रव्यान्तरों से उत्पन्न होता है। और कहते है कि द्रव्यारम्भ में ही अनेक आरम्भ का नियम है तो परिणामी अभ्युपगम के कारण ऐसा भी नहीं है। यदि नियम हो तो संयोगसचिव द्रव्य द्रव्यान्तर का आरम्भ समझा जाए। वह ही द्रव्य विशेष के समान अवस्थान्तर से आपद्यमान कार्य समझा जाए। वह मृद्बीजादि अङ्कुरादि भाव के कारण कहीं एक परिणित होता है उसी प्रकार क्षीरादि दध्यादि भाव के कारण भी कहीं पर एक परिणित होता है। इसलिए ईश्वर के शासन में

ध्यान दें:

ऐसा नहीं है की अनेक कारण कार्य को जन्म देते हो।

जो भी श्रुति में कहा गया की आकाश का नित्यत्व अभ्युपगम से अमृतत्व की उत्पत्ति नहीं है तो यह भी अयुक्त ही है। सम्पूर्ण सृष्टि में प्रलय के अन्त तक आकाश को ही नित्य माना गया है। प्रलय में तो आकाश का भी नाश होता है। इसलिए परमार्थत: आकाश अनित्यत्व ही होता है। जो-जो उत्पन्न होता है वह सब अनित्य होता है इस नियम से आकाश की भी उत्पत्ति के श्रवण से वह भी अनित्य है। आकाश की सृष्टि श्रुति को गौण भी नहीं समझ सकते है, क्योंकि उसके अभ्युपगम में कारण के अभाव से प्रतिज्ञा की हानि होती है ऐसा पूर्व में बताया भी जा चुका है। इसलिए आकाश की उत्पत्ति होती है यह उपपन्न हो गया है। इस प्रकार से ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज,तेज से जल, जल से पृथ्वी, इस प्रकार का सृष्टि का क्रम मानना चाहिए। अगर ये कहें की आत्मा से तेज की उत्पत्ति छान्दोग्योपनिषद् में कही गयी है तथा यहाँ पर तो वायु से तेज की उत्पत्ति कही गयी है यह तो असङ्गत है, तो ऐसा भी नहीं है। सृष्टि के क्रम में सभी जगहों पर आत्मभावापन्न से अनुवृत्ति करना चाहिए, अन्यथा अचेतन से चेतन की उत्पत्ति अपरिहर्तव्या हो जाएगी। उसके द्वारा आत्मभावापन्न वायु से तेज की उत्पत्ति होती है यहाँ पर कुछ भी असमञ्जस नहीं है।

पाठगत प्रश्न 16.2

1. किस उपनिषद में तेज प्रमुखों की सृष्टि प्रतिपादित की गई है?

   क) तैत्तिरीयोपनिषद् में   ख) कठोपनिषद् में

   ग) बृहदारण्योकोपनिषद् में   घ) छान्दोग्योपनिषद् में

2. किस उपनिषद में आकाश प्रमुख की सृष्टि प्रतिपादित की गई है?

   1. क) तैत्तिरीयोपनिषद्   ख) कठोपनिषद्

   ग) बृहदारण्यकोपनिषद्   घ) छान्दोग्योपनिषद्

3. अद्वैत सिद्धान्त में आकाश की उत्पत्ति हैं अथवा नहीं?

4. आकाश का नित्यत्व किस प्रकार से सङ्गत होता है?

16.3) पञ्चीकरण

अपञ्चीकृत पाँच सूक्ष्म महाभूत पञ्चीकरण की प्रक्रिया के द्वारा तथा त्रिवृत्करणप्रक्रिया के द्वारा स्थलूता को प्राप्त करके पाँच स्थूलभूत रूप में परिणित होते हैं। उसी से वस्तुत: सम्पूर्ण स्थूलप्रपञ्च की उत्पत्ति होती है। इसलिए सृष्टि विचार के प्रसङ्ग में पञ्चीकरण को भी जानना चाहिए। सृष्टि के क्रम में अनुक्रम से उत्पन्न अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूत व्यवहार समर्थ नहीं होते हैं इस कारण से वे ही भूत पञ्चीकृत होते है। यहाँ पर पञ्चीकरण प्रक्रिया का विस्तार दिया जा रहा है।

आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथिवी पाँच स्थूलभूत होते हैं। ये प्रत्येक दो प्रकार से विभाजित होते है। उसके बाद फिर दस भाग को प्राप्त करते हैं। फिर उन दस भागों में प्राथमिक पाँच भागों से प्रत्येक चार भागों में बट जाते है। फिर उन चार भागों का अपना-अपना दूसरा भाग का त्याग करके भागान्तर में संयोजन ही पञ्चीकरण कहलाता है। इसलिए वेदान्तसार कारक ने कहा है की पञ्चीकरण अर्थात् आकाशादि पाँच में एक-एक को दो-दो समान भागों में बाँटकर, उनको दस भागों में प्राथमिक

पाँच भागों को प्रत्येक को चार प्रकार से समान रूप में बाँटकर उनके चार भागों में से अपने अपने दूसरे भाग का आधा भाग त्यागकर भागान्तरों में संयोजन करना चाहिए। इस प्रकार से पञ्चदशी में कहा गया है-

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते॥ इति।
सुरेश्वराचार्यैः पञ्चीकरणं वेशद्येन उच्यते।
पृथिव्यादीनि भूतानि प्रत्येकं विभजेद्विधा॥
एकैकं भागमादाय चतुर्धा विभजेत् पुनः।
एकैकं भागमेकस्मिन् भूते संवेशयेत् क्रमात्॥
ततश्चाकाशभूतस्य भागाः पञ्च भवन्ति हि।
वाय्वादिभागाश्चत्वारो वाय्वादिष्वेवमादिशेत्॥
पञ्चीकरणमेतत् स्यादित्याहुस्तत्त्ववेदिनः॥ इति।

वस्तुतः पञ्चीकरण पंचमहाभूतों का परस्पर सम्मिश्रण ही होता है। ईश्वर की इच्छा से भोगायत नाना स्थूल शरीरों की सृष्टि के लिए पञ्चीकरण सम्भव होता है। पञ्चीकरण के कारण सभी भूतों में सभी भूतों के अंश विद्यमान होते हैं। इस प्रकार से कहते हैं की फिर एक ही भूत में आकाशादि का व्यपदेश क्यों किया गया है। तो कहते हैं की जिसमें जिस भूत के अंश अधिक होते हैं,उस भूत में वह उस नाम से कहा जाता है। जिस न्याय में इस प्रकार से कहा गया है, 'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' इस प्रकार से। इसका अर्थ यह है कि जिसमें जिसका विशेष अर्थात आधिक्य होता है उसका आश्रय लेकर के व्यपदेश किया होता है। उससे आकाश में उसी के अंश के आधिक्य से आकाश इस प्रकार का व्यवहार सिद्ध होता है। इस प्रकार से अन्यभूतों में भी देखना चाहिए।

पञ्चीकृतभूतों के अंश

पञ्चीकृतभूतानि	आकाशः	वायुः	तेजः	जलम्	पृथिवी
1 आकाशः =	1/2	1/8	1/8	1/8	1/8
1 वायुः = 1/8	1/2	1/8	1/8	1/8	
1 तेजः = 1/8	1/8	1/2	1/8	1/8	
1 जलम् =	1/8	1/8	1/8	1/2	1/8
1 पृथिवी =	1/8	1/8	1/8	1/8	1/2

पञ्चीकरण से स्थूलभूत की उत्पत्ति के अनन्तर आकाश में शब्द अभिव्यञ्जित होता, वायु में शब्द तथा स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श तथा रूप, जल में शब्द स्पर्श रूप तथा रस और पृथ्वी में शब्द स्पर्श रूप रस तथ गन्ध अभिव्यञ्जित होती है। इस पञ्चीकरण के अप्रामाण्य की आशङ्का नहीं करनी चाहिए। इस प्रमाण छान्दोग्य श्रुति में त्रिवित्करण के रूप में प्राप्त होता है। "तासां त्रिवृतं त्रिवृतम् एकैकं करवाणि" इस प्रकार से। इस प्रकार से त्रिवृत् करण से तात्पर्य है तेज का, जल का, तथा पृथ्वी का विशेष नियम के द्वार सम्मिश्रण। पञ्चीकरण के समान ही इनकी प्रक्रिया होती है। यह ही त्रिवृत्करण श्रुति पञ्चीकरण की ज्ञापिका होती है। इसलिए सदानन्दयोगीन्द्र ने वेदान्तसार में कहा है "अस्य अप्रामाण्यं न आशङ्कनीयं त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्यापि उपलक्षणत्वात्" इति। इसके बाद पञ्चीकरण के बाद व्यवहार योग्य स्थूलभूत उत्पन्न होते है। इन पञ्चीकृत भूतों से चौदह भुवन अथवा लोक उत्पन्न होते है। वो है भूः, भुवः,

ध्यान दें:

स्व:, मह:, जन:, तप:, सत्यम् इस क्रम से ऊपर के सात लोक। इसी प्रकार सात के क्रम से नीचे के लोक होते है अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल तथा पाताल इस प्रकार से। न केवल चतुर्दश भुवनों की अपितु इस ब्रह्माण्ड की और ब्रह्माण्ड अन्तर्गत चार प्रकार के स्थूल शरीरों की और अन्नपानादि की उत्पत्ति भी इस पञ्चीकृत महाभूत से होती है। जरायुज, स्वेदज, अण्डज तथा उद्भिज इस प्रकार से यह चार प्रकार के स्थूल शरीर होते हैं। जरायु अर्थात् गर्भ से उत्पन्न होने वाले मनुष्य पशु आदि। अण्डज अर्थात् अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षी तथा सर्पादि। स्वेदज अर्थात् स्वेद से उत्पन्न होने वाले जू मच्छर आदि तथा मृत्तिका में उत्पन्न होने वाले लता वृक्षादि उद्भिज कहलाते हैं। इस प्रकार से पाँच भूतों की उत्पत्ति होती है। और उनभूतों से भौतिक वस्तुओं की समुत्पत्ति होती है।

16.4) प्रलय विचार

16.4.1) नित्य प्रलय:

प्रलय अर्थात् त्रिलोक का नाश होता है। प्रलय चार प्रकार का होता है। नित्य, प्राकृत, नैमित्तिक तथा आत्यन्तिक। नित्य प्रलय सुषुप्ति होता है। जिस अवस्था में जाकर के सुप्त पुरुष कोई भी कामना नहीं करता है तथा न कोई स्वप्न देखता है वह सुषुप्ति अवस्था कहलाती है। जीव नित्य सुषुप्ति अवस्था में जाते है, इस कारण से सुषुप्ति नित्य प्रलय कहलाती है। उस सुषुप्ति में पुरुष परब्रह्म के साथ ऐकात्म्य को प्राप्त करता है। उसके द्वारा अखिल कार्यों के विनाश को प्राप्त करता है। अब कहते हैं की सुषुप्ति में प्राणस्पन्दन रुकता है इसलिए अखिल कार्य विनाश नहीं होता है तब कहते हैं की अन्त: करण की दो शक्तियाँ होती है ज्ञानशक्ति तथा क्रिया शक्ति। ज्ञानशक्तिविशिष्ट अन्त: करण का सुषुप्ति में नाश हो जाता है। लेकिन क्रिया शक्ति विशिष्ट अन्त: करण का नाश नहीं होता है, इस कारण से प्राण उसी अवस्था में रुकता है इस प्रकार से यह अद्वैतवादियों का मत है। क्रियाशक्ति विशिष्ट अन्त:करण का तो नाश शरीर के विनाश होने पर होता है। सुषुप्ति में प्राण जागृत होता है इसका श्रुतियों में भी प्रमाण है। यदा सुप्त: न कञ्चन स्वप्नं पश्यति, अथास्मिन् प्राण एव एकधा भवति, अथैनं वाक् सर्वैर्नामभि: सहाप्यति" (कौषितक्युपनिषत्-3/2) इस प्रकार से सुषुप्ति में सत्पम्पन्नत्व से सबकुछ विनाश की और चला जता है यहाँ पर छान्दोग्य श्रुति यह कहती है कि - "सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति"(6/8/1) च इस प्रकार से।

16.4.2) प्राकृत प्रलय

प्राकृतप्रलय हिरण्यगर्भ विनाशक निमित्त अखिल कार्यों के नाश होने पर होता है। हिरण्यगर्भ अशेष ब्रह्माण्ड का अधिकारी सबसे पहला जीव है। ब्रह्म के अपरोक्षज्ञान से वह जीवन मुक्त कहलाता है। ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान होने पर भी उसका प्रारब्ध कर्मवश नाश नहीं होता है। इसलिए वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जब उसके प्रारब्धकर्म का अशेषता के कारण नाश होता है तब वह उसकी विदेह मुक्ति होती है। उसके प्रमाण के लिए ये श्रुतियां हैं।

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मन: प्रविशन्ति परं पदम्॥ इति।
प्राकृतप्रलये पुराणवचनं तावत्-
द्विपरार्द्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मण: परमेष्ठिन:।
तदा प्रकृतय: सप्त कल्प्यन्ते प्रलयाय हि॥
एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयेते॥ इति।

ध्यान दें:

16.4.3) नैमित्तिकप्रलय

कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ के दिवसावसान निमित्तक त्रैलोक्यमात्र का नाश नैमित्तिक प्रलय कहलाता है। चारों युगों की सहस्रावधि ब्रह्मा का दिन कहा जाता है। नैमित्तिक प्रलय के विषय में यह पुराणवचन प्राप्त होता है।

एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक्।
शेते अनन्तासने नित्यमात्मसात्कृत्य चाखिलम्।। इति।

16.4.4) आत्यन्तिकप्रलय

ब्रह्म के साक्षात्कार के कारण अशेषमोक्ष ही आत्यन्ति क प्रलय कहलाता है। आत्यन्तिक प्रलय का अपर नाम तुरीय प्रलय है। "सर्वे एकीभवन्ति" यह श्रुति यहाँ पर प्रमाण स्वरूप है। जिस क्रम से भूतों की तथा भौतिकों कि सृष्टि होती है उनका विपरीत क्रम से लय भी होता है। जैस पृथ्वी का जल में लय होता है। जल का तेज में, तेज का वायु में, वायु का आकाश में, आकाश का जीव अहङ्कार में उस जीवाहङ्कार का हिरण्यगर्भाहङ्कार में और उस हिण्यगर्भाहङकार का अविद्या में लय हो जाता है। इसको विष्णुपुराण में इस प्रकार से कहा गया है कि-

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे ! पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
तेजस्याप: प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते।।
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते।
अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निष्कले संप्रलीयते।। इति।

जिस प्रकार से सृष्टि होती है प्रलय उसके विपरीत क्रम से होता है। प्रलय में कार्य कारण भाव को प्राप्त करते है। इस प्रकार भोगायतन चार प्रकार के सम्पूर्ण स्थूल शरीर, भोग्यरूप अन्नादि भूः आदि चौदह भुवन तथा ब्रह्माण्ड और सभी कारण ये ही पञ्चीकृत महाभूत मात्र होते हैं। शब्दादि विषय सहित पञ्चीकृतभूत, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, सभी वायु, अन्तःकरण तथा सम्पूर्ण जगत् इस कारण रूप अपञ्चीकृतभूतमात्र के स्वरूप होते हैं। इस प्रकार से सत्वादि गुण सहित अपञ्चीकृत भूत तथा इनका कारणभूत अज्ञानोपाहितचैतन्यमात्र होता है। यह अज्ञान अज्ञानोपाहित चैतन्य तथा ईश्वरादि तथा इनका आधारभूत अनुपहित चैतन्यरूप निर्विशेष निर्गुण ब्रह्म मात्र होता है। आत्यन्तिक प्रलय में तो ब्रह्म अपने स्वरूप मात्र में ही विराजते हैं।

पाठगत प्रश्न 16.3

1. पञ्चीकरण किसे कहते हैं?
2. पञ्चीकरण प्रतिपादक पञ्चदशी का श्लोक कौन-सा है?
3. पञ्चीकृत वायु में वायु के कितने अंश होते हैं?
4. चौदह भुवन कौन-कौन से हैं?
5. चार प्रकार के स्थूल शरीर कौन-कौन से हैं?
6. प्रलय कितने प्रकार के होते हैं तथा कौन-कौन से प्रलय होते हैं?
7. नित्य प्रलय किसे कहते हैं?
8. आत्यन्तिक प्रलय किसे कहते हैं?

पाठ-16

सृष्टि प्रलय विचार

ध्यान दें:

पाठ सार

सभी दर्शनों के समान ही अद्वैत वेदान्तियों का सृष्टिक्रम भी जानना चाहिए। अद्वैत वेदान्त के मत में अज्ञानोपाहित चैतन्य से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल पृथ्वी उत्पन्न होती है। ये सूक्ष्मभूत व्यवहार समर्थित तथा अपञ्चीकृत भूत भी कहलाते हैं। इन अपञ्चीकृत पांचसूक्ष्मभूतों से पञ्चीकरण की प्रक्रिया के द्वारा पांचस्थूलभूत, पांचज्ञानेन्द्रियां, पांचकर्मेन्द्रियां, पांचवायु, बुद्धि तथा मन उत्पन्न होता है। पञ्चीकरण किसे कहते हैं तो कहते हैं कि पञ्चीकरण एक प्रक्रिया होती है । जिसके द्वारा भूतों के द्वितीय अंश को अन्य चार भूतों के अष्टम अंश के साथ मिलाकर के एक पूर्णव्यवहार योग्य स्थूलभूत का निर्माण होता हैं। ज्ञानेन्द्रियां आकाशादि के अलग-अलग सात्विक अंशों से क्रम से उत्पन्न होती हैं। कर्मेन्द्रियां आकाशादियों के अलग-अलग रजांशों से क्रम से उत्पन्न होती है। पाँच वायु आकाशादियों के रजांशों से मिलकर के उत्पन्न होते है। आकाशादिय के सात्विकांशों से मिलकर के अन्त:करण उत्पन्न होता है। अन्तः करण के ही वृत्तिभेद के द्वारा बुद्धि मन, चित्त, तथा अहङ्कार इस प्रकार से चार विभाग होते है। पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांचकर्मेन्द्रियां, पांच वायु, बुद्धि तथा मन इस प्रकार से सत्रह अवयवों बना हुआ सूक्ष्म शरीर होता है। उसी का अपर नाम लिङ्ग शरीर भी है। भलेही नैयायिकों के दर्शन में आकाश नित्य है फिर भी वेदान्तियों के मत में आकाश ब्रह्म से उत्पन्न होता है अर्थात् अनित्य है। इस प्रकार से अङ्गीकार करना चाहिए। जिस क्रम से अद्वैत वेदान्तियों के द्वारा सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है उसी क्रम से उसका प्रलय भी वे अङ्गीकार करते हैं। त्रैलोक्यविनाश प्रलय कहलाता है। और वह नित्य, प्राकृत, नैमित्तिक तथा आत्यन्तिक भेद से चार प्रकार का होता है। इन में ब्रह्म साक्षात्कार के द्वारा अशेष प्रपञ्च का विनाश आत्यन्तिक प्रलय कहलाता है।

आपने क्या सीखा

- अद्वैत वेदान्त में विस्तार से सृष्टितत्त्व को विस्तार से जाना।
- अद्वैत वेदान्त में सृष्टिक्रम को जाना।
- सृष्टिक्रम में श्रुतिणें के विरोध को जाना।
- आकाशादि सृष्टि को जाना।
- पञ्चीकरण प्रक्रिया को विस्तार से जाना।
- प्रलय के विषय में विस्तार से जाना।

पाठान्त प्रश्न

1. सृष्टि के क्रम विषय में एक लघु टिप्पणी लिखिए?
2. सप्तदशावयवविशिष्ट लिङ्गशरीर का परिचय दीजिए?
3. मिलित सूक्ष्मभूतों के कार्यों कों संक्षेप में लिखिए?
4. पञ्चीकरण की प्रक्रिया का विस्तार पूर्वक प्रतिपादन कीजिए?
5. अद्वैतवेदान्त के मत में आकाश उत्पत्ति सम्भव है अथवा नहीं विचार कीजिए?
6. चार प्रकार के प्रलयों का संक्षेप में परिचय दीजिए?

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 16.1

1. 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन: आकाश: सम्भूत:। आकाशाद्वायु:। वायोरग्नि:। अग्नेराप:। अद्भ्य: पृथिवी। पृथिव्या ओषधय:। ओषधीभ्योऽन्नम्।' इति।
2. ख) आकाश।
3. श्रोत्र, चक्षु, जह्वा, घ्राण, इस प्रकार से ये पाँच ज्ञानेन्द्रियां हैं।
4. वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियां कहलाती हैं।
5. प्राण, अपान, समान व्यान तथा उदान ये पाँच वायु होती हैं।
6. क) सूक्ष्मभूतों के सात्विक अंशों से।
7. ख) सूक्ष्मभूतों के रज अंशों से।
8. उदान कण्ठ स्थानीय ऊर्ध्वगमन करने वाली वायु होती है।
9. क) सूक्ष्मभूतों के मिलितसात्त्विकांशो से।
10. ग) सत्रह।
11. क) मन।
12. ख) बुद्धि।

13 प्राण वायु नासाग्रवर्ती होती है।

14. देवदत्त।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 16.2

1. घ) छान्दोग्योपनिषद् में।
2. क) तैत्तिरीयोपनिषद् में।
3. आकाश की उत्पत्ति होती है।
4. प्रलय पर्यन्त ही आकाश का नित्यत्व साथ में होता है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 16.3

1. व्यवहार समर्थ पाँच सूक्ष्मभूतों के परस्पर समिश्रण के द्वारा व्यवहार योग्य स्थूल भूतोत्पत्ति प्रक्रिया ही पञ्चीकरण है।
2. द्विधा विधाय चौकैकं चतुर्द्धा प्रथमं पुन:। स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते इति।
3. 1/2
4. भू:, भुव:, स्व:, मह:, जन:, तप:, सत्यम् इति सप्त ऊद्धर्वलोका:, अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल तथा पाताल इस प्रकार से सात अधोलोक होते हैं।

पाठ-16

सृष्टि प्रलय विचार

ध्यान दें:

5. जरायुज, स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज इस प्रकार से चार प्रकार के स्थूल शरीर होते हैं।
6. प्रलय चार प्रकार के होते हैं। नित्य, प्राकृत, नैमित्तिक तथा आत्यन्तिक
7. नित्यप्रलय सुषुप्ति होती है।
8. ब्रह्मसाक्षात्कार के कारण से अशेष मोक्ष ही आत्यन्तिक प्रलय कहलाता है।

ध्यान दें:

17

अवस्थात्रय विचार

दर्शन आस्तिक तथा नास्तिक भेद से दो प्रकार के होते हैं। आस्तिक दर्शनों में सबसे अन्यतम वेदान्त दर्शन होता है। वेदों का अन्तिम भाग ही वेदान्त कहलाता है। वेद कर्मकाण्ड तथा ज्ञान काण्ड के रूप में दो प्रकार का होता है। कर्मकाण्ड में यगादि कर्मों का विचार तथा ज्ञानकाण्ड में ब्रह्म का विचार किया गया है। वहाँ पर ब्रह्मविचार परक ज्ञानकाण्ड का विचार वेद के अन्तिम भाग में है। उसी अन्तिम भाग को वेदान्त के नाम से जाना जाता है। वेदान्त यह मुख्य रूप से उपनिषदों का ही नाम है। उपनिषदों के तात्पर्य का विचार जिन ग्रन्थों के द्वारा होता है वे वेदान्त पद के द्वारा बोध्य होते हैं। जैस ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता तथा उनके भाष्य आदि हैं। वेदान्त से तात्पर्य उपनिषद् प्रमाण तदुपकारी शारीरिक सूत्रादि जो वेदान्त शास्त्र में कहे गये हैं। मत भेद के द्वारा वेदान्त बहुत प्रकार से व्यवहार में लाया जाता है। जिसमें अद्वैत, भेदाभेद, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत इत्यादि प्रमुख सम्प्रदाय होता है। इनके क्रमानुसार ये आचार्य हैं शङ्कराचार्य, भास्कराचार्य, रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य।

उद्देश्य

इस पाठ को पढ़कर के आप सक्षम होंगे;

- वेदान्त का समान्य ज्ञान प्राप्त करने में;
- अद्वैत वेदान्त शब्द के विशेषार्थ का ज्ञान प्राप्त करने में;
- वेदान्त के इतर विभागों का परिचय प्राप्त करने में;
- वेदान्त प्रतिपाद्य मुख्यतत्वों का ज्ञान प्राप्त करने में;
- शङ्कराचार्य आदि आचार्यों का सामान्य परिचय प्राप्त करने में;
- अवस्थात्रय के विषय में सामान्य बोध प्राप्त करने में;
- आत्म का चतुष्पादत्व का सम्यक् अवगमन प्राप्त करने में;
- विश्व वैश्वानरादि स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में;

ध्यान दें:

17.1) अद्वैतशब्दार्थ

जहाँ पर द्वैत नहीं होता है उसका अर्थ अद्वैत होता है। उस अद्वैत शब्द के अर्थ विशेष का विचार किया जाता है। जो दोनो से होता है वह अद्वैत कहलाता है। तथा जीव तथा जगत् इन दोनों से विशिष्ट जगत् अद्वैत कहलाता है। और अद्वैत का भाव ही द्वैत है। तथा द्वैत का अभाव अद्वैत है। जो द्वैत नहीं होता है वह अद्वैत कहलाता है। इस प्रकार से जो ब्रह्म का जीव तथा जगत् का विशिष्टत्व नहीं मानते हैं वे अद्वैतवादी कहलाते हैं।

द्विधेतं द्वीतमित्याहुस्तद्भावो द्वैतमुच्यते।
तन्निषेधेन चाद्वैतं प्रत्यग् वस्त्वभिधीयते॥ (बृहदारण्यकभाष्यवार्तिकम्-4.3.1907)

इस प्रकार से शुद्ध चैतन्य अद्वैत होता है। यहाँ पर सिर्फ चैतन्य का ही अवधान किया गया है। ब्रह्म सत्य है तथा जगत् मिथ्या है तथा जीव ब्रह्म के अलावा और कुछ भी नहीं यह अद्वैत का प्रतिपाद्य विषय है। दर्शनों में वेदान्त का तथा वहाँ पर भी अद्वैत का स्थान सबसे अधिक प्रधान है।

17.2) आत्मा के तीन रूप

वेदान्त शास्त्र का मुख्य विषय जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य है। अथवा जीवात्मा का तथा परमात्मा का अभेद ज्ञान है। उस अभेद का प्रतिपादन करने के लिए शास्त्र में अनेक उपाय स्वीकार किये हैं। वहाँ पर एक उपाय के प्रदर्शन के लिए यह विचार स्वीकार किया गया है। परमात्मा के अधिदैवत सविशेष तीन रूप होते है। उसी प्रकार जीवात्मा के अध्यात्म सविशेष तीन रूप होते हैं। अधिदैवत इसका देवतात्मक अर्थ होता है। अध्यात्म इसका जीवात्मक अर्थ होता है। और अधिदैवत के तीन रूप होते हैं- ईश्वर, हिरण्यगर्भ तथा विराट। और अध्यात्म के भी विश्व तैजस प्राज्ञ भेद से तीन रूप होते हैं। जिसमें वैश्वानर का स्थान जाग्रत होता है। तैजस का स्थान स्वप्न होता है तथा प्राज्ञ का स्थान सुषुप्ति होता है।

17.3) तीन अवस्थाएँ

शरीरस्थ जीवात्मा की तीव अवस्थाएँ होती हैं। वो है जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति। ये अवस्थाएँ परस्पर विलक्षण होती है। जाग्रत अवस्था में स्वप्न नहीं होता है। स्वप्नावस्था में जाग्रत अवस्था नहीं होती है। और ये दोनों सुषुप्ति अवस्था में नहीं होती हैं। निरुपाधिक ब्रह्म का स्वरूप जानने के लिए ही इन अवस्थाओं का शास्त्रों में निरूपण किया है। सर्वोपाधिविवर्जित ब्रह्म इन अवस्थाओं से भी मुक्त होता है। इसे प्रतिपादित किया जाता है। इस प्रकार अवस्थाओं से भिन्न और कोई अवस्था जीव की नहीं होती है। और इन अवस्थाओं का भी शरीरस्थ जीव ही अनुभव करता है। अब प्रश्न करते हैं की यह जीव कौन है तथा अवस्थाएँ कौन-कौन सी होती हैं।

17.4) जीवस्वरूप

जीव अन्तः करण अवच्छिन्न चैतन्य को जानना चाहिए। ब्रह्मादि के समान जीव भी विभु, नित्य तथा सन्मात्र चैतन्य होता है। वह ही इस नामरूपात्मक जगत का आधार भूत होता है। इन्द्रियमन अहङ्कार आदि उपाधियों के द्वारा अलग अलग अवच्छिन्न आत्मा ही जीव कहलाती है। आत्मा सत् तथा एक होती है फिर भी उपाधि भेद से अनेक जीव स्वरूप से प्रतीत होती है। इस प्रकार से अकर्ता आत्मा भी कर्ता हो जाता है। अभोक्ता आत्मा भोक्ता हो जाता है। सुखी दुःखी हो जाता है। उसके कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि उपाधिकृत होते हैं, न की वास्तविक रुप में। जीव परमात्मा अंश नहीं होता है। और उसका परिणाम भी

नहीं होता है। उसकी केवल विवर्तरूप प्रतीति मात्र होती है। इसलिए जीव ही संसारी होता है। उसी के बन्धन तथा मोक्ष होते हैं। जीव ही पाप पुण्य आदि को उपार्जित करता है तथा उनके फलों को भोगता है। जीव का जीवत्व आग में उष्णत्व के समान स्वभाविक नहीं है अपितु कल्पित होता है। मोह के अन्ध कार में भ्रान्ति बुद्धि से वह अपने आप को जीव रूप में मानने लगता है। तत्त्वमसि आदि के ज्ञान के द्वारा जीव अज्ञान का विनाश करके अपने स्वरूप को प्राप्त करता है। वह ब्रह्म को जानने वाला बनकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है इस प्रकार से तैत्तिरीय श्रुति में कहा गया है।

पाठगत प्रश्न 17.1

1. वेदान्त किसे कहते हैं?
2. वेद कितने प्रकार के होते हैं?
3. ज्ञानकाण्ड का दूसरा नाम क्या है?
4. अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक कौन है?
5. द्वैत वेदान्त के प्रवर्तक कौन हैं?
6. विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक कौन है?
7. वेदान्त का मुख्य विषय क्या है?
8. आत्मा के कितने रूप होते हैं?
9. जीव की कितनी अवस्थाएँ होती हैं?
10. जीव किसे कहते हैं?

17.5) जाग्रदवस्था

जागरण इन्द्रियों के द्वारा अर्थोपलब्धि को कहते हैं। इन्द्रियाँ ज्ञान तथा कर्म के भेद से दस होती है। उन इन्द्रियों के द्वारा विषयों के साथ सन्निकर्ष प्राप्त करके जीव जब सुख तथा दु:ख को प्राप्त करता है तब वह जीव की जाग्रत अवस्था होती है, इस प्रकार से कह सकते हैं। जाग्रत अवस्था में जीव के स्थूल विषय भोग होते हैं। जाग्रत अवस्था में जीव जिन-जिन विषयों का भोग करता है, वे विषय उसके चित्त में वासना के रूप में स्थित हो जाते हैं। लौकिक तथा वैदिक कर्मों के सुख दु:खादि फलों को भोगने के लिए धर्म तथा अधर्म में, बन्धन तथा मोक्ष में ये वासना युक्त जाग्रत ही आश्रय कहलाते हैं।

जाग्रत अवस्था में ही प्रमातृ, प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार होते हैं। वहाँ प्रमाणों के द्वारा जो अर्थ को प्रमाण के द्वारा प्राप्त करता है वह प्रमाता कहलाता है। जिससे प्रमाणित करता है वह प्रमाण कहलाता है। जिस के द्वारा प्रमाण किया जाता है वह प्रमेय कहलाता है। प्रमाता जीव चेतन होता है। जाग्रत अवस्था में जीव का वैश्वानर इस प्रकार का नाम होता है।

17.6) वैश्वानर

आत्मा के चार पाद होते हैं। यह आत्मा चार पैरों वाली होती है इस प्रकार का माण्डूक्य वाक्य ही वहाँ पर प्रमाण होता है। जिनके द्वारा ब्रह्म तथा आत्मा का ऐक्य समझा जाता है वह पाद विश्वादि कहलाते हैं। विश्व, तैजस, प्राज्ञ तथा ईश्वर इस प्रकार से चार पाद होते हैं।

ध्यान दें:

विश्व ही वैश्वानर होता है। विश्व के नरों को ले जाने के कारण इसका नाम वैश्वानर है। जाग्रत अवस्था में विद्यमान आत्मा प्रथम पाद के रूप में होता है। बाह्यविषयों में ही इसकी प्रज्ञा अवभासित होती है। इसलिए यह बहिष्प्रज्ञ भी होता है। इस प्रकार से यह जागरित सात अङ्ग वाला उन्नीस मुख वाला स्थूलभुक् होता है। इसलिए श्रुतियों में कहा है

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्गो एकोनविंशतिमुखः
स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः इति।

मूर्धा सुतेजा, चक्षुर्विश्वरूप, प्राण पृथग्वर्त्मात्म, सन्देह बहुल, वस्तिरेवरयि, पृथ्वी दोनों पैर, मुख आहवनीय अग्नि इस प्रकार से वैश्वानर के सात अङ्ग होते है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाएँ, पाँच कर्मेन्द्रियाएँ, पाँच प्राण, बुद्धि, मन, अहङ्कार तथा चित्त इस प्रकार से इसके उन्नीस मुख होते है। इनेक द्वारा ही वैश्वानर शब्दादि स्थूल विषयों का भोग करता है। इसके द्वारा ही द्वितीय पाद की प्राप्ति होती है इस कारण से यह वैश्वानर प्रथम पाद होता है। जाग्रत अवस्था में स्थूलशरीराभिमानी यह विश्व होता है।

17.7) स्थूलशरीर

जीव उपाधि तन्त्र होता है। वहाँ पर शरीर एक उपाधि होता है। शरीर तीन प्रकार होता है। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, तथा कारण शरीर ये तीनों आत्मा में कल्पित होते हैं। वहाँ पर अज्ञान कारण होता है। जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर का प्राधान्य होता है। स्थूल शरीर किसे कहते हैं यह जिज्ञासा होती है। तो कहते हैं की आँख के द्वारा दिखाई दिये जाने वाले हाथ पैर मस्तकादि इस स्थूल देह के अंश होते हैं। मज्जास्ति मेद चर्म, रक्त मांसादि उसके ही अंश होते हैं इसलिए कहा गया हैं

मज्जास्तिमेदः पलरक्तचर्मत्वगाह्वयैर्धातुभिरेभिरन्वितम्
पादोरुवक्षो भुजपृष्ठमस्तकैरंगैरुपांगैरुपयुक्तमेतत्।
अहं ममेति प्रथितं शरीरं मोहास्पदं स्थूलमितीर्यते बुधैः॥74॥ (विवेकचूडामणिः)

खाये गये अन्न के स्थूल मध्यम तथा सूक्ष्म भेद से तीन भाग जानना चाहिए।तेज तथा घृतादि का जो मध्यम भाग होता है वह मज्जा होता है। उसका अन्तिम भाग अस्थि होता है। उसका पूर्व परिणाम मेद होता है। खाये हुए अन्न का मध्यम भाग रक्त बनता है। पीये हुए जल का मध्यम भाग चर्म तथा स्थूलावरण होता है। त्वच् सूक्ष्मावरणों को अन्दर की धातु,नाडी आदि सप्तावरणों को ढककर रखती है। इस प्रकार के अवयवों से युक्त स्थूलशरीर होता है। स्थूल शरीर आत्मा का नहीं होता है। फिर अज्ञान के कारण आत्मा इसे स्वयं का मानता है। जिसे उनमें उसे मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ, मैं सुन्दर हूँ इस प्रकार का इस प्रकार के मैं रूपी अभिमान होता है। और मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, इस प्रकार के विशेष रूप से होते हैं। वहाँ पर मेरे हाथ, मेरे पैर, मेरा शरीर इस प्रकार का ममता वाला अभिमान भी होता है। अज्ञानप्रयुक्त अध्यास से ही मैं, यह, मेरा, इस प्रकार का लोक व्यवहार होता है।

स्थूल शरीर जीव का भोगायतन होता है, जाग्रत काल में वैश्वानर दिग्वातार्कवरूणाश्वों के द्वारा क्रम से नियन्त्रित श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियों के द्वारा क्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि स्थूल विषयों का अनुभव करता है। अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम, प्रजापतियों के द्वारा क्रम से नियन्त्रित वागादि पाँच इन्द्रियों से क्रम से वचन, दान, गमन, विसर्ग, आनन्द, स्थूल विषयों का क्रम से अनुभव करता है। चन्द्र, चतुर्मुख, शङ्कर,तथा अच्युत के द्वारा क्रम से नियन्त्रित मन बुद्धि अहङ्कार तथा चित्त के माध्यम से अन्तरिन्द्रियचतुष्कोण से क्रम से सङ्कल्प विकल्प निश्चय अहङ्कार तथा चित्त स्थूल विषयों का वैश्वानर अनुभव करता है। इस प्रकार से वेदान्तसार में कहा गया है। वहाँ पर स्थूलभुक वैश्वानर ही प्रमाण होता है।

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्न 17.2

11. जागरण किसे कहते हैं?
12. स्थूल विषयोपभोग कब होता है?
13. प्रमाता कौन होता है?
14. आत्मा के चार पैर कौन-कौन से है?
15. जागरितस्थान कौन-सा है?
16. तीन प्रकार के शरीर कौन-कौन से है?
17. जीव का भोगायतन क्या होता है?

17.8) स्वप्न

स्वप्न जागरित संस्कार प्रत्यय सविषय होता है। जाग्रत अवस्था से अत्यन्त भिन्न कोई अवस्था स्वप्नावस्था कहलाती है। यहाँ पर इन्द्रियों के मन में लीन हो जाने से उनकी प्रवृत्ति नहीं होती है। इन्द्रियों के अभाव में स्वप्नस्थ विषयों का दर्शन किस प्रकार से सम्भव होता है यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है। तो कहते हैं की साक्षी के द्वारा। अन्तः करणोपहित चैतन्य साक्षी कहलाता है। तब इन्द्रियों के उपरमित सत्य होने पर भी मनस की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिए जाग्रत कालीन स्थूल विषयों से इन्द्रिय उपरमित होने पर भी मन उन विषयों का फिर भोग करता है। भले ही स्वप्नकाल में स्थूल विषय नहीं होते हैं, फिर भी सूक्ष्म विषय तो होते ही हैं। इसलिए कहा गया है

इन्द्रियाणाम् उपरमे मनोऽनुपरतं यदि सेवते
विषयानेव तद्विद्यात् स्वप्नदर्शनम्॥

स्वप्न काल में प्राण के सत्त्व होने से शरीर की जड़ता नहीं होती है। स्वप्नकाल में भी जाग्रतकाल समान ही सभी प्रकार के व्यवहार सम्भव होते हैं। वहाँ पर रथ, रथचालक अश्व तथा मार्गादि होते हैं। कैसे होते हैं तो कहते हैं कि जीव इन सभी की सृष्टि करता है। इसलिए स्वप्नलोक जीव की सृष्टि है इस प्रकार से श्रुतियाँ कहती है।

न तत्र रथा रथयोगानपन्थानो भवन्त्यथ रथयोगान् पथः सृजते - (बृह. 4.3.10)

स्वप्न विषय जाग्रत काल के समान परमार्थ नहीं होते हैं अपितु मिथ्या ही होते हैं। न परमार्थगन्धोऽप्यस्ति। (सू.भ.-3.2.3) इसलिए वहाँ पर क्रियमाण पुण्य तथा पाप के द्वारा जीव का सम्बन्ध ही नहीं होता है। भले ही स्वप्न जाग्रत अवस्था में अनुभूत विषयों की ही स्मृति होती है। पहले देखी गई स्मृति ही प्रायः स्वप्न होते हैं। (बृ.सू.भा. 4.3.9) इस जन्म में अनुभूत विषयों का ही स्वप्न में दर्शन होता है केवल ऐसा नहीं मानना चाहिए अपितु इसके अतिरिक्त यहाँ अनुभूत विषय के साथ-साथ परलोकस्थ विषयों का भी स्वप्न में दर्शन होता है। भले ही परलोकस्थ सुख दुःखों का साक्षात् अनुभव होता है फिर भी उनका दर्शन तो होता है इस प्रकार से सभी का अनुभव है। स्वप्न में अनुभूत अश्वगजादि विषय प्रतिभासिक होते हैं। वे जब प्रतिभास के रूप में होते है। स्वप्न स्वप्नकाल में सत्य के समान लगता है तथा जगने पर असद् हो जात है। जैसे स्वप्नकाल में मन से कल्पित सुख दुःख हेतु वस्तु सत्य के समान लगते हैं तथा प्रबोध होने पर असत् हो जाते हैं। उसी प्रकार अज्ञान काल में यह जगत् द्वैत इस प्रकार से सत्य के समान अनुभूत होकर के सर्व व्यवहारास्पद होकर के सुखादुःखादि का अनुभव करवाकर के

ध्यान दें:

आत्मप्रबोध होने पर निश्शेष होकर निवर्तित हो जाता है। वस्तुत: जाग्रत प्रपञ्च मिथ्या होता है। लोकों का वैसा अनुभव नहीं होता है। शास्त्राचार्यों के उपदेश के द्वारा यह सिद्ध है लेकिन परोक्षानुभव तो कुछ को ही है। स्वप्नविषय वैसा नहीं होता है उसका मिथ्यात्व सभी को समझ में आता ही है। स्वप्नस्थ विषयों का प्रतीतिकालमात्रसत्ताकत्व होने से उनका प्रबोध काल में अनुभव नहीं कर सकते हैं। स्वप्न में कोई अपने को राजा के रूप में देखता है। लेकिन जगने पर तो वह दरिद्र ही होता है न की राजा। उसी प्रकार स्वप्नस्थ विषय क्षणिक होते हैं न कि दीर्घ कालिक। उसी प्रकार जाग्रत्प्रपञ्च भी स्वप्न के समान ही देखना चाहिए।

17.9) तैजस

तैजस आत्म का दूसरा पाद होता है। तेजोमय अन्त:करण से उपहित जीव का तैज इस प्रकार का नाम होता है। यह तेजोमय तथा वासनामय होता है। जाग्रत अवस्था में अन्त: करण की वृत्ति के द्वारा जो जो शब्दादि विषय जीव के स्थूलरूप के द्वारा अनुभूत होते हैं उनके संस्कार सूक्ष्म रूप से मन में रहते हैं उन्हीं का नाम वासना होता है। तैजस का स्थान स्वप्न होता है। इसलिए यह स्वप्न स्थान इस प्रकार से भी जाना जाता है। स्वप्न सूक्ष्म शरीराभिमानी तैजस होता है। स्वप्न में वासना रूप के द्वारा प्रज्ञा स्थिर होती है वैश्वानर स्थूल विषयों का साक्षात् अनुभव करता है जिससे उसकी प्रज्ञा भी स्थूल हो जाती है। लेकिन स्वप्न काल में जाग्रत कालीन वासनाभूत सूक्ष्म विषयों का अनुभव करता है इस हेतु से तैज की प्रज्ञा सूक्ष्म हो जाती है। उसकाल में सूक्ष्म विषयों का अनुभव होता है इसलिए वह प्रविविक्त भुक् इस प्रकार से कहलाता है। जाग्रतकाल के समान ही स्वप्नस्थ भोग स्थूल नहीं होते हैं। उनसे अत्यन्त विविक्त होते हैं इस प्रकार से वे प्रविविक्तिभुक् कहलाते हैं। इस प्रविविक्ति का आरारंतर यह भी नामान्तर है। स्वप्नलोक में जीव के लिए अन्न का अतिसूक्ष्मांश ही आहार होता है। अन्न का मध्यम अँश ही अत्यन्त विविक्त होता है। इसलिए यह तैजस का प्रविविक्ताहारतर होता है इस प्रकार से बृहदारण्य में कहा है। (बृ- 4.2.3)।

स्वयं के द्वार सम्पादित वासनाओं के अनुरोध से मन के द्वारा अन्दर ही प्रज्ञारूप में जीव की उत्पत्ति होती है। इसलिए यह तेज अन्त: प्रज्ञ: होता है। इस प्रकार से सात अङ्ग तथा उन्नीस मुख वाला यह प्रविविक्तभुक् होता है। वैश्वानर के जैसे सात अङ्गादि वर्णित है वैसे ही इसको भी देखना चाहिए। इसलिए श्रुति में कहा है।

स्वप्नस्थानोन्त:प्रज्ञ: सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुख:
प्रविविक्तभुक् तौजसो द्वितीय: पाद इति।

17.10) सूक्ष्मशरीर

जाग्रत होने पर स्थूलशरीर अच्छी प्रकार से अवभास युक्त होता है। तो स्वप्नकाल में किस शरीर का भास होता है यह जिज्ञासा होती है तब उत्तर देते हैं की सूक्ष्म शरीर का भास होता है। सूक्ष्म शरीर क्या होता है। तब कहते हैं की सूक्ष्म शरीर सप्तदश अवयवों वाला लिङ्ग शरीर होता है। जो अनभिज्ञों के द्वारा इस प्रकार से कहा गया है की मुख्य तो सत्रह रूपों में ही होता है। इसके द्वारा प्रत्येक आत्मा को जाना जाता है इसलिए इसे लिङ्ग कहते हैं। अवयव से तात्पर्य है पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, बुद्धि मन तथा पाँच वायु होते हैं। शङ्कराचार्य ने विवेकचूडामणि में इसे इसप्रकार से कहा है-

वागादिपञ्च श्रवणादिपञ्च
प्राणादिपञ्चाभ्रमुखानि पञ्च।

ध्यान दें:

बुद्ध्याद्यविद्यापि च कामकर्माणि
पुर्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः॥ (वि.चू. 98)

ज्ञान का साधन करने वाली इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं। वे है श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, तथा घ्राण। इनेक इसी क्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध ये विषय होते है। कर्मों को साधने वाली इन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ कहलाती हैं। वे हैं वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ। इनके क्रमशः विषय है वचन, दान, गमन, विसर्ग तथा आनन्द। वाक् इन्द्रिय वचन साधती है। वाक् इन्द्रिय के बिना हम लोग कहने में असमर्थ होते हैं। पाणि आदान का साधन करती है पाणि के बिना किसी भी वस्तु का आदान सम्भव नहीं होता है। पाद इन्द्रिय गमन साधती है। पादेन्द्रय के बिना गमन क्रिया सम्भव नहीं है। पायु इन्द्रिय विसर्जन करती है। शरीरस्थ मल का विसर्जन इसी पायु इन्द्रिय के द्वारा ही होता है। सुख साधक इन्द्रिय उपस्थ होती है तथा यह मूत्रविसर्जनसाधक भी होती है। इस प्रकार से यहाँ पर प्रश्नोपनिषद् का वाक्य है

वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ च दातव्यं च उपस्थश्चानन्दयितव्यञ्च पायुश्च विसर्जयितव्यञ्च पादौ गन्तव्यञ्च। इति। (प्र.उप. 4.8)

अब बुद्धि तथा मन की क्या गति है इस पर भी विचार करते हैं। बुद्धि निश्चयात्मिका अन्तः करणवृत्ति होती है। मन सङ्कल्प विकल्पात्मिका अन्तः करण वृत्ति होती है। चित्त के तथा अहङ्कार के इनके ही अन्दर होने से उन दोनों की अलग से विचार अपेक्षित नहीं होता है। जिसे वेदान्त परिभाषा में इस प्रकार से कहा गया है।

मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं करणमान्तरम्। इति।

अन्तःकरण चार प्रकार का होता है। मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा चित्त के रूप में। वहाँ पर संशय मन का विषय होता है, निश्यय बुद्धि का विषय होता है। गर्व, अहङ्कार का तथा स्मरण चित्त का विषय होता है। अनुसन्धानात्मक अन्तः करण की वृत्ति चित्त होता है। अभिमानात्मक वृत्ति वाला अहङ्कार होता है। स्मृति अनुभव जन्य होती है। अनुभव निश्चयात्मक होता है। इसलिए निश्चयात्मा बुद्धि में ही चित्त का अन्तर्भाव होता है। उसी प्रकार अहङ्कार के सङ्कल्पविकल्पात्मक होने से मन के अन्दर अन्तर्भाव होता है।

इसके अलावा पाँच वायु का वर्णन है। प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान पाँच वायु होती है। प्राण सबसे पूर्व चलेन वाला नासाग्रवर्ती होता है। अपान आवागमन वाला पायु आदिस्थानवर्ती होता है। व्यान विश्वगमनवान् होने से अखिलशरीरवर्ती होता है। उदान कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवाला उत्क्रणवायु होता है। समान शरीर के मध्य में पीतान्नादि समीकरण कारक होता है इस प्रकार से वेदान्त सार में कहा गया है। विवेकचूडामणी में इस प्रकार से कहा गया है

प्राणापानव्यानोदानसमानाः भवत्यसौ प्राणः।
स्वयमेव वृत्तिभेदाद् विकृतिभेदात् सुवर्णसलिलादिवत्। (वि.चू. 97)

इस प्रकार से पूर्वोक्त सप्तदश वायु वाले इस सूक्ष्म शरीर का भान स्वप्न में होता है। इसलिए इस शरीर की विभक्त्यवस्था तथा भेदकावस्था स्वप्न मे होती है। यहाँ स्थूलदेह के अभाव से सूक्ष्मदेह में अभिमान होता है।

ध्यान दें:

17.11) प्राज्ञ

प्राज्ञ आत्मा का तृतीय पाद होता है। व्यष्ट्यज्ञानोपहित चैतन्य प्राज्ञ कहलाता है। यह सुषुप्तिकारण शरीरा भिमानी होता है। जो अच्छी प्रकार से अज्ञ है वह प्राज्ञ कहलाता है। एकाज्ञानावभासकत्व से इसका प्राज्ञत्व होता है। प्राज्ञ स्थान सुषुप्ति अथवा गाढनिद्रा का होता है। सुषुप्ति अवस्था में विद्यमान आत्मा प्राज्ञ होती है, सुषुप्तिकाल में स्थूल विषय तथा सूक्ष्म विषय नहीं होते हैं। केवल अज्ञान ही अवभासित होता है। इसलिए वह अज्ञानमात्र साक्षी होता है। अज्ञानावभासकत्व से इस प्राज्ञ का नाम कुछ लोग कारण शरीराभिमानी प्राज्ञ मानते हैं। कारण शरीर का वर्णन आगे होगा कारण शरीर में अभिमान इस तादात्म्य अध्यास से अहम् इस प्रकार का अज्ञान वाला जीव होता है। अविनाशीस्वरूप अनुभवरूप प्रज्ञा जिसकी होती है वह प्रज्ञ होता है तथा कुछ के मत में प्रज्ञ ही प्राज्ञ होता है।

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचियादनेकधा।
सा कारणशरीरं स्यात्प्राज्ञस्तत्राभिमानवान्।। (पञ्चदशी-1.17)

सुषुप्ति में प्राज्ञ आत्मा ऐक्य को प्राप्त कर लेती है। सत्ता सौम्य सम्पन्न होता है जब वह सोया हुआ रहता है, जिससे इसका स्वपिति इस प्रकार का नाम छान्दोग्योपनिषद में है। स्वपिति यह इस जीव का लोकप्रसिद्ध नाम होता है। जाग्रत होने पर ही जीव की उपाधि अन्तः करण होता है। इसलिए वह अन्तः करणोपाधिक होता हुआ विषयों को ग्रहण करता है। स्वप्न में तद्वासनाविशिष्ट होता हुआ स्वप्न देखता हुआ मन शब्द वाच्य होता है। उसकी दोनों उपाधियाँ सुषुप्ति में नहीं होती हैं। इसिलए तदुपाधिकृत विशेष भी नहीं होता है। इसलिए आत्मा में उसका लय होता है यह इसका तात्पर्य है। उससे आनन्द का अनुभव होता है। इसलिए यह जीव तब आनन्दभुक् होता है। आनन्द का भोग करने वाला आनन्दभुक् कहलाता है। आनन्द स्वरूपान्द होता है। सुषुप्तिस्थान एकीभूत प्रज्ञानघन चेतोमुख प्राज्ञस्तृतीय इस प्रकार से आनन्दभुक् माण्डुक्योपनिषद् में कहा गया है। आनन्द के भोगार्थ उसकी अन्तः करण वृत्ति नहीं होती है इस प्रकार की शङ्का नहीं करना चाहिए। वहाँ पर उसके अभाव में अज्ञावृत्ति इस प्रकार से होती है। उसके जडत्व होने पर चैतन्य के द्वारा वह प्रदीप्त होती है। और चैतन्यप्रदीप्त अतिसूक्ष्म अज्ञानवृत्ति के द्वारा आनन्द का अनुभव होता है।

17.12) सुषुप्ति

गाढ़निद्रा ही सुषुप्ति कहलाती है। सुषुप्ति अर्थात् सभी विषयों के ज्ञान का अभाव। जगत् प्रपञ्च से तथा स्वप्न प्रपञ्च अत्यन्त भिन्न सुषुप्ति को जानना चाहिए। इसमें स्थूलविषय तथा सूक्ष्म विषय नहीं होते है तथा विषयों का भान भी नहीं होता है। यह इन्द्रियों तथा मन से भी परम होती है।

प्रबोध काल में जीव स्थूल सूक्ष्म शरीर द्वारा तथा स्वप्न में अन्तः करण के द्वारा भोगों का अनुभव करता है। यहाँ पर तो जीव अत्यन्त शान्ति का अनुभव करता है। जैस पक्षी बहुत दूर तक उड़कर के थकान के कारण विश्रान्ति के उद्देश्य से अपने घोसले में आकर के प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार जीव भी अन्यत्र दोनों अवस्थाओं में अपने कर्म के द्वारा प्रयास से थककर विश्रान्ति के लिए सुषुप्ति को प्राप्त करता है। जिसे श्रुतियों में इस प्रकार से कहा गय है-

तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियते एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति। (बृह.भा. 4.3.19)

पक्षी ताप को झेलने से तथा उडने की थकान को दूर करने के लिए जिस प्रकार से अपने घोंसले में आते हैं उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में तथा स्वप्नावस्था में कार्यकरण संयोग क्रियाफल के द्वारा जो

ध्यान दें:

संयुज्मान श्रम होता है। उस प्रकार के श्रम का निवारण करने के लिए जीव अपने आश्रय स्थान सुषुप्ति की और जाता है। सर्व संसार धर्म विलक्षण सर्व क्रिया कारक फलायासशून्य जो आत्मा होती है वह आत्मस्वरूप में प्रवेश करता है, इसका इस प्रकार का तात्पर्य है। स्वप्न के अभाव से जो निद्रा होती है वह ही जीव की सुषुप्ति अवस्था होती है। जाग्रत तथा स्वप्न में मन चञ्चल हो जाता है और सुषुप्ति में वह निश्चल होता है।

इसका अन्यन्त आश्चर्य क्या है तो कहते हैं कि बिना पूछे ही किसी का सुषुप्तिकालीन अनुभव जान जा सकता है। लेकिन जाग्रत तथा स्वप्नावस्था में ऐसा नहीं होता है। जाग्रत काल में तो क्या अनुभूत किया गया है इस प्रकार से पूछने पर ही जाना जा सकता है। जाग्रत काल में कोई रोगी कहता है की वैद्य मेरे पैर मे वेदना है, उसके बिना कहे जाना नहीं जा सकता है। बिना पूछे वेद्य स्वयं नहीं कह सकता है कि तेरे पैर में वेदना है। इसी प्रकार कल मैंने एक स्वप्न देखा। यह सुनकर के किस प्रकार का तथा क्या स्वप्न देखा इस प्रकार से प्रश्न होता है। बाघ का स्वप्न देखा यह उसका समाधान होता है। बाघ ने क्या किया इस प्रकार से बार-बार प्रश्न करने पर हम अन्य के स्वप्न के अनुभव के विषय में पूर्ण रूप से जान सकते है। कल में अच्छे से सोया ऐसा सुनकर शयन किस प्रकार का था, तथा क्या अनुभव किया इस प्रकार के प्रश्न कोई भी नहीं करता है। सुषुप्ति का अनुभव अत्यन्त सुखकर होता है। ये सभी जानते हैं। इसमें कुछ भी विशेष नहीं होता है।

कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वा अतिघ्नीमानन्दस्य गत्वाशयीत। (बृ-2.1.19)

सुषुप्ति में संसार नहीं होता है। बालक हो अथवा स्त्री,पुरुष,महाराज,दरिद्र कोई भी हो इन सभी में भेद के बिना सुख की सभी की वह सुख रूपी एकावस्था ही होती है। यहाँ का आनन्द सर्वश्रेष्ठ होता है। जिसमें दुःख की गन्ध भी नहीं रहती है।

सुषुप्ति कालीन अनुभव किस प्रकार का होता है इस प्रकार की जिज्ञास करने पर कहते हैं कि अज्ञानान्द के अनुभव की तरह। सोकर के उठे हुए पुरुष के वाक्य होते है कि सुख सो करके उठा हूँ। मुझे कुछ भी नहीं पता है। इसके द्वारा सुप्तोथिक की स्मृति को यह समझा जाता है कि सुषुप्ति में सुख तथा अज्ञान का अनुभव होता है। न कुछ अनुभव किया इस प्रकार की भी यह स्मृति होने योग्य ही है। सुप्तोत्थित का वाक्य स्मृति ही होती है। स्मृति अनुभवजन्या होती है। इस प्रकार से सुप्त को अज्ञानानन्द का अनुभव होता है। इस प्रकार से स्वीकार करना चाहिए।

सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमो बोधो भवेत् स्मृतिः।
सा चावबुद्धविषयावबुद्धं तत्तदा तमः॥ (पञ्चदशी-1.5)

17.13) कारणशरीर

अविद्या ही आत्मा का कारण शरीर होता है। इस कारण शरीर की असाधारणी अवस्था सुषुप्ति होती है। स्थूल जाग्रत के भान के समान ही कारण शरीर का सुषुप्ति में ही सम्यक् भान होता है। ब्रह्मज्ञान से अज्ञान का नाश होता है। शरीर का भी नाश होता है। इसलिए नाश के साम्य से अज्ञान का भी शरीर नाम होता है। स्थूल सूक्ष्म प्रपञ्चकारण कारणत्व होता है। जीव को स्वयं का ज्ञान नहीं होता है। यह ही जीव का अज्ञान होता है। इस अज्ञान से ही भ्रान्ति होती है। वह स्वयं को स्थूल देह के रूप में मानने लगता है। जिससे वह मैं पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, तथा ब्राह्मण हूँ, इस प्रकार का मूढ विचार करता है। जिससे वह रागद्वेष वश भिन्न भिन्न कर्म करता है। उन कर्मों का फल स्वान्तकरण से युक्त होता है। उस फल के उपभोग के लिए बार बार जन्म सम्भव होता है। प्रत्येक जन्म में सूक्ष्म शरीर के आयतन के लिए स्थूल शरीर को स्वीकार करता है। इन सभी का कारण अज्ञान ही होता है।

ध्यान दें:

अज्ञान समष्टि के अभिप्राय से वन के समान एक ही होता है। तथा व्यष्टि के अभिप्राय से वृक्ष के समान अनेक होता है। व्यष्टि विशेष होता है तथा समष्टि सामान्य होता है। वस्तुत: अज्ञान एक ही होता है। वह ही प्रत्येक जीव में भिन्न भिन्न होता है। जीवगत नानात्व के रूप में भासमान अज्ञान समष्टि के अभिप्राय से एक ही होता है। समष्टि अज्ञानोपाहित चैतन्य ईश्वर होता है। ईश्वर ही इस समष्टि के अखिलकारणत्व से कारण शरीर होता है आकाशादि भी यहा पर उपरमण करते हैं। इस प्रकार से महासुषुप्ति तथा प्रलय होता।

व्यष्टि के अभिप्राय से अज्ञान अनेक होते है। व्यष्टिज्ञानोपाहित चैतन्य प्राज्ञ होता है। अहङ्कारादि का सुषुप्ति अवस्था में संस्कार विशेष से स्थित के कारणत्व से यह व्यष्टि कारण शरीर होता है। यह जगत् प्रपञ्च तथा स्वप्न प्रपञ्च नहीं होता है। सभी विषयों का उपरमत्व होने से यह सुषुप्ति के रूप में भी जाना जाता है।

17.14) सुषुप्ति में जगद् भान का अभाव

जाग्रत काल में स्थूल प्रपञ्च होता है। स्वप्नकाल में सूक्ष्मप्रपञ्च होता है। सुषुप्तिकाल में प्रपञ्च नहीं होता है। वेदान्त में मन से अतिरिक्त अविद्या नहीं होती है। इसलिए संसारबन्धकारणभूत अविद्या मन ही होता है। मन का सत्व होने पर देहादि में अभिमानरूप बन्धन होता है। मन के असत्व होने पर बन्धन नहीं होता है। इस प्रकार से मन के अन्यव व्यतिरेक के द्वारा बन्धकारणत्व सिद्ध होता है। स्वप्न में मन के जागरण से जाग्रतवासनायुक्त मनस विजृम्भित प्रपञ्च का जीव को अनुभव होता है। स्वप्न के समान जाग्रत होने पर भी मन सभी का सर्जन करता है। इसलिए यह सब मन का विजृम्भण मात्र ही है

स्वप्नेर्थशून्ये सृजति स्वशक्त्या
भोक्त्रादि विश्वं मन एव सर्वम्।
तथैव जाग्रत्यपि नो विशेषः
तत्सर्वमेतन्मनसो विजृम्भणम्।। (वि.चू. 172)

सुषुप्तिकाल में मन का लय सम्भव होने से मन के कारण भूत जगत् प्रपञ्च तथा स्वप्नप्रपञ्च नहीं होते हैं। कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव होता है। मन का अस्तित्व जाग्रत तथा स्वप्न में ही होता है। तब ही प्रपञ्च का अनुभव होता है। इसलिए दृश्यमान प्रपञ्च मन से कल्पित ही होता है। सुषुप्ति में मन के विलय होने से मन होता ही नहीं है। सभी प्राणियों का यह एक अनुभव होता है कि सुषुप्ति में कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है। मन के सत्व होने से स्वप्न तथ जाग्रत अवस्था में संसार की उपलब्ध होती है। मन के असत्व होने से सुषुप्ति में उसकी अनुपलब्धि होती है।

सुषुप्तिकाले मनसि प्रलीने
नैवास्ति किञ्चित्सकलप्रसिद्धेः।
अतो मनःकल्पित एव पुंसः
संसार एतस्य न वस्तुतोऽस्ति।। (वि.चू. 173)

जाग्रत अवस्था में ही स्थूलशरीर का भान स्पष्ट होता है। स्वप्न में सूक्ष्मशरीर का भान स्पष्ट होता है। तथा सुषुप्ति में तो कारण शरीर का भान ही स्पष्ट रहता है। तथा अज्ञान ही कारण शरीर होता है।

अव्यक्तमेतत्रिगुणैर्निरुक्तं
तत्कारणं नाम शरीरमात्मनः। (वि.चू. 122)

सुषुप्ति में सभी इन्द्रियों की तथा बुद्धि की वृत्ति प्रलीन होती है। सभी इन्द्रियां बुद्धि तथा उनकी वृत्तियाँ वहाँ पर नहीं होती हैं। फिर भी वासनाओं का नाश तो नहीं होता है। वासनाएँ बीज रूप में

ध्यान दें:

अवितिष्ठित रहती हैं। उनसे ही फिर जाग्रत् तथा स्वप्न की सृष्टि होती है। वासनाओं के नाश के अभाव से यह कारण शरीर के रूप में जाना जाता है।

पाठ सार

यहाँ पर जीवात्मा की तीन अवस्थाएँ प्रतिपादित की गई हैं। वे हैं जाग्रतावस्था, स्वप्नावस्था तथा सुषुप्ति अवस्था। जाग्रतावस्था में जीव का नाम वैश्वानर होता है। वह तब स्थूल विषयों का अनुभव करता है। इसलिए वह स्थूलभुक् होता है। बाह्यविषयों में प्रवृत्ति के कारण वह बहिष्प्रज्ञ होता है। स्वप्नावस्था में यह तैजस के रूप में होता है। वहाँ पर सूक्ष्मविषयों के अनुभव के कारण वह प्रविविक्तभुक् होता है। बाह्यप्रपञ्च के अनुभव के अभास से यह वह अन्तः प्रज्ञ भी होता है। सुषुप्ति अवस्था में आत्मा का प्राज्ञ इस प्रकार का नाम भी होता है। तब वह अज्ञानात्मक कारण शरीराभिमानी होता है। तब वह आनन्दमात्र का अनुभव करता है इसलिए आनन्दभुक् कहलाता है। जाग्रतकालीन स्थूलप्रपञ्च स्वप्नकाल में नहीं होता है। फिर भी उस वासनायुक्ति मनोवृतियों के कारण उसे सूक्ष्म प्रपञ्च का भान होता है। ये दोनो प्रपञ्च भी इस सुषुप्ति में नहीं होते हैं। तब आत्मा के साथ प्राज्ञ एकीभूत होता है। स्थूलात्मक जगत्प्रपञ्च का स्वप्नस्थप्रपञ्च का तथा सूक्ष्मप्रपञ्च का सुषुप्ति अवस्था में लय हो जाता है। इसलिए सुषुप्ति स्थूलसूक्ष्मलयस्थान वाली कही जाती है। जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर का स्वप्न में लिङ्ग शरीर का तथा सुषुप्ति में कारण शरीर का भान होता है।

आपने क्या सीखा

- वेदान्त का सामान्य परिचय
- अद्वैतवेदान्त शब्द के विशेषार्थ को जाना
- वेदान्त इतर विभागों का परिचय प्राप्त किया
- वेदान्तप्रतिपाद्य मुख्य विषयों को जाना
- शंकराचार्यादि आचार्यों का परिचय प्राप्त किया
- अवस्थात्रय के विषय में सामान्य बोध
- आत्मा का चतुष्पादत्व का सम्यक् अवगमन
- विश्व वैश्वानरादि स्वरूप ज्ञान

पाठान्त प्रश्न

1. स्वप्न किसे कहते हैं?
2. स्वप्नप्रपञ्च किस प्रकार का होता है?
3. तैजस किसे कहते हैं?
4. सूक्ष्मशरीर किसे कहते हैं?
5. अन्तः करण के चार प्रकार कौन-कौन हैं?

ध्यान दें:

6. पाँच वायु कौन-कौन से है?
7. प्राज्ञ का स्वरूप क्या है?
8. सुषुप्ति अवस्था का वर्णन कीजिए?
9. कारण शरीर किसे कहते हैं?
10. सुषुप्ति में जगत् का भान क्यों नहीं होता है?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 17.1

1. वेदान्त उपनिषद् प्रमाण तथा तदुपकारी शारीरिक सूत्रादि होते हैं।
2. दो प्रकार के।
3. उपनिषद्।
4. शङ्कराचार्य।
5. माध्वाचार्य।
6. रामानुजाचार्य।
7. जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य।
8. तीन।
9. तीन।
10. अन्त: करणावच्छिन्न चैतन्य।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 17.2

1. इन्द्रियों के द्वारा अर्थोपलब्धि।
2. जाग्रत में।
3. वहाँ पर जो प्रमाणों के द्वारा अर्थ का निर्धारण करता है वह प्रमाता कहलाता है।
4. विश्व, तैजस, प्राज्ञ तथा ईश्वर इस प्रकार से चार पैर होते हैं।
5. वैश्वानर।
6. स्थूलशरीर।

18

पञ्चकोश विवेक

वेदान्त का अन्यतम विभाग अद्वैत वेदान्त है। उसके प्रवर्तक आदिशङ्काराचार्य हैं। अद्वैतवेदान्त वेदान्त का मर्मभूत विषय है जीवात्मा तथा परमात्मा का ऐक्य। इस विषय को सुलभता से समझ नहीं सकते है। क्योंकि आत्मविचार को समझना अत्यन्त ही कठिन है। इस लोक में सत्य वस्तु क्या है इसका वेदान्त शास्त्र के द्वारा अन्वेषण होता है। उसके विषय में आगमशास्त्र ही अन्तिम प्रमाण होते हैं। आगम कहते हैं कि ब्रह्म ही सत्य है। उस ब्रह्मरूपी एक वस्तु के अलावा सब असत्य है। इसलिए शङ्कराचार्य जी ने कहा है ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या यही वेदान्त शास्त्र का तात्पर्य है। ब्रह्म ही अद्वैत होता है वहाँ पर द्वैत का स्थान ही नहीं होता है। लेकिन प्रत्यक्ष प्रतीति के द्वारा द्वैत का ही मुख्य भान होता है। द्वैत वास्तविक रूप से कुछ भी नहीं होता है वह केवल समझाने के लिए कल्पना रूप से शास्त्रों में मिलता है। आचार्य का यह वचन हैं कि अज्ञानकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्व शास्त्रों का होता है। फिर भी आत्मतत्व को अच्छी प्रकार से जानने के लिए बहुत सारे उपाय शास्त्रों में स्वीकार किये गये हैं। उनमें से एक उपाय है पञ्चकोश की कल्पना। अध्यारोपवाद तथा अपवाद के द्वारा यह निष्प्रपञ्च प्रपञ्चित होता है इस प्रकार का न्याय यहाँ पर आधार होता है।

उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन से आप सक्षम होंगे;

- अध्यारोप के स्वरूप को समझने में;
- अपवाद का तात्पर्य समझने में;
- आत्मा तथा अनात्मा का विवेक ज्ञान प्राप्त करने में;
- कोश कितने होते हैं यह ज्ञान प्राप्त करने में;
- अन्नमायादि कोशों के लक्षणों को जान पाने में;
- ब्रह्म के सोपाधिक तथा निरुपाधिक भेद को जान पाने में;
- अरुन्धति नक्षत्र आदि दर्शन के द्वारा ब्रह्म के प्रतिपादन को समझ पाने में;

ध्यान दें:

18.1) अध्यारोप तथा अपवाद वाद

वस्तु में अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप का लक्षण है, जैसे असर्पभूत रस्सी में सर्प का आरोप होता है। कल्पना को ही आरोप कहते हैं। रस्सी को देखकर के रूप साम्य से यह सर्प है इस प्रकार का ज्ञान होता है। वस्तुतः वहाँ पर रस्सी ही होती है न की सर्प। रस्सी सर्प की भ्रान्ति से अधिष्ठान होती है। अधिष्ठान रज्जु अंश का अज्ञान ही सर्प प्रतीति का कारण होता है। प्रकृत दृष्टान्त में वस्तु रज्जु होती है तथा अवस्तु सर्प होता है। सिद्धान्त में तो ब्रह्म ही वस्तु होता है तथा अज्ञानादि सकलजगत् समूह अवस्तु होता है। रज्जु को देखकर के सर्प की भ्रान्ति जिस प्रकार से होती है उसी प्रकार सर्प को देखकर के भी रज्जु की भ्रान्ति होती है। वहाँ पर कारण साम्य जानना चाहिए। इस प्रकार से वस्तुओं का परस्पर अध्यास होता है। रज्जु सर्प के सिर तथा पूँछ नहीं होती है। फिर भी दोनों की कल्पना रस्सी में की जाती है। इसी प्रकार सर्प के जो जो धर्म होते हैं वे सभी रस्सी मे कल्पित किये जाते है। वहाँ पर अज्ञान कारण होता है।

अज्ञान अनिर्वचनीय त्रिगुणात्मक तथा ज्ञान निवर्त्यक रूप में होता है।अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान के द्वारा ही होती है। जिस प्रकार से सूर्योदय होने पर अन्धकार की निवृत्ति होती है उसी प्रकार ज्ञान होने पर अज्ञान की निवृत्ति होती है। तब वास्तविक रस्सी पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है। यह ही अपवाद कहलाता है। सत्य वस्तु को असत्य वस्तु में परिणित होने पर उस असत्य वस्तु का निरास हो जाता है। इस दृष्टान्त में वस्तु रज्जु होती है। वह असत्यभूत सर्पाकार में परिणित होती है तब उस असत्य वस्तु का निरास हो जाता है। सिद्धान्त तो ब्रह्म जगताकार में प्रतीत होता है प्रतीत असत्य वस्तु का जगत निरास हो जाता है। नेह नानास्ति किञ्चित इस श्रुति के द्वारा ब्रह्म में नानाभूत अद्वैत का निषेध किया जाता है।

मुक्ति के लिए कहाँ से किस प्रकार का उपाय होता है इस प्रकार की जिज्ञासा सभी के मन में उत्पन्न होती है। संसार बन्धनों से मुक्ति सभी चाहते हैं। और मुक्ति का तो एक ही उपाय है ब्रह्मज्ञान। जैस पाक् की अग्नि के ज्ञान के बिना भोजन सिद्ध नहीं होता है उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान के बिना मोक्ष सम्भव नहीं होता है, इस प्रकार से आचार्य के द्वारा आत्मबोध प्रकरण में कहा गया है। ब्रह्मज्ञान सुलभ नहीं है। उस के निर्गुणत्व से तथा निर्धर्मकत्व से वह किसी भी प्रमाण का विषय नहीं होता है। इसलिए मुमुक्षुओं के लिए ब्रह्मज्ञान सम्पादन में सविशेष ब्रह्मज्ञान के द्वारा निर्विशेष का ज्ञान होता है। इस प्रकार से क्रमशः सत्यज्ञानानन्तलक्षण के द्वारा यथार्थ तत्व के प्रति जाना जाता है। और पहले ब्रह्मजिज्ञासा होने पर बुद्धिगोचर के लिए सविशेष का प्रतिपादन करके अन्त में उसका निषेध किया जाता है। इस क्रम से यह अध्यारोपवाद न्याय कहलाता है।

भले ही सृष्टि, स्थिति तथा लय, ब्रह्म से ही होते हैं। फिर भी वे वस्तुतः ब्रह्म के स्वरूप नहीं होते है। उनको अन्त में ही जाना जा सकता है। मोक्ष मार्ग के प्रथम सोपान में अध्यारोपकाल में वस्तुस्थिति समझ में नहीं आती है। ब्रह्म को सृष्टिकर्ता मानकर के उससे कर्तृत्व निषेध कार्य किया जाता है। साधारण मानव तथा अज्ञानी ब्रह्म से भिन्न स्वतन्त्र कुछ और जगत् होता है इस प्रकार से चिन्तन करते है। उनके लिए जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण ब्रह्म ही है इस प्रकार से प्रदिपादन करना होता है। इस प्रकार से जगत की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती है। ब्रह्म में ही उसकी स्थिति होती है, इस प्रकार से दृढ़ अवबोध उत्पन्न होता है। उसस निधर्मक ब्रह्म में जगत् का कर्तृत्व सम्भव नहीं होता है तथा कार्यकारणरहित उसमें जगत् का कारण भी सम्भव नहीं होता है। इस प्रकार से कल्पितविचारों के निषेधों के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म में ही गति होती है।

इस प्रकार से बुद्धि का स्थैर्य सम्पादन के द्वारा लक्ष्यप्राप्ति तक जो कुछ भी परिकल्पना करके

साक्षात्कार होने पर लक्ष्य में परिकल्पित का निषेध करना चाहिए। यह ही अध्यारोप तथा अपवाद का प्रयोजन है। और ब्रह्मत्व को समझने पर कहे गये पञ्चकोशों की भी ब्रह्म में ही कल्पना करनी चाहिए। ब्रह्म वहाँ पर अधिष्ठान तथा पञ्चकोश आरोपित होते हैं। पञ्चकोशों में भी सर्वप्रथम ब्रह्मत्वबुद्धि की कल्पना करके फिर उसके द्वारा यथार्थ ब्रह्म में गति होती है।

इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए अरुन्धती न्याय का सहारा लिया जाता है। विवाह के बाद रात्रिकाल में अपनी पत्नी बाहर लाकर के पति अरुन्धती नक्षत्र का दर्शन करवाता है। अरुन्धती नक्षत्र अत्यन्त सूक्ष्म होता है। इसलिए उसका दर्शन भी कठिन होता है। पति तो पहले ही देख लेता है। लेकिन भार्या पहले कभी नहीं देखती है। इसलिए उसके लिए अत्यन्त सूक्ष्म अरुन्धती नक्षत्र का दर्शन सुलभ नहीं होता है। उसको अरुन्धती नक्षत्र दिखाने के लिए भर्ता कोई उपाय करता है। वह उपाय यह है कि भर्ता अपनी अङ्गुली को दिखाकर के भार्या से कहता हैं कि ऊपर अत्यन्त प्रकाशमान स्थूलरूप में दिखाई दे रहा है क्या वह आपको दिख रहा है, क्या? देखकर के भार्या पूछती है कि क्या वह अरुन्धती नक्षत्र है। तब वह कहता हैं कि वह अरुन्धती नक्षत्र नहीं है। उसके पास में एक और लघु प्रकाशमान नक्षत्र दिखाई दे रहा है, क्या? भार्या कहती है हाँ, क्या वह अरुन्धती नक्षत्र है? भर्ता कहता है वह नहीं लेकिन उसके पास में जो सबसे छोटा नक्षत्र दिखाई दे रह है वह अरुन्धती नक्षत्र है। इस प्रकार से स्थूल नक्षत्रों को पहले दिखाकर के फिर उससे छोटे नक्षत्रों को दिखाकर के उसके बाद में सबसे लघु नक्षत्र को दिखाना चाहिए। इस प्रकार से जिन नक्षत्रों का दर्शन सुलभ होता सबसे पहले उनका दर्शन करवाकर के उसके बाद फिर एक एक नक्षत्र का निरास करके अन्त में मुख्य अरुन्धती नक्षत्र का प्रदर्शन करवाना चाहिए। इस उपाय से दुर्विज्ञेय भी सुविज्ञेय हो जाता है।

इस प्रकार से दुर्विज्ञेय आत्मा का उपदेश देने के लिए शास्त्र अरुन्धती नक्षत्र के निर्देशन के समान लोकबुद्धि का अनुसरण करता है। अन्नमय शरीर ही आत्मा है इस प्रकार से मूढ लोग सोचते है। उनके अनुसार उनको समझाने के लिए आत्मा अन्नमय होता है इस प्रकार से उनको समझाया जाता है। अन्नमय आत्मा होता है यह बोध होने पर उसका वहाँ पर निरास किया जाता है। उसके बाद यह समझाया जाता है कि अन्नमय आत्मा नहीं हो सकती है, अपितु उसके अन्तर्गत विद्यमान प्राणमय कोश ही आत्मा होती है फिर उसके बाद में इसका भी निरास करवाकर के यह कहा जाता है की प्राणमय कोश भी आत्मा नहीं होती है अपितु वर्तमान मनोमय कोश ही आत्मा है। फिर इसी क्रम में उसके अन्दर विद्यमान विज्ञानमय कोश और फिर आनन्दमय कोश आत्मा होती है इस प्रकार से समझाया जाता है। और अन्त में पञ्चकोश भी आत्मा होने योग्य नहीं है ऐसा कहकर के यथार्थ आत्मस्वरूप का बोध करवाया जाता है। उसका आगे वर्णन किया जा रहा है।

पाठगत प्रश्न 18.1

1. वेदान्त का विषय क्या है?
2. आत्मविषय में अन्त्य प्रमाण क्या है?
3. वेदान्तशास्त्र का तात्पर्य क्या है?
4. अध्यारोप तथा अपवाद वाद के द्वारा प्रपञ्च क्या होता है?
5. अध्यारोप किसे कहते हैं?
6. सर्प भ्रान्ति में अधिष्ठान क्या है?

ध्यान दें:

ध्यान दें:

7. सिद्धान्त वस्तु क्या है?
8. सिद्धान्त में अवस्तु क्या है?
9. अज्ञान किसे कहते हैं?
10. अपवाद किसे कहते हैं?
11. मुक्ति का एक ही उपाय क्या है?
12. किस न्याय के द्वारा दुर्विज्ञेय आत्मा का प्रतिपादन किया जाता है?

18.2) पञ्चकोश

अनात्मविषयों के बाद ही आत्मस्वरूप का विवेचन किया गया है। वहाँ पर शास्त्र में अनेक उपाय बताए गये हैं। इससे पूर्वपाठ में उसके लिए अवस्थात्रय का विचार तथा शरीरत्रय का विचार भी किया गया है। इस प्रकार से पञ्चकोश का विचार किया जाता है।

जीव का वास्तविक रूप ब्रह्म ही होता है। सत्य ज्ञान के पश्चात् अद्वितीय वस्तु को अपने शरीर में हृदयरूपी गुहा के अन्दर जानना होता है। जिससे उसकी वहीं पर उपलब्धि होती है, वहाँ पर गीता का यह वचन हैं कि

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।। (भ.गी. 18.61)

यहाँ पर कही गयी हृदय रूपी गुहा के चारों ओर पञ्चकोश होते हैं। वे हैं अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश तथा आनन्दमय कोश इस प्रकार से होते हैं। उसके पञ्चदशी में इस प्रकार से कहा गया है।

अन्नं प्राणो मनो बुद्धिरानन्दश्चेति पञ्च ते।
कोशास्तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृतिं व्रजेत्।। प.द. 1.33

अन्न, प्राण,मन बुद्धि तथा आनन्द इस प्रकार से पाँच कोश होते हैं। बुद्धि यहाँ पर विज्ञान होती है। इन पाँचों कोशों के द्वारा आत्मा ढकी हुई रहती है। आवरण यहाँ पर ढकी हुई के समान ही समझना चाहिए। क्योंकि वस्तुतः आत्मा का आवरण नहीं होता है। इस प्रकार से आत्मा के आवरण के कारण से अपने स्वरूप को नहीं समझकर तथा उसे भूलकर जीव संसारी हो जाता है। पञ्चकोश के विषय में तैत्तिरीय श्रुति में यह प्रमाण है

तस्माद्वा एतत्स्मादन्नरसमयादन्योन्तर आत्मा प्राणमयः।
तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योन्तर आत्मा मनोमयः।
तस्माद्वा एतत्स्मान्मनोमयादन्योन्तर आत्मा विज्ञानमयः।
तस्माद्वा एतत्स्माद्विज्ञानमयादन्योन्तर आत्मा आनन्दमयः।। इति। (तै.उ.2.1-4)

विश्व का व्यष्टि स्थूल शरीर ही अन्नमय कोश होता है। पाँच प्राण तथा पाँच कर्मेन्द्रियों के साथ प्राणमय कोश होता है। मन तो ज्ञानेन्द्रियों के साथ मनोमय कोश रूप में होता है। बुद्धि ज्ञानेन्द्रियों के साथ विज्ञानमय कोश कहलाती है। तथा अविद्या परिणाम रूप वृत्ति आनन्दमय कोश कहलाती है। कोश के समान आच्छादकत्व होने से इसका कोश नाम दिया गया है। जैसे संसार में खड्ग का कोश होता है जो खड्ग को आच्छादित किये हुए रहता है। उसी प्रकार अन्नमयादि कोश भी आत्मा को आच्छादित किये हुए रहते हैं।

ध्यान दें:

जब अन्नमयकोश अभिमत वाला जीव होता है तब वह अन्नमयात्मा होता है। तब प्राणमय अभिमान वाला होता है तब उसकी प्राणमय आत्मा होती है। इसी प्रकार उस उस कोष में कल्पित अभिमान जीव की मनोमयात्मा, विज्ञानमयात्मा तथा आनन्दमयात्मा होती है।

18.2.1) अन्नमयकोश

शरीर तीन प्रकार के होते हैं कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर। इनमें स्थूल शरीर अन्नमयकोश कहलाता है। पञ्चीकृत भूतों से उत्पन्न स्थूल देह ही अन्नमयकोश होता है। पञ्चीकृतस्थूलों से बना हुआ देह अन्न संज्ञक होता है। इस प्रकार से पञ्चदशीकार ने कहा है। शरीर भी अन्न का ही विकार होता है। अन्नविकारत्व से ही यह अन्नमय कहलाता है। स्थूलभोग को आयतन होने से यह स्थूल शरीर भी कहलाता है। माता पिता के द्वारा भुक्ति अन्न से भी इसकी उत्पत्ति होती है। तथा अपने द्वारा खाये हुए अन्न से यह स्थित रहता है। इसलिए इस शरीर का नाम अन्नमय शरीर किया गया है।

अन्नमयकोश में तन्मय होकर के जीव संसरण करता है। मैं स्थलू हूँ, मैं कृश हूँ, मैं सुन्दर हूँ इस प्रकार का भ्रान्तिग्रस्त यह जीव हो जाता है। अहं शब्द का यहाँ पर आत्मा अर्थ होता है। मैं स्थूल हूँ इस प्रकार से यहाँ पर जीव आत्मा को स्थूल समझता है। अथवा शरीरस्थ सौन्दर्यादि धर्म आत्मा के हैं इस प्रकार से चिन्तन करता है। वस्तुतः स्थूलत्वादि धर्म देह के होते है न की आत्मा के। वह जीव शरीर के क्लेशों को आत्मा मानकर के दुःखों का अनुभव करता है।

18.2.2) प्राणमय कोश

अब प्राणमय कोश का निरूपण किया जा रहा है। सप्तदश अवयव (17) तथा सूक्ष्म शरीर का पूर्व में विचार किया जा चुका है। वहाँ पर पाँच प्राण कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर के प्राणमय कोश का निर्माण करतें है। वृत्तिभेद से पाँच प्राण होते हैं। प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान। इस प्रकार से पाँच कर्मेन्द्रियाँ होती है- वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ। इस प्रकार से इन दशों का समूह प्राणमय कोश होता है। अन्नमय कोश अन्यन्त स्थूल होता है, प्राणमय कोश उतना स्थूल नहीं होता है। तथा अत्यन्त सूक्ष्म होता है ऐसा भी नहीं कह सकते हैं लेकिन अन्नमय कोश की अपेक्षा कुछ सूक्ष्म तो होता ही हैं।

18.2.3) मनोमय कोश

अब मनोमय कोश का निरूपण किया जा रहा है। यह तीसरा कोश है। मन ज्ञानेन्द्रियों से मिलकर के मनोमय कोश का निर्माण करता है। अर्थात् यह भी कह सकते हैं की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ मिलकर के षष्टम अंश के रूप में मनोमय कोश का निर्माण करती हैं। इस प्रकार से श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा घ्राण तथा मन मनोमय कोश के अन्तर्गत होते हैं। फिर श्रोत्रमय कोश, चक्षुमय कोश, इसका नाम नहीं होता है। वहाँ पर यह कारण है कि सभी इन्द्रियों का अध्यक्ष मन होता है। मन के अधीन ही इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है। श्रोत्रेन्द्रिय स्वतन्त्रता से शब्द का ग्रहण नहीं कर सकती हैं। वहाँ पर उसे मन की सहायता की अपेक्षा होती है। उसी प्रकार चक्षु मन के विना रूप का ग्रहण नहीं करता है। इस प्रकार से सभी जगहों पर मन की अधीनता के द्वारा ही इन्द्रियाँ विषयों का ग्रहण करती है। इस प्रकार से इन्द्रियों की अपेक्षा मन के प्रधान होने से इस कोश का नाम मनोमय कोश है। इन्द्रियों के अभाव में भी स्वप्न में मन की प्रवृत्ति होती है। सङ्कल्प तथा विकल्प मन के ही विषय होते हैं। देहेन्द्रियों में तथा घर आदि में अहंता तथा ममता का उत्पादन मन ही करता है।

ध्यान दें:

शब्दार्थ व्यतिरिक्त प्रपञ्च नहीं होता है। इसलिए प्रपञ्च मन में ही होता है। बन्धन तथा मोक्ष मन के ही अधीन होते हैं। इस प्रकार से अन्नमय के तथा प्राणमय के ज्ञानशक्ति रहित होने से वह बलिष्ठ भी होता है।

मन के अतिरिक्त कोई अविद्या नहीं होती है। मन ही अविद्या का कार्य होता है। इसलिए संसारबन्धन का हेतु मन ही होता है। इस प्रकार से मन को ही बन्धन का कारण बताया गया है। मन के होने से ही देहादि में अभिमानरूप बन्ध होता है। अगर मन नहीं है तो देहादि में अभिमान रूप बन्ध भी नहीं है। इस प्रकार से मन ही बन्धकारणत्व रूप में सिद्ध होता है। मन के विनष्ट हो जाने पर सबकुछ विनष्ट हो जाता है। इसलिए सुषुप्ति में जगत की प्रतीति नहीं होती है।

स्वप्नेऽर्थशून्ये सृजति स्वशक्त्या।
भोक्त्रादि विश्वं मन एव सर्वम्॥ वि.चू. 172

सुषुप्तिकाल में मन का लय हो जाता है इस प्रकार से कहा जा चुका है। इसलिए उस समय जगत का भान भी नहीं रहता है। सुषुप्ति से उत्थि की स्मृति भी उस समय कुछ नहीं जानती है। इसलिए यह संसार मनकल्पित ही होता है। मन कल्पित संसार की वास्तविकता नहीं होती है स्वप्न के समान ही।

सुषुप्तिकाले मनसि प्रलीने।
नैवास्ति किञ्चित्सकलप्रसिद्धेः॥ वि.चू.173

मनसः बन्धमोक्षकारणत्वम्

मन ही मनुष्यों के बन्धन तथा मोक्ष का कारण होता है। जिस प्रकार से वायु के द्वारा मेघ लाये जाते है तथा उसी के द्वारा उनका लय हो जाता है। उसी प्रकार मन से बन्धन बनाये जाते हैं तथा फिर मन के द्वारा ही उनका निरास कर दिया जाता है। जिस प्रकार से मन के द्वारा बन्धनों की कल्पना की जाती है उसी प्रकार मन के द्वारा ही मोक्ष की भी कल्पना की जाती है। उदाहरण के द्वारा स्पष्ट होता है। जैसे पशु रज्जु से बद्ध होता है। इसलिए पशु के बन्धन तथा मुक्ति का हेतु वह रज्जु होती है। जिस रस्सी के द्वारा पशु का बन्धन होता है उसके द्वारा ही उसकी मुक्ति भी होती है। रस्सी के खोलने पर पशु भी मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार यह मन भी पुरुष में दृढ़ता को जन्म देकर के पुरुष को बाँध लेता है। अर्थात् पुरुष उस समय रागपाश के द्वारा बन्ध जाता है। इस रागपाश का यहाँ स्वभाव है की यह देहादि विषयों में राग को उत्पन्न करता है। इसलिए राग ही पाश है इस प्रकार से राग पाश को जानना चाहिए। इस प्रकार से जो पुरुष राग पाश के द्वारा बन्ध जाता है वह विषयों के अधीन होकर ही जीवन जीता है। जैसे रागपाश के बन्धन कारण मन होता है वैसे ही रागपाश के मोचन के लिए भी मन का ही कारण्य अपेक्षित होता है। उसके लिए विषयों से मन की विरक्ति अपेक्षित होती है। विरक्ति नित्य तथा अनित्य वस्तुओं के विवेक के ज्ञान से होती है। विवेक मन के द्वारा उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि मन के राज जनन से बन्धन का कारण होता है तथा वैराग्य जनन से मोक्ष कारण होता है। इस प्रकार का यह तात्पर्य है। इस प्रकार से बन्धन का कारण तथा मोक्ष कारण मन ही है यह सिद्ध हो चुका है।

तस्मान्मनः कारणमस्य जन्तोर्।
बन्धस्य मोक्षस्य च वा विधाने॥ वि.चू.176

मन किस प्रकार से बन्धन तथा मोक्ष का कारण होता है। तो कहते हैं की अशुद्ध मन बन्ध का कारण होता है। तथा शुद्धमन मोक्ष का कारण होता है। मलिन मन ही अशुद्ध के रूप में कहा जाता है। गुण तीन प्रकार के होते है। सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। वहाँ पर रजोगुण तथा तमोगुण के साथ जब मन होता है तब वह मन अशुद्ध होता है। तथा रजोगुण और तमोगुण से रहित मन जब मात्र सत्त्वगुण से युक्त होता है तब वह शुद्ध होता है। इस प्रकार से मन का एकत्व भी गुण भेद के कारण बन्ध तथा मोक्ष

ध्यान दें:

का कारण हो जाता है।

मन का शुद्धि सम्पादन

शुद्ध मन मोक्ष का हेतु होता है, इस प्रकार से कहा जा चुका है। अब मन की शुद्धि किस प्रकार से होती है इस पर विचार किया जा रहा है। विवेक तथा वैराग्य के द्वारा मन शुद्ध होता है।विवेक यह आत्मा है तथा यह आत्मा नहीं है इस प्रकार के विवेचन का ज्ञान होता है। अर्थात् आत्मा तथा अनात्मा का ज्ञान ही विवेक कहलाता है। अज्ञानादि सकल जड़ समूह अनात्मा होते हैं। आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप होती है। सुख की प्राप्ति आत्मा में ही होती है। आत्मभिन्न वस्तुओं में सुख होता ही नहीं है केवल दु:ख ही होता है। इस प्रकार से शास्त्राचार्यों के उपेदश के कारण जिसकी इस प्रकार से जब बुद्धि उत्पन्न होती है तब दु:खजनक अनात्माओं में उसे विरक्ति हो जाती है। विरक्त होने पर फिर देहादि विषयों मे राग उत्पन्न नहीं होता है। यही वैराग्य कहलाता है। इस प्रकार से विवेक तथा वैराग्य के द्वारा मन अन्तर्मुखी हो जाता है। उससे मन की शान्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार से मन की शुद्धि को सम्पादित करके वह प्रसन्न चित्त होकर के संसार से मुक्त हो जाता है।

विवेकवैराग्यगुणातिरेका-
च्छुद्धत्वमासाद्य मनो विमुक्त्यै॥
भवत्यतो बुद्धिमतो मुमुक्षो-
स्ताभ्यां दृढाभ्यां भवतिव्यमग्रे॥ वि.चू. 177

यदि विषयों को अरण्य के रूप मे स्वीकार करें तो मन वहाँ पर बाधित होता है। व्याघ्र के मरण के भय से लोग जिस प्रकार से अरण्य में प्रवेश नहीं करते हैं उसी प्रकार साधु जन भी मोक्ष की इच्छा करते हुए मनोरूपी व्याघ्र के भय से विषय रूपी अरण्य में प्रवेश नहीं करते हैं विषयों के प्रति जाना मन का स्वभाव होता है।

18.2.4) विज्ञानमय कोश

यह चौथा कोश होता है। बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियों के सहित यह विज्ञानमय कोश होता है। जिसे विवेकचूडामणी में इस प्रकार से कहा गया है।

बुद्धिर्बुद्धीन्द्रियैः सार्धं सवृत्तिः कर्तृलक्षणः
विज्ञानमयकोशः स्यात्पुंसः संसारकारणम्॥ 186

इस कोश में बुद्धि प्रधान होती है। बुद्धि निश्चयात्मिका अन्त: करण की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार से बुद्धि का विषय निश्चय होता है। इस प्रकार से यह कोश कर्तृलक्षण कोश होता है। मैं कर्ता हूँ इस प्रकार के कर्तृत्व के अभिमान से बुद्धि के कार्य होते हैं । कर्तृत्व ज्ञानेच्छा ही कर्तृत्व होती है। जिस प्रकार से घट के निर्माण के लिए कुलाल की इच्छा होती है। केवल इच्छा से घट का निर्माण नहीं होता है। वहाँ पर ज्ञान भी अपेक्षित होता है। घट के निर्माण के लिए जो जो अपेक्षित है उन सबके द्वारा किस प्रकार से बनाया जाए यह भी जानना चाहिए। मिट्टी वहाँ पर उपादान कारण होती है। चक्र के भ्रमण के द्वारा घट का निर्माण करना चाहिए। उसका आकार पृथुबुध्नोदर विशिष्ट होना चाहिए। इस प्रकार से ज्ञान की स्थिति होती है।तथा कृति प्रयत्न होता है।

इस प्रकार से अन्त: करण मन तथा बुद्धि होती है। मन करणत्व कारक है तथा बुद्धि कर्तृत्व कारक है। विचारान्तर ही पुरुष की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार से पूर्वापरीभाववत्वसे मन तथा बुद्धि का वाह्यान्तरभाव इस मनोमय के अन्तर ही विज्ञानमय कोश होता है यह भाव है। इसलिए मनोमय से अन्यतर

ध्यान दें:

आत्मा विज्ञानमय होती है ऐसा तैत्तिरीय श्रुति में कहा गया है। परमात्म चैतन्य बुद्धि में प्रतिबिम्ब के रूप मे रहता है। तब वह प्रतिबिम्ब जीव कहलाता है। इस प्रकार से बुद्धि परमात्मा के दर्पण के समान ही होती है। जब दर्पण होता है तब ही प्रतीबिम्ब होता है। दर्पण के अभाव में तो प्रतिबिम्ब भी नहीं होता है। सुषुप्ति काल में बुद्धि नहीं होती है। इसलिए बुद्धि रूपी दर्पण के अभाव में जीव भी नहीं होता है। उसका परमात्मा मे लय हो जाता है। इसलिए विवेक चूडामणि में यह कहा गया है कि बुद्धि जीव के पीछे-पीछे चलती है। विशेष ज्ञान के प्रति कारण होता है इस प्रकार से बुद्धि का विज्ञानमयत्व सिद्ध होता है, परमार्थ जो ज्ञान होता है उससे अन्य यह विज्ञान होता है। मूलप्रकृति से अविद्या के परिणाम रूप में यह होती है। अविद्या त्रिगुणात्मिक होती है। लेकिन अविद्यागत सत्त्वगुण का परिणाम बुद्धि नहीं होती है। इसलिए यह निर्मल होती है। इस प्रकार इसके निर्मलत्व होने के कारण ही दर्पण के समान परमात्मा का प्रतिबिम्ब इसमें दिखाई देता है। स्वच्छ पदार्थ में प्रतिबिम्ब निश्चित रूप से रहता है। इस प्रकार से चित्प्रतिबिम्बभूत जीव के द्वारा ही कुछ समझा जा सकता है। मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ इत्यादि उसके तादात्म्य अभिमान के कारण होता है यह जानना चाहिए।

बुद्धि क्रियात्व का उपपादन करती है। तथा अविद्या का विकार भी होती है इस प्रकार से कहा भी जा चुका है। तो अविद्या के समान बुद्धि का अनादित्व होता है क्या यह संशय उत्पन्न होता है। तो इसका एक समाधान है। बुद्धि पूर्वकृत कर्मवासनाओं का आश्रय होती है। उस प्रकार की बुद्धि के नाश होने पर तो कर्मानुगुण सृष्टि सम्भव ही नहीं होती है। अविदेह कैवल्य संसारकारणभूता बुद्धि का अनादित्व अवश्य कहना चाहिए। विज्ञानमय कोश सभी व्यवहारो में अर्थात् लौकिक तथा वैदिक व्यवहारों मे कर्ता के रूप में होता है। इसकी जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ होती हैं। अपने कर्मानुसार यह संसरण करता है।

विज्ञानमय आत्मा के अत्यन्त समीप होता है। इसलिए यह अत्यन्त प्रकाशमान होता है। स्वयं जड होते हुए भी आत्म प्रतिबिम्ब के सम्भव होने से यह चेतन के समान प्रतीत होता है। देहादि के आश्रमधर्म तथा तदनुगण कर्म भी होते हैं। लेकिन विज्ञानमय उन सभी को अहंता ममता की चिन्ता के द्वारा स्वयं में चिन्तन करता है। वहाँ पर वह कर्ता तथा भोक्ता होता है। इसी प्रकार से इस संसार के दुःख भी होते है। लौहित्य स्फटिक का धर्म नहीं होता है फिर भी लोहित स्फटिक इस प्रकार का व्यवहार होता है। वहाँ पर यह कारण है कि स्फटिक समीप लोहित पुष्प का होना। इस प्रकार से पुष्प में रक्तिमा भी होती है। रक्तिमा पुष्प का धर्म होता है। फिर भी सामीप्य से पुष्प की रक्तिमा स्फटिक में प्रतिबिम्बित होती है। लोग स्फटिक में प्रतीयमान रक्तिमा को पुष्प की रक्तिमा इस प्रकार से नहीं जानकर के अविवेक से लोहित स्फटिक इस प्रकार से ही कहते है। उसी प्रकार से में कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, इस प्रकार का सभी का व्यवहार होता है। अथवा मैं सन्यासी हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, इस प्रकार का होता है। यहाँ पर अहं पद से आत्मा विवक्षित होती है। इस प्रकार से कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वादि धर्म आत्मा के होते हैं इस प्रकार से अविवेकी लोग चिन्तन करते हैं। वहाँ पर केवल उपाधि सामीप्य कारण होता है। जैसे पुष्पसामीप्य स्फटिक का कारण होता है। प्रकृत आत्मा की उपाधि बुद्धि होती है। इस प्रकार से बुद्धि के सामीप्य से बुद्धिगत कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्मों को आत्मा में आरोपित करके मैं कर्ता हूँ मैं भोक्ता हूँ इस प्रकार से तादात्म्य अभिमान के कारण मनुष्य चिन्तन करता हैं। पुष्प को हटाने से स्फटिक का लोहित्य भी हट जाता है। उसी प्रकार बुद्धि रूपी उपाधि के नाश होने पर उसमें होने वाले कर्तृत्वादि धर्म भी बाधित हो जाते हैं। इसलिए इसे विवेकचूडामणी में इस प्रकार से कहा गया है।

कूटस्थः सन्नात्मा कर्ता भोक्ता भवत्युपाधिस्थः इति। (191)

उपाधिसम्बन्धवशात् परात्माप्युपाधिधर्माननुभाति तद्गुणः। (193)

परमात्मा का जीव भाव उपाधि के द्वारा कहा गया है। उपाधि तथा विज्ञानमय कोश अनादि होते

ध्यान दें:

हैं। अनादि का नाश नहीं होता है। तो आत्मा के जीव भाव का नाश नष्ट नहीं होता है। उसके द्वारा तो जीव का मोक्ष भी नहीं होता है यह सन्देह होता। यहाँ पर कहते हैं की यह भ्रान्ति के कारण कल्पित है। इसलिए ये वास्तविक नहीं है। भ्रान्ति के बिना असंख्य निष्क्रिय निराकार आत्मा का विषयों के साथ संबंध नहीं होता है। इस प्रकार से बुद्धि के तादात्म्य से, भ्रान्ति से प्राप्त आत्मा का जीवाभाव होता है। इसलिए भ्रान्ति का बाध करने पर जीवत्व का भी बाध होता है। जितने काल तक भ्रान्ति रुकती है उतने काल तक ही जीवभाव की भी सत्ता होती है। जैसे भ्रान्तिकाल में ही रज्जु में प्रतीत सर्प की सत्ता होती है। भ्रान्ति के नाश होने पर रज्जु में कल्पित सर्पत्व का भी नाश हो जाता है। अविद्याकार्य का अनादित्व होने पर भी विद्या का उदय होने पर सूर्योदय के समय अन्धकार के नष्ट होने के समान अविद्या भी अस्त हो जाती है। स्वप्न में जो-जो देखा जाता है प्रबोध होने पर उन सभी का मूल सहित नाश हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा का बुद्धि से सम्बन्ध होता है। सम्यक् ज्ञान होने पर ही वह अविद्या नष्ट हो जाती है। सम्यक् ज्ञान से तात्पर्य है ब्रह्म के साथ एकत्व का ज्ञान। मैं स्वयं आत्मा हूँ। इस प्रकार का ज्ञान होता है। वह ज्ञान किस प्रकार से उत्पन्न होता है। इस प्रकार से आत्मा तथा अनात्मा के विवेकियों के द्वारा जानना जाहिए।

कीचड़ से संयुक्त जल जिस प्रकार से स्पष्ट रूप में प्रकाशित नहीं होता है। उसी प्रकार आत्मा भी उपाधियुक्त होता हुआ स्पष्ट रूप में प्रकाशित नहीं होता है। कीचड़ के निकल जाने पर जल स्वयं ही शुद्ध होता है उसी प्रकार उपाध्याय उपनयन होने पर आत्मा शुद्धता के द्वारा अभिव्यञ्जित होती है।

18.2.5) आनन्दमय कोश

कारण शरीर का भान सुषुप्ति अवस्था में होता है इस प्रकार से कहा भी जा चुका है। कारण शरीर अविद्यात्मक होता है। अविद्या में तीन गुण होते हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। अविद्या सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के द्वारा युक्त होती है। इसलिए वहाँ सत्त्वगुण की अविशुद्धता होती है। अर्थात् सत्त्वगुण की शुद्धि विनष्ट होती है। इस प्रकार से मलिन सत्त्व, आनन्दमय कोश होता है। उसकी फिर तीन प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं। प्रिय, मोद तथा प्रमोद।

इष्ट वस्तु का दर्शन जन्य सुख प्रिय होता है। उसका लाभ होने पर मोद होता है। तथा उसके भोग होने पर प्रमोद होता है। अभीष्ट वस्तु के दर्शन में जो वृत्ति उत्पन्न होती है वह प्रिय रूप में व्यवरणीय होती है। इष्ट वस्तु के दर्शन के बाद जब उसकी प्राप्ति होती है तब वह उत्पन्न होने पर वृत्ति मोद कहलाती है। वस्तु का दर्शन हो गया वह मिल भी गयी तथा जब उसका उपभोग किया तो उससे उत्पन्न होने वाली वृत्ति प्रमोद कहलाती है। इस प्रकार से तीन प्रकार की वृत्तियों के द्वारा यह आनन्दमय कोश प्रसिद्ध है।

सुषुप्ति मे आनन्दमय कोश का अच्छी प्रकार से स्फुरण होता है। आनन्द का अनुभव अच्छी तरह से होता है, यह ही उसका अभिप्राय है। वह अज्ञान से आवृत्त है इस कारण से सुषुप्ति कालीन आनन्द मुख्य नहीं होता है। स्वप्न तथा जागरण में आनन्द का अल्प ही स्फुरण होता है। इस प्रकार से उस आनन्द का प्रिय मोद तथा प्रमोद के रूप में अनुभव होता है।

पाठगत प्रश्न 18.2

1. क्लेश कितने होते हैं?
2. पञ्चकोश कौन-कौन से होते हैं?

पाठ-18

पञ्चकोश विवेक

ध्यान दें:

3. प्रथम कोश कौन-सा होता हैं?
4. ईश्वर सभी भूतों में कहाँ पर रुकता है?
5. पाँच कोशों के द्वारा कौन आवृत्त होता है?
6. अन्न रसमय आदि से अन्यतर आत्मा कौन-सी होती है?
7. अन्नमय कोश क्या है?
8. प्राणमय कोश क्या है?
9. मनोमय कोश क्या है?
10. विज्ञानमय कोश क्या है?
11. आनन्दमय कोश क्या है?
12. कोश इस प्रकार के नाम का क्या अभिप्राय है?
13. अन्नमय कोश में तन्मय होकर कौन संसरण करता है?
14. वृत्तिभेद से प्राण कितने प्रकार के होते हैं?
15. मनोमय कोश में कितने अंश होते हैं?
16. गेहादि में अहंता तथा ममता को उत्पादन कौन करता है?
17. मन किसका कार्य होता है?
18. मन से कल्पित क्या होता है?
19. मन मनुष्य के किस किस का कारण है?
20. वैराग्य जनन के द्वारा मोक्ष का क्या कारण होता है?
21. राग जनन के द्वारा बन्धन का क्या कारण है?
22. विवेक तथा वैराग्य के द्वारा क्या शुद्ध होता है?
23. निश्चयात्मिका अन्तःकरणवृत्ति कौन-सी है?
24. कर्तृलक्षण कोश कौन-सा है?
25. अविद्यागत सत्वगुण का क्या परिणाम होता है?
26. परमात्मा का जीवभाव किसके द्वारा होता है?
27. अविद्या के कितने गुण होते हैं?
28. तीन गुण कौन-कौन से हैं?
29. आनन्दमय कोश की तीन वृत्तियाँ कौन-कौन सी हैं?
30. इष्टवस्तु का दर्शनजन्य सुख क्य होता है?
31. मोद कब होता है?
32. आनन्दमय कोश का सम्यक् स्फुरण कब होता है?

ध्यान दें:

18.3) अनात्मों में आत्मा के समान बुद्धि

अन्नमयादि कोश होते हैं। उनका जीव बोधकत्व किस प्रकार से होता है इस प्रकार की शङ्का होती है। इसमें तादात्म्य का कोई दोष नहीं है। अन्नमयादि कोशपरत्व होने पर भी उनके द्वारा तादात्म्य अध्यास से वह तत् तन्मय हो जाता है। कोशों में अभिमान से स्वयं जीव उस उस कोश को मानता है। इस प्रकार से अन्नमयकोश में अभिमान से स्वयं को जीव स्थूलशरीर भी मानने लगता है। व्यवहार काल में अन्नमयादि कोशों का प्राधान्य होता है। इसलिए अन्नमयादि जीव के शब्द वाच्यत्व होते हैं। तत्तन्मयत्व से ही जीव का बन्ध होता है, इसको पञ्चदशी में इस प्रकार से कहा गया है।

तत्तत्कोशैस्तु तादात्म्यादात्मा तत्तन्मयो भवेत्। प.द. 1.36

जीव अपने स्वरूप परमात्मा को भूलकर के देहादियों में आत्मवत् बुद्धि कल्पना करता हैं। भले ही जीव स्थूल देहादि से अथवा पञ्चकोशों से अत्यन्त ही भिन्न होता है। फिर भी वे अपने स्वरूप का चिन्तन करते हैं। जैस लोक में दश लोग नदी को तैरकर पार करके ग्रामान्तर को प्राप्त करके हमलोग दस लोग हैं अथवा नहीं इस प्रकार से स्वयं को छोडकर गणना करते है और उस दसवें को ढूँढ़ते हैं। उसी प्रकार जीव भी वास्तविक आत्मा को परित्याग करके आत्मभिन्न अनात्मकोषों में आत्मा को ढूँढता है। अविद्या के द्वार पञ्चकोशो से में अभिन्न हूँ इस प्रकार से मानता है। अन्नमयादि अनात्मों से मैं अन्य नहीं हूँ इस प्रकार का अभिमान करता है। इस प्रकार से स्वयं ब्रह्म होते हुए भी उसके द्वारा ब्रह्म अप्राप्त होता है। इस प्रकार से अविद्या के द्वार अप्राप्त जो ब्रह्म स्वरूप है उसकी प्राप्ति विद्या के द्वारा होती है। और विद्या आचार्यों के उपदेश से प्राप्त होती है।

18.4) पञ्चकोश विवेक

अध्यारोपवाद तथा अपवाद के द्वार पञ्चकोश प्रपञ्चित होता है इसे पूर्व में कहा जा चुका है। इन पञ्चकोशों के प्रतिपादन के द्वारा ही आत्मा में अनात्मभूत अन्नमयादि कोशों का अध्यारोप हुआ। अब अपवाद को आरम्भ करते हैं। अपवाद निरास कहलाता है। आत्मा में कल्पित अतद्धर्मों का निरास होता है। तथा उससे आत्मस्वरूप का भान होता है।

सभी जगह सभी में आत्म होती है। लेकिन सुलभता से उसकी प्राप्ति किसी को भी नहीं होती है। वहाँ पर कारण है आत्मा का गूढ रूप होना। गूढत्व से तात्पर्य है आच्छादत्व होना। पञ्चकोशों के द्वारा आत्मा आवृत होता है इस प्रकार का वहाँ पर आशय है। ब्रह्म गुहातीत होता है। तथा गुहा पञ्चकोशों के द्वारा निर्मित होती है। उसे आवृत्त होकर के निर्गुण ब्रह्म होता है। सबसे पहले अन्नमयकोश होता है उसके बाद प्राणमयकोश होता है उसके बाद मनोमय कोश होता है उसके बाद विज्ञानमय कोश होता है तथा उसके बाद आनन्दमयकोश होता है। इस प्रकार से आनन्दमय कोश के भी अन्दर होता है वह आत्मा होता है। इस प्रकार से उसे गुहातीत जानना चाहिए। गुहातीत का ज्ञान पञ्चकोशों के विवेक के ज्ञान के द्वारा होता है। इस प्रकार से यह आत्मा अन्नमयकोश नहीं होती है न ही प्राणमय कोश, न मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और न ही यह आनन्दमय कोश होती है। इस प्रकार से आत्मा तथा अनात्मा का विवेक करना चाहिए। इस प्रकार से पञ्चकोशों का भी अपवाद करके हेय तथा उपादेय रहित जो जाना जाता है वह ब्रह्म कहलाता है।

18.4.1) अन्नमय का आत्मत्व निराश

स्थूल देह अन्नमय कोश होता है। देह की वृद्धि तथा क्षय अन्न के विकारत्व के कारण ही होती

ध्यान दें:

है। पर वे दोनों आत्मा के नहीं होते है। इसलिए देह आत्मा नहीं है। देह जन्म से पहले नहीं होती है तथा मरण से बाद नहीं होती है। लेकिन आत्मा तो हमेशा होती है। अन्न के विकारत्व से अन्न का कार्य अन्नमय कोश में होता है। आत्म का तो कार्य तथा कारण दोनों ही नहीं होते हैं। इस प्रकार से क्षणिकत्वादि धर्म विशिष्ट अन्नमयकोश नित्यत्वादि धर्म लक्षित लक्षण आत्मा का नहीं होता है। जिसे पञ्चदशी में इस प्रकार से कहा है।

पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज्जातोन्नेनैव वर्धते।
देहः सोऽन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः॥ प.द. 3.3

शरीर के गुण क्षण क्षण में बदलते रहते हैं इसका कोई नियत एक निश्चित स्वभाव नहीं होता है। यह एक रूप के द्वारा व्यवस्थित नहीं होता है। एक ही जन्म में बाल्यकौमरादि अवस्थाओं में भी शरीर भिन्न भिन्न रूप में जाना जाता है। शरीर भिन्न होता है। उसकी अपेक्षा कुमार का शरीर भिन्न होता है। वृद्धावस्था में बाल्य तथा कौमार आदि अवस्थाओं से अत्यन्त ही भिन्न होता है। यौवन काल में शरीर सुन्दर तथा सुदृढ होता है। लेकिन वृद्धावस्था में शरीर सुन्दर नहीं होता है। और यौवन काल में जितना बल होता है उतना बल भी वृद्धावस्था में नहीं होता है। तब शरीर अत्यन्त दुर्बल होता है। इन अवस्थाओं में शरीर की वृद्धि भी होती है तथा क्षय भी होता है। इस प्रकार से आत्मा में नहीं होता है। आत्मा के अवयव नहीं होते है। इसलिए उसके गुण तथा दोष भी नहीं होते हैं। इसलिए ही उसके शरीर के समान वृद्धि तथा क्षय भी नहीं होते हैं। शरीर जड होता है तथा आत्मा तो चेतन होता है।

घटादियों का आँखों के द्वारा दर्शन त्वचा से स्पर्श होता है। इसी प्रकार से शरीर का भी दर्शन तथा स्पर्श होता है। आत्मा को आँखों के द्वारा उसके रूप के अभाव के कारण देखा नहीं जा सकता। क्योंकि चक्षु का विषय रूप होता है तथा त्वक् इन्द्रिय का विषय स्पर्श होता है। उसके अभाव से आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार से गन्धादि के अभाव के समान आत्मा में इन्द्रियों का प्रवेश नहीं होता है।

पादहस्तादि स्थूल शरीर के अवयव होते हैं। पाद आत्मा नहीं होती है क्योंकि पाद के अभाव में कोई जीवित रहता है। इसी प्रकार से हस्त के अभाव में भी कोई जीवित रहता है। इस प्रकार विकलाङ्ग जीते जो हमारे प्रत्यक्ष में है। इसलिए अवयवों में आत्मबुद्ध भ्रान्ति मात्र है। इनके द्वारा अपने कर्मो को करने में तथा शक्ति प्रदान करने में मूल तत्व आत्मा ही होती है। चेतनत्व होने से आत्मा शरीर तथा इन्द्रियों की नियामक होती है। शरीर नियम्य होने के कारण जड़ होता है। इस प्रकार से नियम्य तथा नियामक में भेद नहीं होता है। आत्मा पैर नहीं होती है अपित गमनार्थ शक्ति प्रदायिका होती है इसी प्रकार से आत्मा पाद की पाद तथा हाथ की हाथ होती है।

पाणिपादादिमान् देहो नात्मा व्यङ्ग्येपि जीवनात्।
तत्तच्छक्तेरनाशाच्च न नियम्यो नियामकः॥ वि.चू.158

देह धर्म देह के कर्म देह के सम्बन्ध और अवस्थाएँ इन सभी की साक्षी आत्मा होती है। जनन देह का धर्म होता है।मरण भी देह का धर्म होता है। बाल्ययौवनादि भी देह के धर्म होते हैं। गमनागमनादि भी देह के धर्म होते हैं। मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ इस प्रकार के व्यवहार देह के होते हैं। यहाँ अहं पद का अर्थ आत्म होता है। इस प्रकार से आत्मा स्थूल आत्मा कृश इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है। स्थूलत्वादि धर्म देह के ही होते हैं। वे अध्यासवश आत्मा में आरोपित होकर के व्यवहरित होते हैं। इन सभी का साक्षी आत्मा होता है। इसलिए इन सभी के साक्षित्व होने के कारण आत्मा देहादि से विलक्षण होती है।

देह आत्मा नहीं है यहाँ पर अन्य कारण है। देह अशुद्ध पदार्थ होता है। क्योंकि देह मांस में लिप्त

ध्यान दें:

तथा पुरीष से पूर्ण होता है। और स्वेददुर्गन्धादि से अत्यन्त ही अशुद्ध होता है। इन सबसे विलक्षण स्वयं में निर्मल आत्मा होती है। आत्मा कभी ही अशुद्ध होने योग्य नहीं है।

शल्यराशिर्मांसलिप्तो मलपूर्णोतिकश्मलः।
कथं भवेदयं वेत्ता स्वयमेतद्विलक्षणः॥ वि.चू.160

18.4.2) मूढ तथा अमूढ़ का वैलक्षण्य

मूढ कौन है? तथा अमूढ़ कौन है अथवा पण्डित कौन है इस प्रकार से विचार किया जाता है। त्वचा मांसादि सहित अशुद्ध शरीर को जो आत्मा मानता है वह मूढ होता है। अर्थात् जो शरीर मैं पन वाली तादात्म्य बुद्धि करता है वह मूढ़ होता है। यहाँ पर विचारशील पुरुष तो देहविलक्षण निर्मल परमार्थस्वरूप परमात्मा को ही अपने स्वरूप के रूप में जानता है। मैं दैह ही हूँ, इस प्रकार से मूढ़ चिन्तन करता है। पण्डित तो देह रूप में जीव में ही आत्मबुद्धि की कल्पना करता है। देह अर्थात् देहस्थित जीव। इसको शास्त्रजन्य कुछ परोक्ष ज्ञान भी होता है। लोक व्यवहारों में देह में तथा वैदिक व्यवहारों में स्वर्गादि में जीवों में अहंत्व बुद्धि की कल्पना की जाती है। शरीरविशिष्ट जीव होता है। इस प्रकार से इनकी मति है। विना शरीर के जीव तथा आत्मा और शरीर की स्थिति नहीं होती है यह उनका वाद है। न केवल जो आत्मा तथा अनात्मा के विवेक को जानने वाला विद्वान् होता है वह शरीरादिवलक्षण परमार्थ आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है।

यहाँ शङ्कराचार्य का यह उपदेश है कि स्थूल देह में इस प्रकार की आत्मबुद्धि का त्याग करके निर्विकल्प शुद्ध ब्रह्म में, मैं ब्रह्मा हूँ इस प्रकार की बुद्धि का सम्पादन करना चाहिए

आत्रात्मबुद्धिं त्यज मूढबुद्धे
त्वङ्मांसमेदोस्थिपुरीषराशौ।
सर्वात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे
कुरुष्व शान्तिं परमां भजस्व॥ व.चू. 163

18.4.3) प्राणमय कोश का आत्मत्वनिरास

देह में सर्वत्र व्याप्य वायु ही प्राणमय कोश है। वह जड होती है। आत्मा तो चेतन होता है इसलिए जडत्वधर्मविशिष्ट प्राणमयकोश आत्मा नहीं होती है। वायु का विकार होता है इसलिए वह प्राणमय है। वायु जैसे आती है वैसे ही जाती है। इस प्रकार से प्राण का आगमन उच्छ्वास तथा निर्गमन निच्छ्वास कहलाता है। यह क्रियावान् तथा परिच्छिन्न होता है। आत्मा निष्क्रिय तथा अपरिच्छिन्न होता है। यह प्राण अचेतन तथा परतन्त्र होता है। यह इष्ट अनिष्ट सुख तथा दुख को नहीं जानता है। प्राणमय काल मे यह निरुद्ध होता है। इसका निरुध्यमानत्व प्रसिद्ध है। प्राण सुषुप्ति में जागता है। यदि यह प्राण आत्मा होता तो सुषुप्ति काल में इसके जागने से चोरादि चोरी आदि कार्य नहीं कर सकते। चोरों के घर में प्रवेश करते ही वह प्राणात्मा जाना जाए। लेकिन इस प्रकार का अनुभव संसार मे नहीं है। इसलिए यह प्राण आत्मा नहीं होता है।

18.4.4) मनोमयकोश का आत्मत्व निरास

देहादियों में अभिमान का कारण जो होता है वह मन होता है। यह मन ही मनोमय कोश होता है। यह मैं हूँ यह मेरा है इस प्रकार का अभिमानी यह मनोमनय कोश होता है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं पण्डित हूँ, यह मेरा घर है, यह मेरा पुत्र है, इस प्रकार से यह अहंता तथा ममता करता है। वहाँ पर केवल अभिमान

ही कारण होता है। इस प्रकार से कामक्रोधादि भी मन के ही विकार होते हैं। आत्मा तो निर्विकार तथा निराभिमानी होता है। इसलिए यह मनोमयकोश आत्मा नहीं होता है।

ध्यान दें:

18.4.5) विज्ञानमयकोश का आत्मत्व निरास

सुषुप्ति में लय को प्राप्त करने वाले तथा जाग्रत में नखशिखापर्यन्त व्याप्य शरीर में जो बुद्धि है वह निश्चयात्मिका बुद्धि विज्ञानमय कोश कहलाती है। सुषुप्तिकाल में विज्ञानमय कोश का अस्त तथा फिर जाग्रत काल में उदय हो जाता है। विज्ञानमय कोश के उदय होने से तथा अस्त होने से यह आत्मा नहीं होता है। निश्चयात्मिका अन्त:करणवृत्ति ही बुद्धि होती है। संशयात्मिका अन्त: करणवृत्ति मन होता है। बुद्धि तथा मन दोनों ही अन्त: करण के ही अंश होते हैं। फिर किसलिए दो प्रकार कल्पित है इस प्रकार की आशङ्का नहीं करनी चाहिए। कर्तृत्व तथा करणत्व के भेद सद्भाव से यह दो प्रकार की होती है। मन करण होता है। बुद्धि कर्ता होती है। इस प्रकार से अन्तरिन्द्रिय अन्त: करण कर्तृरूप मे तथा करण रूप मे परिणित होता है। बुद्धि अन्दर होती है तथा मन उसकी अपेक्षा बाहर होता है यह भी भेद यहाँ पर वाच्य है। इसलिए दो कोशों का व्यवहार उत्पन्न होता है।

18.4.6) आनन्दमयकोश का आत्मत्व निरास

आनन्द आत्मा का स्वरूप होता है। उसी का ही भोग काल में कुछ अनुभव किया जाता है। पुण्य कर्मों के द्वारा फलों के अनुभव काल मे कुछ वृत्ति अन्तर्मुखी होने पर वह आनन्द को प्रतिबिम्ब कराने वाली होती है। वह ही फिर भोगान्तर निद्रारूप मे लीन हो जाती है। वह ही वृत्ति आनन्दमय कहलाती है। यह आनन्दमय कभी कौन होता है, कभी होता है तथा कभी नहीं होता है। कभी उसके अनित्यत्व का बोध होता है। नित्य तो हमेश एकरूप में ही रहता है। इसलिए अनित्यत्व से नित्य आत्मा होने योग्य नहीं है। बुद्धि आदि में जो आनन्द प्रतीत होता है अथव प्रतिबिम्ब के द्वारा अवस्थित होता है। उस आनन्दमय का कारणभूत जो आनन्द होता है वही आत्मा है। इसलिए सभी प्रकार के आनन्द का हेतु आत्मा ही है। यह ही आनन्द करवाता है इस प्रकार से श्रुतियों ने माना भी है। जो आनन्द प्रदान करता है वह प्रचुरानन्द होता है इस प्रकार से लोक में प्रसिद्ध भी है। जो अन्यों के लिए धन देता है वह अधिक धनवान होता उसीप्रकार। वहाँ पर दु:ख मन का होता है तथा धर्म तथा सुख आनन्दमय धर्म का होता है इस प्रकार से विवेचना करके जानना चाहिए

18.5) पञ्चकोशों से अतिरिक्त आत्मा

स्थूल शरीर से लेकर सुषुप्ति के आनन्द तक ज्ञान की कोई सीमा होती है। उसके बीच में कोई भी आत्मा विद्यमान नहीं होती है ऐसा कहा जा चुका है। तो फिर वह आत्मा क्या है यह चिन्तन का विषय है।

पञ्चकोश तथा उसके धर्म जाने जाते है। इसलिए वे ज्ञान के विषय होते है। जो ज्ञान के विषय होते हैं वह ज्ञान आत्मा कहलाता है। सबकुछ आत्मा के विषय होते हैं। इसलिए सभी आत्मा के द्वारा जाने जाते हैं। लेकिन आत्मा को कोई भी नहीं जानता है। न कोई उसका जानकार है। ये कहे गये पञ्च कोश के द्वार प्रकाशित होते हैं वह चैतन्य ही आत्मा कहलाता है।

परब्रह्म उपाधिवर्जित तथा शुद्ध होता है। जन्मवश रहित होता है। अज्ञान से अस्पृष्ट होता है। मायाकृत द्वैत से रहित होता है। उसका रूप नहीं होता है। गन्ध नहीं होती है। रस नहीं होता है। स्पर्श नहीं होता है। शब्द भी नहीं होता है। इसलिए उसका प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ग्रहण नहीं होता है। वह किसी

ध्यान दें:

भी प्रमाण का विषय नहीं होता है। तथा अप्रमेय होता है। इसका न आदि होता है न अन्त होता है। इसलिए यह आत्मा आदि तथा अन्त रहित होता है। आत्मा सर्वत्र सभी में होता है। इसलिए इसका त्याग नहीं किया जा सकता है। स्वयं का ही स्वरूप होता है इसलिए ब्रह्म हेयोपादेय रहित होता है। इसप्रकार की आत्मा के बोध के लिए पाँच कोश कल्पित किये गये है।

पाठगत प्रश्न- 18.3

1. कोशों में जीव किस प्रकार से तन्मय होता है?
2. गुहाहित क्या होता है?
3. हेयोपादेय रहित क्या होता है?
4. चक्षुष किसका विषय होता है?
5. शरीर तथा इन्द्रियों का नियामक कौन है?
6. शरीर में अहं इस प्रकार की तादात्म्य बुद्धि कौन करता है?
7. वायो विकार का क्या कोश होता है?
8. विज्ञानमय के समान ही उदय तथा अस्तमय कौन होता है?
9. संशायात्मिका अन्तः करणप्रवृत्ति क्या होती है?
10. सभी आनन्द का हेतु कौन है?
11. न तस्य अस्ति वेत्ता। यहाँ किसका वेत्ता नहीं होता है?

पाठ सार

पञ्चकोश विवेक इस पाठ का विषय है। पहले तो अध्यारोप क्या है तथा अपवाद क्या है इसका सुष्ठु विचार किया गया है। उनदोनों के विचारों के बिना पञ्चकोश विवेक नहीं किया जा सकता है। ब्रह्म के प्रतिपादन के लिए पञ्चकोशों की कल्पना की गई है। ब्रह्म निरूपाधिक निर्गुण तथा निर्धर्मक होता है। इस प्रकार के ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। इसलिए निर्गुण के प्रतिपादन के लिए सगुण का प्रतिपादन अपेक्षित है। इसीप्रकार निरूपाधिक के प्रतिपादन के लिए सोपाधिक का प्रतिपादन अपेक्षित है। सोपाधिक ब्रह्म के ज्ञान के द्वारा निरूपाधिक दुर्विज्ञेय ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है इस कारण से पञ्चकोश कल्पित किये गये हैं। वो इस प्रकार से अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश, तथा आनन्दमयकोश। वहाँ पर एक एक कोश का लक्षण पहले कहा जा चुका है। तथा प्रत्येक का विस्तार पूर्वक वर्णन किया जा चुका है। किसी कोश का जाग्रत अवस्था में प्राधान्य है तो कोई कोश किस अवस्था मे प्राधान्य है इस प्रकार का विचार किया गया है। इस प्रकार से उपर से लेकर के एक-एक कोश आत्मव्यतिरिक्त होता है। इस प्रकार से आत्मा तथा अनात्म का विवेक प्रदर्शित किया गया है। शरीर का नाश सम्भव होने से अविनाशी आत्मा नहीं होता है ऐसा कहकर अन्नमय का आत्मत्व में निरास किया गया है। प्राण क्रियावान होता है। इसलिए निष्क्रिय आत्मा प्राणमय कोश न ही होता है इस प्रकार से उसका निरास किया गया है। कामक्रोधादि मन के विकार होते हैं। इसलिए निर्विकारी आत्मा का मनोमय कोश कभी भी नहीं होता है ऐसा कहकर के मनोमय कोश से भी आत्मा का निरास किया गया है। विज्ञानमय के समान ही उदय तथा अस्तमय आत्मा नहीं होती है ऐसा कहकर विज्ञानमय कोश

पाठ-18

पञ्चकोश विवेक

ध्यान दें:

का आत्मत्व निरास किया गया है। अन्त मे आनन्दमय कोश आत्मा नहीं है इस प्रकार से प्रतिपादित किया गया है। आनन्दमय कोश अनित्यत्व से युक्त होता है। तथा आत्मा अनित्य होती है। पाठ के अन्त में पञ्चकोश के अतिरिक्त आत्मा का भी स्वरूप प्रदर्शित किया गया है।

आपने क्या सीखा

- अध्यारोप के स्वरूप को जाना,
- अपवाद तात्पर्य को जाना,
- आत्मा तथा अनात्मा का विवेक ज्ञान प्राप्त किया।
- कोश कितने होते हैं यह जाना,
- अन्नमयादि कोशों के लक्षणों को जाना।
- ब्रह्म के सोपाधिक तथा निरुपाधिक भेदों को जाना।
- अरुन्धती नक्षत्र द्वारा ब्रह्म के प्रतिपादन को समझा।

पाठान्त प्रश्न

1. अध्यारोप तथा अपवाद के द्वारा निष्प्रपञ्च क्या होता है?
2. पञ्चकोशों के स्वरूप का वर्णन कीजिए।
3. अरुन्धतीनक्षत्रनिदर्श का वर्णन कीजिए।
4. अन्नमय कोश का अनात्मत्व का प्रतिपादन कीजिए।
5. प्राणमय कोश के अनात्मत्व का प्रतिपादन कीजिए।
6. विज्ञानमय कोश के आत्मत्व का निरास कीजिए।
7. आनन्दमय कोश के आत्मत्व का निरास कीजिए।
8. आत्मा के पाँच कोश के अतिरिक्त प्रबन्ध की रचना कीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 18.1

1. जीवात्मा का तथा परमात्मा का एक्य
2. आगमशास्त्र
3. ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या
4. निष्प्रपञ्च
5. वस्तु में अवस्तु का आरोप
6. रज्जु
7. ब्रह्म
8. अज्ञानादिसकलजडसमूह

9. अज्ञान अनिर्वचनीय त्रिगुणात्मक तथा ज्ञाननिवर्त्यक होता है
10. वस्तुविवर्त अवस्तु का वस्तुमात्रत्वावधारणम् अपवाद कहलाता है।
11. ब्रह्मज्ञान में
12. अरुन्धती नक्षत्र न्याय

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 18.2

1. पाँच
2. अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश, आनन्दमयकोश,।
3. अन्नमय
4. हृदय देश में
5. आत्मा
6. प्राण
7. विश्व का व्यष्टिस्थूलशरीर अन्नमयकोश होता है।
8. पाँच प्राण कर्मेन्द्रियों के सहित प्राणमयकोश होता है।
9. ज्ञानेन्द्रियों के साथ मन को मिलाकर के मनोमय कोश होता है
10. बुद्धिज्ञानेन्द्रियों के सहित विज्ञानमयकोश होता है।
11. अविद्यापरिणामरूपा वृत्ति आनन्दमय कोश होती है।
12. कोशवदाच्छादकत्व से कोश इस प्रकार के नाम का प्रयोग होता है।
13. जीव
14. पाँच
15. छः
16. मन
17. अविद्या का
18. संसार
19. बन्ध तथा मोक्ष का
20. मन
21. मन
22. मन
23. बुद्धि
24. विज्ञानमयकोश

ध्यान दें:

ध्यान दें:

25. बुद्धि
26. उपाधि के द्वारा
27. तीन
28. सत्त्वगुण रजोगुण तथा तमोगुण
29. प्रियं मोद तथा प्रमोद
30. प्रियम्
31. इष्ट वस्तु लाभ होने पर
32. सुषुप्ति में

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 18.3

1. तादात्म्याध्यासात्
2. ब्रह्म
3. ब्रह्म
4. रूप
5. आत्मा
6. मूढ
7. प्राणमय
8. आत्म का
9. मन
10. आत्मा
11. आत्म का

19

महावाक्य तात्पर्य विचार

ध्यान दें:

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष ये चार पुरुषार्थ होते है। इनमें परमपुरुषार्थ मोक्ष है। मोक्ष तथा उसके उपायों का ज्ञान अलौकिक उपयों के द्वारा ही होता है। वहाँ पर ज्ञान में परमप्रमाण वेद ही होते हैं। ऋग्यजुसामार्थव भेद से वेद चार प्रकार के होते हैं। इन वेदों के द्वारा ही मोक्ष को जाना जाता है। वह मोक्ष तथा ब्रह्म के ऐक्य के ज्ञान होने पर ही सम्भव होता है उसके अलावा ओर कोई प्रकार नहीं है। यह एक्य का ज्ञान वेदों के द्वारा ही होता है। उस प्रकार का एक्य चार प्रकार के वाक्यों के द्वारा ही प्रतिपादित होता है। वो चार वाक्य महावाक्य कहलाते है। चारों वेदों मे चार महावाक्य है ऋग्वेद में "प्रज्ञानं ब्रह्म" (3/1/3) तब यह महावाक्य है। यजुर्वेद में "अहं ब्रह्मास्मि" (1/4/10) महावाक्य हैं। सामवेदे "तत्त्वमसि" यह महावाक्य है तथा अथर्ववेदे "अयमात्मा ब्रह्म" यह महावाक्यं सुशोभित है। इस पाठ में ऋग्वेदीय तथा यजुर्वेदीय महावाक्यों का विचार किया जा रहा है।

उद्देश्य

इस पाठ को पढ़कर के आप सक्षम होंगे;

- वेदान्तों का गुह्यतत्व क्या है यह जानने में;
- ब्रह्म शब्द का क्या अर्थ है यह जानने में;
- मन किस प्रकार से इन्द्रिय होता है इसका परिचय प्राप्त करने में;
- शब्द किस प्रकार से अपरोक्ष का जनक होता है जानने में;
- ब्रह्म को जानने वाला गुरु किस प्रकार का होता है इस बारे में जानने में;
- तात्पर्य निर्णय के लिए छ: प्रकार के लिङ्गों को जानने में;
- अज्ञान किस प्रकार होता है जानने में;
- बृहदारण्योकपिनिषद् में क्या महावाक्य है जानने में;

पाठ-19

महावाक्य तात्पर्य विचार

ध्यान दें:

19.1) पाठविमर्श

ब्रह्म ही सभी वेदान्तों का तात्पर्य है। वेदान्त उपनिषद् को कहते है। वेदान्त को अन्तिम निष्कर्ष रूप सिद्धान्त जहाँ होता है वह वेदान्त नाम से जाना जाता है। उपनिषद् इस शब्द का रहस्य यह अर्थ है। उपनिषद् अध्यात्मविद्या के रहस्य का प्रतिपादन करते हैं। और उपनिषद् शब्द का प्रसिद्ध अर्थ है ब्रह्मविद्या। यह अर्थ इस प्रकार से उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति के द्वारा प्राप्त होता है। सद् धातु के तीन अर्थ होते है। सबसे प्रथम विशरण इसे विनाश भी कहते है। दूसरा है गति इसका ज्ञान (विद्या) अर्थ होता है। तीसरा है अवसाद इसका शैथिल्य अर्थ होता है। यहाँ पर सद् धातु का गति परक अर्थ स्वीकार करते है तो उपनिषद् शब्द का ब्रह्मविद्या यह अर्थ होता है। उप इस उपसर्ग से सामीप्य को समझा जाता है। उस उपनिषद् से समीप आत्मा सूचित होती है। नि अर्थात् निश्चय रूप से जो विद्या ब्रह्म की जीवात्मा को प्राप्ति करवाती है वह ब्रह्मविद्या। इसलिए शङ्कराचार्य ने कठोपनिषद् के भाष्य में कहा की **"पूर्वोक्तविशेषणान्मुमुक्षून् वा परं ब्रह्म गमयति इति ब्रह्मगमयितृत्वेन योगात् ब्रह्मविद्या उपनिषत्"** इति। दश उपनिषद् प्रसिद्ध है ईशोपनिषत्,केनोपनिषत्, कठोपनिषत्, प्रश्नोपनिषत्, मुण्डकोपनिषत्, माण्डूक्योपनिषत्, तैत्तिरीयोपनिषत्,ऐतरेयोपनिषत्,छान्दोग्योपनिषत् तथा बृहदारण्यकोपनिषत्। जिसमें ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद् में "प्रज्ञानं ब्रह्म" (3/1/3) इस प्रकार का महावाक्य है। महावाक्य से तात्पर्य है अखण्डार्थ प्रतिपादक वाक्य। जीव तथा ब्रह्म का अभेदार्थ जिन उपनिषदों के द्वारा सूचित होता है वे महावाक्य कहलाते है। महान् अर्थ का प्रतिपादन करने से महावाक्य कहलाते हैं। जीव तथा ब्रह्म में अभेदार्थ ही यहाँ पर महान् अर्थ है। वाक्यों के तात्पर्य के निर्णय के लिए मीमांसाशास्त्र में छः प्रकार के तात्पर्यग्राहकलिङ्गों का प्रयोग किया है। उन तात्पर्य ग्राहकलिङ्गों के द्वारा ही वेदान्तवाक्यों के तात्पर्य का ग्रहण होता है। इस महावाक्यों के तात्पर्य के लिए तात्पर्यलिङ्गों का सबसे पहले विचार किया जा रहा है।

19.2) लिङ्गों का परिचय

उपक्रम संहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद तथा उपपत्ति इस प्रकार से ये लिङ्ग होते है। आदि में जो कहा गया है अन्त में भी उसका कथन उपक्रम तथा उपसंहार कहलाता है। आदि में तथा अन्त में एक ही विषय कहा गया है इस प्रकार से एक ही वह एक विषय कहलाता है तो वह ही प्रकार का प्रतिपाद्य विषय होता है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् में पिता उद्दालक पुत्र श्वेतकेतु से कहता है कि **"सदेव सोम्य इदम् अग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्"** (6/2/1) इति। **(वह ही सोम्य सबसे पहले था तथा एक ही अद्वितीय है)** इस प्रकार से आरम्भ में ब्रह्म का उपक्रम कहकर अन्त में जो **"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो"** (6/8/7) इति। इस प्रकार से उसका अन्त में उपसंहार किया गया है।

दूसरा लिङ्ग है अभ्यास। प्रकरण में प्रतिपाद्य विषय बार बार प्रतिपादन करना अभ्यास कहलाता है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में **"तत्त्वमसि"** इस वाक्य को नौ बार पढ़ा गया है। ब्रह्म ही प्रतिपाद्य वस्तु है इस प्रकार से सूचित करने के लिए ही नौ बार कथन किया गया है।

तृतीय लिङ्ग है अपूर्वता। प्रकरण में जिस वस्तु का प्रतिपादन किया जाता है उसी वस्तु का प्रमाणान्तर से अविषयीकरण करना अपूर्वता कहलाता है। जैसे- बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है- **"तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि"** (3/9/26) इति। (उस उपनिषद के द्वारा प्रतिपाद्य पुरुष के विषय में पूछ रहा हूँ) यहाँ इसप्रकार की श्रुतियों के द्वारा उपनिषद् मात्रवेद्यत्व प्रतिपादन से ब्रह्म का अपूर्वत्व कहा गया है।

ध्यान दें:

चौंथा लिङ्ग है फल। प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय जिन स्थलों में होता है उन स्थलों में श्रूयमाण प्रयोजन फल कहलाता है। जैसे- छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में कहा गया है **"आचार्यवान् पुरुषो वेद, तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये"** (6/14/2) इति। इस श्रुति में अद्वितीय ब्रह्मज्ञान का अद्वितीय ब्रह्मप्राप्ति परक ही फल बताया है। इस प्रकार से **"ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति"** (मुण्डकोपनिषत् 3.2.9) **"तरति शोकम् आत्मवित्"** (छान्दोग्योपनिषत् 7.1.3)। इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व का फल कहा गया है।

पाँचवां लिङ्ग है अर्थवाद। प्रकरण में प्रतिपाद्य वस्तु की प्रतिपाद्य स्थल मे प्रशंसा करना अर्थवाद कहलाता है। जैस छान्दोग्योपनिषद में कहा गया है - **"उत तमादेशम् अप्राक्ष्यः येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्"** (6/1/3)। इस श्रुति में अद्वितीय ब्रह्म की प्रशंसा की गई है।

छठा लिङ्ग है उपपत्ति प्रकरण में जिन स्थालों में जो अर्थ प्रतिपादित किया गया है उन स्थलों में उस अर्थ के साधन मे श्रूयमाण युक्ति उत्पत्ति कहलाती है। प्रपञ्चरूप कार्य का मूल कारण ब्रह्म होता है। इसलिए ब्रह्म के बिना प्रपञ्च की अतिरिक्त कोई भी सत्ता नहीं है इस प्रकार से उपनिषद् में मृत्तिका आदि दृष्टान्तों के द्वारा कहा गया है। भले ही अज्ञानवश पदार्थों की नाना रूपों के द्वारा प्रतीति होती है। फिर भी सब कुछ यह अद्वितीय एक ब्रह्म ही उपनिषद् में कहा गया है। अद्वितीयवस्तु ब्रह्म के साधन में विकारार्थ पद की वाङ्मात्रत्व विषय में युक्ति है - यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छान्दोग्योपनिषत् 6.1.4) इस श्रुति का अर्थ मृत्पिण्ड के द्वारा निर्मित घटादि होते हैं। ये घटादि वस्तुतः मृत्तिका ही होते हैं। फिर भी गृह घटादि शब्दों के द्वारा कहे जाते हैं। वहाँ केवल मृत्तिका ही सत्य है।

19.3) प्रज्ञानं ब्रह्म

यह सबकुछ ब्रह्म ही है। तथा ये सब नाम भी ब्रह्म के ही है। इसलिए ऐतरेयोपनिषद् में कहा है **"एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानि इतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिजानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम्। प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म"** (3/1/1) इति।

ब्रह्म का यह जगत विवर्तरूप है। इसलिए तत्वतः इसे अन्यथा प्रथा विवर्त कहा जाता है। जो दो सत्ता आपस में भिन्न होती है उनमें विवर्त भाव होता है। जैस ब्रह्म की पारमार्थिकी सत्ता तथा जगत की व्यावहारिकी सत्ता। इसलिए ब्रह्म का विवर्तरूप ही यह जगत होता है । सिद्धान्तलेश सङ्ग्रह में कहा गया है कि **"ब्रह्म का उपादानत्व अद्विती यकूटस्थ चैतन्य स्वरूप के परमाणुओं की तरह ही आरम्भकत्व रूप वाले होते हैं, न की प्रकृति के समान परिणामित्व रूप वाले होते हैं। लेकिन अविद्या के द्वारा विद्यादि प्रपञ्च रूप से विवर्त मानत्व लक्षण इनका हो जाता है। वस्तुतः तत्समसत्ता का अन्यथाभाव परिणाम होता है। इसलिए वह तदसमसत्ता विवर्त इस प्रकार से कहलाता है। कारणसलक्षण अन्यथा भाव तथा परिणाम जो होते हैं इनसे विलक्षण विवर्त होता है। कारणभिन्न कार्य का परिणाम होता है। उसके भेद के बिना ही उसके अतिरिक्त दुवर्चनीय कार्य विवर्त कहलाता है, इस प्रकार से यह विवर्त तथा परिणाम में विवेक होता है।"** सभी शरीरों में स्थित प्राण प्रज्ञारूपी आत्मा होती है। सबसे पहले शरीर प्रजापति तथा आत्मा उत्पन्न हुई है। इन्द्र अग्नि आदि सभी देव ब्रह्म के ही विवर्त रूप होते है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, तथा आकाश ये सभी पञ्चमहाभूत उससे ही उत्पन्न होते हैं। क्षुद्रजीवों के साथ उनके कारण सर्पादि बीज, अण्डों से पक्षी आदि, जरायु से

ध्यान दें:

मनुष्य आदि उत्पन्न हुए, स्वेद से जूं मच्छरादि उत्पन्न हुए, तथा उद्भिज वृक्षादि, और अश्व गायें हाथी आदि ब्रह्म से उत्पन्न हुए है। यह सब उस प्रज्ञा के ही नेत्र हैं क्योंकि प्रज्ञा के द्वारा ही इनको ले जाया जाता है। यहाँ पर शङ्कराचार्य ने यह कहा हैं कि "सब कुछ उस ब्रह्मरूपी प्रज्ञा का ही नेत्र है। प्रज्ञप्ति प्रज्ञा है और वह ब्रह्म ही है जिसके द्वारा ले जाया जाता है वह नेत्र होता है। प्रज्ञानब्रह्म में उत्पत्ति स्थिति तथा लय कालों में प्रतिष्ठित प्रज्ञा अर्थ होता है। यह प्रज्ञानेत्र रूप पूर्ववत् होता है। यह लोक प्रज्ञा चक्षु है तथा इस जगत की प्रतिष्ठा प्रज्ञा ही है। इसलिए वह प्रज्ञान ब्रह्म होता है। " सङ्कल्पविकल्पात्मक अन्त:करण चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा निकलकर के घटादिविषय देश की और जाकर के घटादिविषयाकार के द्वारा जब परिणमित होता है तब वह परिणामविशेष वेदान्त वृत्ति कहलाती है।

19.3.1) प्रज्ञानशब्दार्थ

पुरुष चक्षु द्वारा निर्गत जिस अन्त:करणवृत्त्युपहित चैतन्य से दर्शन योग्य रूपादि को देखता है, वैसे ही श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा निर्गत जिस अन्त: करणवृत्युपहित चैतन्य से शब्दों का श्रवण होता है। वाक् इन्द्रिय के द्वारा निर्गत जिस अन्त:करणवृत्युपहित चैतन्य से शब्दों का व्यवहार होता है। घ्राणेन्द्रिय के द्वारा निर्गत जिस अन्त:करणवृत्युपहितचैतन्य के द्वारा गन्धसमूहों को सूँघता है। रसनेन्द्रिय के द्वारा निर्गत जिस अन्त:करणवृत्युपहित चैतन्य से स्वाद तथा अस्वाद का ज्ञान होता है। उसी प्रकार यहाँ उक्त तथा अनुक्त समस्त इन्द्रिय अन्त:करणवृत्तिभेद के द्वारा उपलक्षित चैतन्य ही प्रज्ञान होता है। इसलिए पञ्चदशीकार विद्यारण्यस्वामी ने महावाक्यविवेक प्रकरण में कहा है कि-

"येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च।
स्वाद्वस्वादू च विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम्॥" (5/1) इति।

इस बात को कौषीतकी उपनिषद् में भी कहा है।

प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामानि आप्नोति।
प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य चक्षुषा सर्वाणि रूपाणि आप्नोति" (3/6) इति।

बृहदारण्यकोपनिषद मे कहा गया है कि "मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति हृदयेन हि रूपाणि जानाति" (1/5/3) यहाँ पर मन आदि शब्द के द्वारा चैतन्य रूप प्रज्ञान को ही कहा है। मनादि प्रज्ञान के नामधेय होते है। इसलिए यह ऐतरेय उपनिषद में कहा गया है- "यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः सङ्कल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति" (3/1/2) इति।

19.3.2) ब्रह्मशब्दार्थ

इस प्रकार से प्रज्ञान शब्द का अर्थ कहकर के विद्यारण्य स्वामी ने पञ्चदशी मे ब्रह्म शब्द का अर्थ इस प्रकार से कहा है-

"चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु।
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्ममय्यपि॥" (5/2) इति।

जगत का जन्म स्थिति तथ लय का कारण जो चैतन्य उत्तमदेवादि, मध्यम मनुष्यादि में तथा अधम अश्वादि में, पृथ्वी आदि में होता है वह ब्रह्म होता है। सभी में चैतन्य स्वरूप ब्रह्म ही अनुस्यूत होता है। सभी जगह अवस्थित प्रज्ञान ब्रह्म ही है। ब्रह्म के जगत् जन्मादिकारणत्व में श्रुति प्रमाण होती है। तैत्तिरीयो पनिषद् में इस विषय में यह श्रुति है की

ध्यान दें:

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति। " (3/1) इति।

इसलिए जाना जाता है कि जो ब्रह्म में जगत् जन्मादि कारणत्व होता है। यहाँ पर जगत् पद के द्वारा सभी कार्यजात विविक्षित होता है। अखिलकार्यजात का एक ही कारण अद्वितीय ब्रह्म है। कारणपद के द्वारा ब्रह्म में कर्तृत्व होता है इस प्रकार से यह कहा गया है। कार्य के प्रति जो उपादान कारण है उन कारणों का जिसमें अपरोक्ष ज्ञान होता है तथा कार्य करने की इच्छा एवं कार्य करणानुकूल प्रयत्न जिसमें होता है वह कर्ता है।

परमेश्वर ब्रह्म में यह सब है । इसलिए परमेश्वर ब्रह्म कर्तृत्व ही होता है।वेदान्तपरिभाषा में धर्मराजाध्वरीन्द्र के द्वारा कहा गया है। **"कर्तृत्वं च तत्तदुपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वम्"**। यहाँ पर ब्रह्म के नौ तटस्थलक्षण बताए है- (वेदान्त परिभाषा में कहा गया है- तटस्थलक्षणं तु यावल्लक्ष्यकालमनवस्थितत्वे सति यद्व्यावर्तकं तदेव यथा गन्धवत्त्वं पृथ्वीलक्षणम्" इति।) कह सकते हैं। वो लक्षण है

1. जगज्जन्मानुकूलापरोक्षज्ञानवत्त्व
2. जगत्स्थित्यनुकूलापरोक्षज्ञानवत्त्व
3. जगल्लयानुकूलापरोक्षज्ञानवत्त्व
4. जगज्जन्मानुकूलचिकीर्षावत्त्व
5. जगत्स्थित्यनुकूलचिकीर्षावत्त्व
6. जगल्लयानुकूलचिकीर्षावत्त्व
7. जगज्जन्मानुकूलप्रयत्नवत्त्व
8. जगत्स्थित्यनुकूलप्रयत्नवत्त्व
9. जगल्लयानुकूलप्रयत्नवत्त्व

इस प्रकार से ब्रह्म शब्दार्थ कहकर के यजुर्वेद के बृहदारण्यकोपनिषद् में महावाक्यों का विचार किया गया है।

19.4) अहं ब्रह्मास्मि

बृहदारण्यकोपनिषद् में इसको कहा गया है - "अहं ब्रह्मास्मि" (1/4/10)। विद्या प्राप्ति के लिए इष्टदेव की आराधना जिस प्रकार से की जाती है वैसे ही गुरु की आराधाना भी विद्या प्राप्ति के लिए की जाती है। यहाँ पर शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित अर्थ का यथार्थ विद्या का बोध होता है। उस प्रकार के यथार्थ बोध के लिए निर्विघ्न रूप से निष्ठापूर्वक शास्त्राध्ययन अपेक्षित है। निर्मल चित्तवाले पुरुष की ही शास्त्र में श्रद्धा होती है। इष्ट देव की कृपा के बिना चित्त कभी भी निर्मल नहीं होता है। केवल देव के अनुग्रह से कभी भी शास्त्र का यथार्थ ज्ञान नहीं होता है। यब तक गुरु की कृपा नहीं होती है। तब तक शास्त्र का यथार्थ ज्ञान नहीं होता है। इसलिए गुरु की आराधना करना चाहिए। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है की

"यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
तस्य ह्येते कथितार्थाः प्रकाश्यन्ते महात्मनः॥" (6/23) इति।

ध्यान दें:

पुराणकारों के द्वारा भी कहा गया है।

"गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य दाहकः।
उकारो विष्णुरव्यक्तस्त्रितयात्मा गुरुः परः॥" इति।

गुरु शब्द ब्रह्म वर्ण त्रयात्म होता है। गकार का का सिद्धिदातृत्व अर्थ है। रकार का पापदाहकत्व अर्थ है, उकार का पालकत्व अर्थ है। गुरु शिष्य का पापक्षालन करता है। शङ्कराचार्य के द्वारा उपदेशसाहसी में कहा गया है।

"विद्यया तारिताः स्मो यैर्जन्ममृत्युमहोदधिम्।
सर्वज्ञेभ्यो नमस्तेभ्यो गुरुभ्योऽज्ञानसङ्कुलम्॥
वेदान्तवाक्यपुष्पेभ्यो ज्ञानामृतमधूत्तमम्।
उज्जहारालिवैद्यो नस्तस्मै सद्गुरवे नमः॥" (203) इति।

गुरु श्रद्धावान् अन्तेवासी के हृदय में ज्ञान का दीपक जलाकर के अज्ञान का नाश करता है। जो अपनी बुद्धि के द्वारा परमात्मा को जानना चाहता है वह भी अज्ञान में ही डूबता रहता है। शास्त्रपारदर्शी को भी स्वतन्त्रता से ब्रह्मज्ञान का अन्वेषण स्वयं नहीं करना चाहिए। यहाँ पर केवल गुरु प्रदत्त ज्ञान ही अवधारणात्मक होता है। फिर गुरु के महात्म्य के विषय में कहा है ।

"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं तत्त्वं तस्मात् गुरुमुपाश्रयेत्" इति।

इसलिए गुरु के पास मे उपदेश प्राप्त करने के लिए शिष्य को गुरु की शरण ग्रहण करनी चाहिए। गुरु निर्मल चित्त शमदमादि सम्पन्न शिष्य के लिए ब्रह्म विद्या का उपदेश देता है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है। -

"तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥" (1/1/3) इति।

शमदमादि से तात्पर्य है शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान तथा श्रद्धा यह छः जब भूख अत्यन्त तीव्र होती है तब भोजन को छोड़कर के अन्य कुछ भी मन के अच्छा नहीं लगता है। भोजन में कुछ भी विलम्भ सहन नहीं कर सकता है। इस प्रकार से जब पूर्व संस्कारवश माला चन्दन भार्यपुत्र गृह क्षेत्र में जाने वाले मन को जिस अन्तःकरणनिवृत्ति विशेष के द्वारा निग्रहण किया जाता है उसी प्रकार का वृत्ति विशेष शम कहलाता है। फिर ज्ञानसाधन भिन्न शब्द स्पर्श रूपसरादि विषयों से श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियों का जिस वृत्ति विशेष के द्वारा निग्रहण किया जाता है। वह वृत्तिविशेष दम कहलाता है। शम तथा दम जिस पुरुष के द्वारा साध लिए जाते है। उस स्थितिप्रज्ञ पुरुष के पास में ब्रह्मज्ञानमार्ग खुल जाता है। इसलिए श्री मद्भगवद्गीता मे भगवान श्री कृष्ण ने कहा है-

"यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥" (2/48) इति।

उपरति से तात्पर्य है निगृहीतबाह्येन्द्रिय तथा मन का आत्मविषयक श्रवणादियों में स्थिरीकरण करना तथा विहित नित्यकर्मादियों विधि से परित्याग करना। यहाँ पर सर्वकर्मसन्यास ही इष्ट होता है। सभी और से निवृत्त चित्त पुरुष सुखदुःखशीतोष्णप्रेमघृणादि में, देहादियों में तथा अनात्मवस्तु युक्त धर्मों में उदासीन होता है। शीतोष्णद्वन्द्वसहिष्णुता ही तितिक्षा है। आत्मा के विषय में अनवरत चिन्तन ही समाधि अर्थात् समाधान है। गुरु के द्वारा जो उपदिष्ट वेदवाक्य है, उन वाक्यों में विश्वास ही श्रद्धा है। ब्रह्मविद् गुरु उस प्रकार के शिष्य के लिए तत्त्वमसि आदि वाक्यों का उपदेश करता है। इनमें श्रद्धा अवश्य होनी चाहिए। कारण यह है कि यदि श्रद्धा नहीं है तो कार्य की सफलता भी प्राप्त नहीं होती है। इसलिए ही भगवान्

ध्यान दें:

श्री कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है-

"अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥" (17/28) इति।

19.5) अहं आकार वृत्ति

उसके बाद शिष्य की मै नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त सत्य स्वभाव वाला परमानन्दाननताद्वयं ब्रह्म हूँ इस प्रकार की अखण्डाकार चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है। परमात्मा के रूप में मैं हमेशा ही विद्यमान हूँ इस प्रकार से शिष्य को अनुभव होता है। मेरा जन्म नहीं होता है, मेरा विनाश नहीं होता है, अज्ञान नहीं है, दुःखों का स्पर्श भी नहीं है, संसार में कुछ भी नानात्व नहीं है इस प्रकार से शिष्य को अपरोक्षानुभव होता है। कारण यह है कि ब्रह्म अपरोक्षस्वभाव वाला होता है। इसलिए बृहदारण्यकोपनिषद में भी कहा गया है। "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" (3/4/1) इति।इसलिए शिष्य का अनुभव अपरोक्ष ही होता है। अब संशय होता है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है। शब्द तो अपरोक्ष ज्ञान का जनक मात्र होता है। यदि शब्द प्रत्यक्ष ज्ञान का जनक होता तो 'पर्वत पर आग है ' इस वाक्य से अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न हो जाए। लेकिन इस वाक्य से अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है। इस प्रकार से संशय होने पर अद्वैतवादी कहते हैं की प्रत्यक्षज्ञान केवल इन्द्रिय निर्भर नहीं होता है अपितु वह विषय निर्भर होता है। इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं तो सुखदुःखादि जिस प्रकार से प्रत्यक्ष होता उसी प्रकार सुखदुःखादि की स्मृति भी प्रत्यक्ष होती है इस प्रकार से अङ्गीकार करना चाहिए। वायु रूप हीन होती है। इसलिए वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है। घट का रूप भी रूपहीन होता है। कारण यह है कि यदि रूप का रूप स्वीकार करें तो अनवस्थादोष हो जाएगा। घटरूप घटगतसंख्या चाक्षुष प्रत्यक्ष होती है। इस प्रकार स्वीकार किया गया है। इसलिए कौन-सी वस्तु प्रत्यक्ष होती है कौन-सी नहीं होती है। यहाँ पर वस्तु स्वभाव ही नियामक होता है। शब्द भी कुछ अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करने में सक्षम होता है। जैसे दस लोग नदी को पार करके उसके दूसरे तट पर पहुँच जाते हैं। हम लोग दस ही हैं क्या इसका निर्णय करने के लिए उनमें से कोई सभी की गणना करता है। लेकिन वह अपने को छोड़कर के नौ जनों को ही गिनता है। तब वह सोचता है कि अविशिष्ट दसवां व्यक्ति कहाँ पर है तब उनमें से ही कोई व्यक्ति कहता है कि दसवां तुम हो। तब उसको ज्ञान हो जाता है कि दशवां मैं ही हूँ। उसके बाद वे दस लोग आनन्द से जाते है। इस प्रकार से शब्द समूह भी अपरोक्ष ज्ञान का जनक होता है।

19.6) मन का अनिन्द्रियत्व

ब्रह्म इन्द्रियगोचर नहीं होता है। बृहदारण्योपकनिषद में कहा गया हैं कि ""मनसैवानुद्रष्टव्यम्" (4/4/1९) अर्थात् मन के के द्वारा ब्रह्म का दर्शन करना चाहिए। अन्नम्भट्ट ने तर्क संग्रह में कहा है कि "सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः" इस प्रकार से तथा श्रीमद्भगवद्गीता मे भी कहा गया है कि

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥" (15/7) इति।

इस श्रुति में इन्द्रियों से अलग मन का ग्रहण किया गया है। इन्द्रियों से भी विषय श्रेष्ठ होते हैं। और विषयों से मन श्रेष्ठ होता है। मन से बुद्धि श्रेष्ठ होती है तथा बुद्धि से महान् आत्मा श्रेष्ठ होती है। अनिन्द्रिय शमदमादि के संस्कृत से शुद्ध मन से ब्रह्म का प्रत्यक्ष होता है। इस शङ्कराचार्य के द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्य में कहा गया है कि **"शास्त्राचार्योपदेशजनितशमदमादिसंस्कृतं मनः आत्मदर्शने करणम्"** (2/21) इति।

ध्यान दें:

19.7) ब्रह्मज्ञान का अज्ञाननाशकत्व

अब कहते हैं कि अद्वैतवेदान्त में ब्रह्म निर्विशेष तथा निराकार होता है। और निराकार ब्रह्म का आकार धारण करना अयुक्त है। इस प्रकार से संशय होने पर समाधान बताते हैं कि अखण्डाकार चित्तवृत्ति यहाँ आकार शब्द के स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता है। और भी बहुत सारी वृत्तियाँ होती हैं। उन वृत्तियों के परस्पर भेद दर्शन के लिए आकार शब्द प्रयुक्त हुआ है। जो जिस विषय अज्ञान की निवर्तिका होती है वह वृत्ति तद्विषयाकार ही हो जाती है। जो वृत्ति घटविषयक अज्ञान का नाश करती है। वह वृत्ति घटाकार होती है। इसलिए यहाँ अखण्डाकारवृत्ति अखण्डब्रह्म के साथ सम्बन्धवश चित्त का परिणाम विशेष होती है। अखण्डाकार वृत्ति ही अखण्डब्रह्म गत अज्ञान का नाश करती है। वृत्ति जड होती है। इसलिए वृत्ति स्वयं अज्ञान का नाश नहीं कर सकती है। चैतन्यप्रतिबिम्मयुक्त वृत्ति होने पर ही वह अज्ञान का नाश करनें में समर्थ होती है। निर्मल अन्त: करण में जब चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। तब अन्त:करण प्रकाश होता हुआ अज्ञान का नाश करता है। वस्तुत: चैतन्य ही अज्ञान का नाशक होता है। लेकिन अज्ञान स्वयं ही नष्ट नहीं होता है। अपितु वृत्ति के माध्यम से ही अज्ञान का नाश होता है। जैसे सूर्य का आतप स्वयं तृणादि का नाशक नहीं होता है। सूर्यकान्तमणि में प्रतिफलित होता हुआ तृणादि का नाश करने में समर्थ होता है। इस समय संशय जड होती है चित्त प्रतिबिम्ब युक्त होने पर अज्ञान तथा अज्ञान के कार्य का नाश करती है। उसके बाद वह वृत्ति नष्ट हो जाती है। इसलिए वृत्ति के नाशकान्तर के अभाव से वृत्ति तो रुकती ही है। अत: मोक्ष की दशा में भी वृत्ति के विद्यमान होने पर भी एक ही अद्वितीय तत्व अनुपपन्न होता है। इस प्रकार से संशय होने पर समाधान कहा जाता है की पट का उपादान कारण तन्तु होते हैं। तन्तु के दग्ध होने पर तन्तुकार्य पट भी दग्ध हो जाता है। एक ही प्रपञ्चरूप अखिल कार्य का कारण अज्ञान नष्ट होता है तो अज्ञान के कार्यों का भी नाश हो जाता है। वृत्ति भी अज्ञान का कार्य ही होती है । इसलिए अज्ञान का नाश होने पर अज्ञान कार्य वृत्ति का भी नाश हो जाता है। जडपदार्थ के आकार से आकारित चित्तवृत्ति अखण्डवृत्ति के साथ भिदती है। जैसे यह घट है,यहाँ पर घटाकार चित्तवृत्ति अज्ञानविषयीभूत चैतन्य विषयीकृत होकर घटावच्छिन्न चैतन्यगत अज्ञान का नाश करके स्वगत चिदाभास से जड घट का प्रकाश करता है। इसलिए पञ्चदशी में कहा गया हैं कि

"बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येत् आभासेन घटः स्फुरेत्॥" (7/91) इति।

इस श्लोक का यह अर्थ है की बुद्धि तथा बुद्धिस्थ चैतन्यप्रतिबिम्ब दोनों घट में व्याप्त हो जाते हैं। वहाँ पर घटवृत्ति से घट रूपी अज्ञान का नाश होता है। फिर प्रतिबिम्ब के द्वारा घट प्रकाशित होता है। जैस दीपक प्रकाश में अन्धकार में विद्यमान घट विषयी कृत होकर घट का नाश करता है। उसी परम आलोक के द्वारा घट प्रकाशित होता है।

अब कहते हैं कि वृत्ति के नाश हो जाने पर वृत्तिजन्य चिदाभास तो रुकता ही है। अज्ञान के नष्ट हो जाने पर चैतन्य मात्र तो रूकता है। वह चैतन्य न तो कार्य होता है और ना ही कारण। इसलिए वह चैतन्य चिदाभास का नाश नहीं कर सकता है। इस प्रकार से अद्वैत की हानि होने पर वह नहीं होता है। अन्त में स्वाश्रित काष्ठखण्ड का नाश करके स्वयं भी नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार चिदाभास भी अखण्ड ब्रह्मगत अज्ञान का नाश करके अन्त में स्वयं भी निवृत्त हो जाता है। फिर उपाधि का नाश होता है तो प्रतिबिम्ब बिम्ब के रूप मे ही रहता है। जैसे दर्पण विनष्ट होता है तो दर्पणस्थ मुखप्रबिम्ब बिम्ब के साथ अभिन्न होता है। एक ही वृत्ति जब नष्ट होती है तो तब चैतन्य प्रतिबिम्ब बिम्बभूत चैतन्य के साथ अभिन्न होता है। बिम्बभूत चैतन्य का कभी भी नाश नहीं होता है। इसलिए ही सिद्धान्तलेश सङ्ग्रह में कहा गया है कि "अविनाशी वा अरे अयमात्मा इति श्रवणं जीवस्य तदुपाधिनिवृत्तौ प्रतिबिम्बभावापगमे अपि स्वरूपं

ध्यान दें:

न विनश्यति इत्येतत्परं न तदतिरिक्तकूटस्थनामचैतन्यान्तरपरम्" इस प्रकार से प्रतिबिम्ब की बिम्ब के अनुसार कोई भी सत्ता नहीं होती है। इसलिए अद्वैततत्व उपपन्न होता है। यहाँ पर यह जानना चाहिए की चिदाभास चैतन्यस्वरूप ब्रह्म प्रकाश करने में समर्थ नहीं है। जैसे दीप की की प्रभा सूर्य की प्रभा को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं है। ब्रह्म स्वयं प्रकाशमान होता है। इसलिए ब्रह्म का प्रकाश करने के लिए चिदाभास का उपायोग नहीं होता है। इसलिए विद्यारण्य स्वामी नें पञ्चदशी में कहा है।

"ब्रह्मणि अज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।
स्वयंस्फुरणमात्रत्वान्नाभास उपयुज्यते॥" (7/92) इति।

ब्रह्म ही सब को प्रकाशित करता है। इसलिए मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है।

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥" (2/2/10) इति।

जो सूर्य सभी को प्रकाशित करता है। वह सूर्य भी ब्रह्म में प्रकाशित नहीं होता है। अर्थात् वह सूर्य ब्रह्म को प्रकाशित नहीं कर सकता है। अपितु ब्रह्म का प्रकाश ही सूर्यादि सभी को प्रकाशित करता है। उसी के ही प्रकाश से सभी प्रकाशमान होते हैं। ब्रह्म ही यहाँ अहं पद के द्वारा परिलक्षित होता है। विद्यारण्य स्वामी के द्वारा पञ्चदशी में कहा गया है।

"परिपूर्णः परमात्मास्मिन् देहे विद्याधिकारिणि।
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते॥"
स्वतःपूर्णः परमात्मात्र ब्रह्मशब्देन निगदितः।
अस्मीत्यैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम्॥" (5/3,4) इति।

इन दोनों श्लोंको के अर्थ के अनुसार तो देश काल तथा वस्तु से अपरिच्छिन्न आत्मा होता है। उस प्रकार का सभी जगह पर ही व्याप्त परमात्मा माया कल्पित इस जगत में विद्या लाभ योग्य श्रवणमनन निदिध्यासना अनुष्ठित मनुष्यादि शरीरों में साक्षी के रूप में स्थित होकर के हमेशा प्रकाशमान होता हुआ रुकता है। उक्त श्लोक के द्वारा सूक्ष्म शरीर को कहा गया है। **"अहं ब्रह्मास्मि"** (बृहदारण्यकोपनिषत्-1/4/10) यहाँ पर अस्मि इस पद से जीव तथा ब्रह्म के एक्य को सूचित किया गया है।

पाठगत प्रश्न 19.1

1. ऋग्वेद का महावाक्य कौन-सा है?
2. यजुर्वेद का महावाक्य कौन-सा है?
3. छः प्रकार के लिङ्ग कौन-कौन है?
4. मन तथा इन्द्रियों की यहाँ पर कौन-सी श्रुति है?
5. अर्थवाद किसे कहते हैं?
6. महावाक्य किसे कहते हैं?
7. अरोक्ष स्वभाव वाल ब्रह्म होता है यहाँ पर क्या श्रुति है?
8. उपनिषद् इस शब्द का क्या अर्थ है?
9. देश काल वस्तु के द्वारा क्या परिच्छिन्न नहीं होता है?

पाठ-19

महावाक्य तात्पर्य विचार

ध्यान दें:

पाठ सार

सभी उपनिषदों का ब्रह्म में ही तात्पर्य होता है। जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादन ही वेदान्त का विषय है। सब कुछ यह ब्रह्म ही होता है समस्त संसार इसी से ही उत्पन्न हुआ है। इस जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से ही होती है। जगत की स्थिति ब्रह्म में ही होती है। जगत का लय भी ब्रह्म में ही होता है। पुरुषार्थ चार होते हैं। उनमें परमपुरुषार्थ मोक्ष होता है। उपनिषद् प्रतिपाद्य मोक्ष स्वरूप ब्रह्म ही होता है। प्रसिद्ध उपनिषदों के मध्य ऋग्वेद के ऐतरेयोपनिषद में "प्रज्ञानं ब्रह्म" इस प्रकार का महावाक्य है। प्रज्ञान शब्द से यहाँ पर चैतन्य को कहा गया है। वह चैतन्य ही सभी जगह अनुस्यूत रहता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में "अहं ब्रह्मास्मि" यह महावाक्य है। महावाक्य जीव तथा ब्रह्म का एक्य प्रतिपादित करते है। निर्विशेष निरवयव प्रकाशस्वरूप ब्रह्म ही होता है। ब्रह्म का ही प्रकाश सभी को प्रकाशित करता है। सूर्य तथा चन्द्र भी ब्रह्म से ही प्रकाशित होते हैं। वह ब्रह्म हम सभी के द्वारा प्राप्तव्य है। इसलिए ब्रह्म प्राप्ति के लिए ब्रह्मज्ञ गुरु के पास जाना चाहिए। कारण यह है की गुरु ही अज्ञान का नाश करता है। विद्या प्राप्ति के लिए जिस प्रकार से इष्टदेव की आराधना की जाती है,उसी प्रकार गुरु की आराधना भी विद्या प्राप्ति के लिए की जाती है। विद्या के द्वारा अमृत की प्राप्ति होती है। अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति होती है। अद्वैत में मुक्ति दो प्रकार की होती है। जीवन्मुक्ति तथा विदेह मुक्ति। अखण्ड ब्रह्मज्ञान के द्वारा ब्रह्मविषयक अज्ञान का नाश होता है। तब ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर अज्ञानादिकार्य प्रपञ्चादि संशय विपर्यय आदि का बोध होता है। उसके बाद पुरुष सर्वबन्धनरहित होता हुआ ब्रह्मनिष्ठ जीवन्मुक्त हो जाता है। इस प्रकार से मुण्डकोपनिषद् में भी कहा गया है।

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।" (2/2/9) इति।

अविद्या तथा वासनामय जो काम होते है। उन कामों के ज्ञेय विषय में विद्यमान संशयों का नाश ब्रह्मनिष्ठ पुरुष का होता है। फिर उस जीवन्मुक्त पुरुष की ज्ञानोत्पत्ति के लिए पूर्व में जो कर्म किये हैं जन्मान्तरों में जो कर्म फल देने में अप्रवृत्त होते हैं, उनके कर्मों का नाश होता है। वह जीवन्मुक्त पुरुष इच्छा के द्वारा अनिच्छा के द्वारा,परेच्छा के द्वारा प्रारब्धकर्मों के फलों का अनुभव करता है। जब प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाता है तब आनन्दस्वरूप परब्रह्म में उसके प्राणों का लय हो जाता है। उसके बाद उस पुरुष के भेदज्ञानशून्य होने पर परमकैवल्यरूप अखण्डब्रह्म में अवस्थान होता है। यह ही विदेह मुक्ति कहलाती है। इस प्रकार से हमें अज्ञान का नाश करना चाहिए। अज्ञान सत् तथा असत् के द्वारा अनिर्वचनीय होता है। और अज्ञान ज्ञानविरोधि सत्त्वरजतमगुणात्मक होता है। जब उस अज्ञान का नाश होता है उसी क्षण में ब्रह्मज्ञान होता है। जब चित्त निर्मल हो जाता है तब उस प्रकार का शुद्ध चित्त ब्रह्मज्ञान के प्रति कारण होता है।ब्रह्म अखण्ड होता है। खण्ड भेद को कहते हैं। भेद तीन प्रकार का होता है। स्वगत सजातीय तथा विजातीय। स्वयं आत्मा से प्राप्त भेद स्वगत भेद होता है। वृक्ष के साथ वृक्ष का जो भेद होता है वह सजातीय भेद होता है। वृक्ष के साथ शिलादि का जो भेद होता है वह विजातीय भेद कहलाता है। इस प्रकार से भेदत्रय रहित ब्रह्म होता है। वह ब्रह्म साक्षीहोता हुआ विराजमान रहता है। गुरु जब तत्वसि इस वाक्य का उपदेश करता है तब शुद्धचित्त शिष्य की अखण्डाकार चित्तवृत्ति का उदय होता है। वह चित्तवृत्ति अखण्डब्रह्मगत अज्ञान का नाश करके अन्त में स्वयं भी नष्ट हो जाती है। जैस अग्नि सभी का नाश करके अन्त में स्वयं भी उपशान्त हो जाती है।अर्थात् अखण्ड ब्रह्म में ही सबकुछ पर्यवसित होता है।

आपने क्या सीखा

1. अज्ञान का नाशक गुरु होता है।

2. अद्वितीय ब्रह्मज्ञान का अद्वितीयब्रह्म की प्राप्ति ही फल है।

3. महावाक्य जीव तथा ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन करते हैं।
4. ब्रह्म के नौ तटस्थ लक्षण कौन-कौन से है?
5. अज्ञान के नाश के लिए ब्रह्म में वृत्तिव्याप्ति अपेक्षिता है।
6. प्रतिबिम्ब के बिम्ब को छोडकर और कोई भी सत्ता नहीं हैं।
7. ब्रह्म स्वयं प्रकाश रूप होता है।
8. सभी उपनिषदों का जीव तथा ब्रह्म ऐक्य प्रतिपादित ही तात्पर्य है।
9. ब्रह्म में ही जगत की उत्पत्तिलय संभव है।

पाठान्त प्रश्न

1. "प्रज्ञानं ब्रह्म" यहाँ पर प्रज्ञान शब्द के अर्थ का प्रतिपादन कीजिए।
2. "अहं ब्रह्मास्मि" यहाँ पर अहं पद के अर्थ का आलोचन कीजिए।
3. मन इन्द्रिय होता है इसके पूर्वपक्ष का उपस्थापन कीजिए।
4. गुरु के महात्म्य का वर्णन कीजिए।
5. उपक्रम तथा उपसंहार को उदाहरण के द्वारा प्रतिपादन कीजिए।
6. "अहंवाद" किसे कहते हैं?
7. परम पुरुषार्थ क्या है?
8. अर्थवाद का उदारहण बताइए?
9. फल क्या होता है अहं ब्रह्मास्मि यहाँ पर पञ्चदशीकार के द्वारा उक्त ब्रह्म के अर्थ को लिखिए।
10. छः प्रकार के लिङ्ग कौन-कौन से होते हैं?
11. मन इन्द्रिय नहीं होता है यहाँ पर सिद्धान्तियों का मत लिखिए।
12. अभ्यास किसे कहते हैं?
13. अखण्ड ब्रह्म किसे कहते हैं?
14. छान्दोग्योपनिषद में कथित अभ्यास वाक्य क्या है?
15. अखण्डाकारिता चित्तवृत्ति यहाँ पर आकार शब्द का क्या तात्पर्य है।
16. अपूर्वता किसे कहते हैं।
17. ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन कीजिए?
18. फलरूप के लिङ्ग का एक उपनिषद् वाक्य लिखिए।
19. ब्रह्म ही सभी को प्रकाशित करता है यहाँ पर उपनिषद् वाक्य क्या है?
20. अर्थवाद किसे कहते हैं?

ध्यान दें:

पाठ-19

महावाक्य तात्पर्य विचार

ध्यान दें:

21. परमपुरुषार्थ क्या है?

22. अर्थवाद का उदाहरण दीजिए।

23. फल किसे कहते हैं?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 19.1

1. प्रज्ञानं ब्रह्म" इति।

2. "अहं ब्रह्मास्मि" इति।

3. उपक्रम उपसंहार, अभ्यास,अपूर्वता,फल, अर्थवाद, उपपत्त इस प्रकार से यह छ लिङ्ग होते हैं।

4. "इन्द्रियेभ्य: परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मन:" इति कठोपनिषद् में यह श्रुति है।

5. प्रकरण में प्रतिपाद्य वस्तु के प्रतिपाद्य स्थल में प्रशंसा अर्थवाद कहलाती है।

6. छ प्रकार के तात्पर्यलिङ्गोपेत वाक्य महावाक्य किस प्रकार से कहलाता है।

7. "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" यह बृहदारण्यकोपनिषद् में बताया गया है।

8. इसका अर्थ रहस्य होता है।

9. परमब्रह्म परिच्छिन्न नहीं होता है।

ध्यान दें:

20

महावाक्य की वृत्ति का विचार

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष ये चार पुरुषार्थ होते है। इनमें परम पुरुषार्थ मोक्ष है। मोक्ष का तथा उसके उपायों का ज्ञान अलौकिक उपायों के द्वारा ही होता है। वहाँ पर ज्ञान में परम प्रमाण वेद ही होते हैं। ऋग्यजुसामार्थव भेद से वेद चार प्रकार के होते हैं। वेदों के द्वारा ही मोक्ष को जाना जाता है। वह मोक्ष तथा ब्रह्म के ऐक्य के ज्ञान होने पर ही सम्भव होता है उसके अलावा ओर कोई प्रकार नहीं है। यह एक्य का ज्ञान वेदों के द्वारा ही होता है। उस प्रकार का ऐक्य चार प्रकार के वाक्यों के द्वारा ही प्रतिपादित होता है। वो चार वाक्य महावाक्य कहलाते है। चारों वेदों में चार महावाक्य है ऋग्वेद में "प्रज्ञानं ब्रह्म" (3/1/3) इत.ब यह महावाक्य हैं। यजुर्वेद में "अहं ब्रह्मास्मि" (1/4/10) महावाक्य है। सामवेदे "तत्त्वमसि" यह महावाक्यं हैं तथा अथर्ववेदे "अयमात्मा ब्रह्म" यह महावाक्य सुशोभित है।

उद्देश्य

यह पाठ पढ़कर के आप सक्षम होंगे;

- अध्यारोप के विषय में ज्ञान प्राप्त करने में;
- अज्ञान किस प्रकार का होता है यह जानने में;
- अपवाद को किस प्रकार से जाना जा सकता है इस विषय को समझ पाने में;
- "तत्त्वमसि" इस महावाक्य का क्या तात्पर्य है इसका ज्ञान प्राप्त करने में;
- "तत्त्वमसि" इस वाक्य में तत् तथा त्वम् इन दोनों पदों के वाच्यार्थ को जान पाने में;
- "तत्त्वमसि" इस महावाक्य में तत् तथा त्वम् इन दोनों पदों के लक्ष्यार्थ को जान पाने में;
- "अयमात्मा ब्रह्म" इस महावाक्य का क्या तात्पर्य है जान पाने में;
- जीव और ब्रह्म का ऐक्य किस प्रकार से होता है इसका परिचय प्राप्त करने में;

20.1) पाठ विमर्श

जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य महावाक्य प्रतिपादन करते हैं। सामवेद के छान्दोग्योपनिषद् में "तत्त्वमसि"

(6/8/7) यह महावाक्य है। अखण्डार्थ प्रतिपादक वाक्य ही महावाक्य कहलाते हैं। अखण्डार्थ से तात्पर्य है जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य। अब अध्यारोपवाद तथा अपवाद के द्वारा तत् त्वम् पदार्थ को शोधन किया जा रहा है।

20.2) अध्यारोप

वस्तु में अवस्तु का आरोप अध्यारोप कहलाता है। जैस रज्जु मे सर्प का आरोप। रज्जु असर्पभूत होती है। उसमें असर्पभूतरज्जु में सर्प का आरोप अध्यारोप होता है। सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्म ही वस्तु होता है। ब्रह्म के बिना अज्ञानकार्यभूत सबकुछ अवस्तु होता है।

20.3) अज्ञान

अज्ञान सद् तथा असद् दोनों के द्वारा अनिर्वचनीय होता है। अज्ञान है इस प्रकार से नहीं कह सकते हैं। कारण यह है कि यदि अज्ञान है तो किसी भी अवस्था में उसका बाध नहीं हो। लेकिन ब्रह्मज्ञान होने पर अज्ञान का बाध अर्थात् नाश हो जाता है। फिर अज्ञान असत् अर्थात् अज्ञान नहीं है ऐसा कभी भी नहीं कह सकते हैं। कारण यह है कि यदि अज्ञान नहीं है तो कभी भी अपरोक्ष उसका प्रतिभास नहीं हो। लेकिन अज्ञान का अपरोक्ष प्रतिभासरूप संसार प्रतीत होता है। इसलिए अज्ञान असत् भी नहीं है। बुद्धि से लेकर देह पर्यन्त अज्ञान का ही कार्य होता है। अज्ञान सत्त्वरज तथा तमोगुणात्मक होता है। इसलिए इसे श्वेताश्वतरोपनिषद् में इस प्रकार से कहा है।

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥" (4/5) इति।

निश्चित रूप से जो उत्पन्न होता है वह नष्ट भी होता है। अज्ञान कभी उत्पन्न ही नहीं होता है। इसलिए अज्ञान का नाश कभी भी सम्भव नहीं होता है। इस आशङ्का को दूर करने के लिए कहते हैं की अज्ञान ज्ञानविरोधी होता है। ज्ञान के द्वारा अर्थात् आत्मासाक्षात्कार के द्वारा अज्ञान नष्ट होता है। इसलिए भगवान श्री कृष्ण ने श्री मद्भगवद्गीता में कहा है

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दूरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥" (7/14) इति।

और फिर अज्ञान भावरूप होता है। भलेही अज्ञान भावरूप होता है। फिर भी 'यह इस प्रकार से' दिखाने में समर्थ नहीं होता है। वहाँ पर तो अनुभव ही शरण होती है। 'मैं अज्ञ हूँ ' मैं अद्वैत को नहीं जानता हूँ इस प्रकार का अनुभव होता है। वेदान्तसार में सदानन्दयोगीन्द्र के द्वारा कहा गया है। " अज्ञान सद् तथा असद् के द्वारा अनिर्वचनीय त्रिगुणात्मक ज्ञानविरोधी भावरूप जो कुछ भी लोग कहते हैं, वहां होता है। जैसे मैं अज्ञ हूँ इत्यादि अनुभव से इसका पता चलता है। और 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढाम्' इस प्रकार से (श्वेताश्वतरोपनिषत्, 1/3)" इति। में कहा गया है।

20.4) अपवाद

अपवाद वस्तु में भासमान अवस्था आदि प्रपञ्च का वस्तुमात्रत्व होता है। जैसे रज्जु का विवर्त रूप सर्प होता है, वह उस रज्जु से भिन्न नहीं होता है। वैसे ही ब्रह्मरूप वस्तु का विवर्तभूत अज्ञानप्रपञ्चादि होता है। इसलिए वह ब्रह्म से भिन्न नहीं होता है। वेदान्तसार मे कहा गया है "अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववत् वस्तुविवर्तस्य अवस्तुनः अज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्" अर्थात् अपवाद रज्जुविवर्त सर्प का रज्जुमात्रत्व के समान वस्तुविवर्त अवस्तु अज्ञानादि प्रपञ्च का वस्तुमात्रत्व होता है। यह

ध्यान दें:

सब चैतन्यस्वरूप ब्रह्म ही होता है। फिर भी शरीरभेद से समष्टिकारणशरीर अज्ञानोपहित चैतन्य सर्वज्ञ ईश्वर होता है। व्यष्टिकारणशरीराज्ञोनोपहित चैतन्य प्राज्ञ होता है। समष्टिसूक्ष्मशरीराज्ञानोपहित चैतन्य हिरण्यगर्भ होता है। व्यष्टिसूक्ष्मशरीर अज्ञानोपहित चैतन्य तैजस होता है। समष्टिस्थूलशरीराज्ञानोपहित चैतन्य विराट् होता है व्यष्टि स्थूलशरीराज्ञानोपहित चैतन्य विश्व होता है।

अभी अध्यारोप तथा अपवाद दोनों के द्वारा सभी का वस्तुमात्रत्व जाना। इन दोनों के द्वारा ही तत्व तथा पदार्थ में परिशुद्धि भी होती है। वाक्यार्थ ज्ञान पदार्थज्ञान सापेक्ष होता है। पदसमूह ही वाक्य कहलाता है। इसलिए पदार्थ ज्ञान से परे ही वाक्यार्थ ज्ञान होता है। अतः तत् तथा त्वम् पदार्थ आगे कहे जा चुके है।

20.5) तत्त्वमसि

20.5.1) तत्पद का वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ

लोहपिण्ड तप्त होता है तो लोहे के जलने पर लौहपिण्ड तथा अग्नि में अभेद से प्रतीति होती है। इसी प्रकार समष्टि कारण सूक्ष्म स्थूल शरीर ज्ञान समष्टि होती है। इससे उपहित चैतन्य अर्थात् ईश्वर हिरण्यगर्भ अथवा विराट् कहा जाता है।इससे अनुपहित तुरीय ब्रह्म एकत्व के कारण अवभासमान तत् पद का वाच्यार्थ होता है। समष्टिकारणशरीराज्ञानोपहितचैतन्य से समष्टिसूक्ष्मशरीराज्ञानोपहितचैतन्य से समष्टिस्थूल-शरीराज्ञानोपहितचैतन्य से ईश्वरहिरण्यगर्भवैश्वानरों का आधारभूत तुरीय चैतन्य भेद से अवभासमान तत्पद लक्ष्यार्थ होता है।

20.5.2) त्वम् पद का वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ

व्यष्टि का कारणसूक्ष्मस्थूलशरीर अज्ञान समूह होता है, इससे उपहित चैतन्य अर्थात् प्राज्ञ तैजस तथा विश्व होता है। इससे उपहित तथा तुरीय ब्रह्म के अभेद से अवभासमान त्वं पद वाच्यार्थ होता है। व्यष्टिकारणशरीर अज्ञानोपहित चैतन्य प्राज्ञ से,व्यष्टिसूक्ष्मशरीर अज्ञानोपहित तेज से, व्युष्टिस्थूलशरीर अज्ञानोपहित चैतन्य से विश्व से तुरी चैतन्य अर्थात् प्राज्ञ तैजसविश्व का आधारभूत चैतन्य भेद से अवभासमान त्वं पद का वाच्यार्थ होता है।

अब कहते हैं कि जीव तथा ईश्वर में अनेक भेद देखे जाते हैं। जीव अल्पज्ञ होता है ईश्वर सर्वज्ञ होता है। जीव अपरोक्ष होता है ईश्वर परोक्ष होता है। तो इस प्रकार से विलक्षण जीव तथा ईश्वर में कैसे तत् त्वं असि आदि वाक्य अखण्ड एक रस ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार से यह आशङ्का सत्य प्रतीत होती है। तत्त्वमसि आदि महावाक्य साक्षात् एक्य का प्रतिपादन नहीं करते है। अपितु लक्षणा के द्वारा तीनों सम्बन्ध से अखण्डार्थ के बोधक होते हैं। दोनों पदों में सामानाधिकरण, दोनों पदार्थों में विशेषण विशेष्य भाव तथा प्रत्यगात्मपदार्थों में लक्ष्यलक्षण भाव इस प्रकार से तीन प्रकार के सम्बन्ध होते है।

नैष्कर्म्यसिद्धि में सुरेश्वराचार्य ने इस प्रकार से कहा है। -

“सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्॥” इति।

ध्यान दें:

20.5.3) सामानाधिकरण्य सम्बन्ध

वह यह देवदत्त है, इस वाक्य में तत्कालविशिष्ट देवदत्तवाचक तत् पद का अर्थात् 'स:' (वह)इस पद का, फिर एतत् विशिष्ट देवदत्तवाचक 'अयम्' (यह) इस पद का एकदेवदत्तरूप पिण्ड में ही तात्पर्यसम्बन्ध है। अर्थात् सामानाधिकरण्य यह अर्थ है। इस प्रकार से ही "तत्त्वमसि" इस वाक्य में परोक्षत्वसर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्यवाचक तत्पद का, फिर अपरोक्षत्व अल्पज्ञादिविशिष्ट चैतन्य वाचक त्वम् पद का एक ही चैतन्य में तात्पर्य सम्बन्ध अर्थात् सामानाधिकरण्य यह अर्थ होता है।

20.5.4) विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध

जो व्यावर्तक होता है। वह विशेषण होता है। जो व्यावर्त्य होता है वह विशेष्य होता है। जो भेद का व्यावर्तक है वह विशेष कहलाता है। फिर जिसका भेद व्यावर्त्य है वह विशेष्य कहलाता है। 'इस काल से विशिष्ट तथ इस देश से विशिष्ट यह वह देवदत्त है ' यहाँ पर 'वह' अर्थात् तत्कालविशिष्ट देवदत्तरूप पिण्ड, 'यह ' अर्थात् एतत्कालविशिष्ट देवदत्तरूपपिण्ड अभिन्न जब प्रतीत होता है। तब एतत्कालविशिष्ट देवदत्त रूप पिण्ड का तत्कालविशिष्ट देवदत्तरूप पिण्ड से भेद व्यावृत्त होता है। इसलिए यहाँ पर अयम् (यह) शब्द में विशेष्यत्व होता है। फिर 'यहाँ' उस पद का व्यावर्तकत्व अर्थात् विशेषणत्व होता है। "उस काल से विशिष्ट वह यह है " यहाँ पर यह अर्थात् एतत्कालविशिष्ट देवदत्तरूप पिण्ड से तथा स: (वह) अर्थात् तत्काल विशिष्ट देवदत्तरूप पिण्ड से अभिन्न जब प्रतीत होता है तब तत्कालविशिष्ट देवदत्तरूप पिण्ड अभिन्न इसप्रकार से जब प्रतीत होता है तब तत्कालदेशविशिष्ट देवदत्तरूपपिण्ड का एतत् काल एतत् देश विशिष्ट देवदत्तरूप पिण्ड से भेद व्यावृत होता है। यहाँ पर स: इस शब्दार्थ का तत्काल तत्देशविशिष्ट भेद व्यावृत्त होता है। इसलिए स: (वह)यह शब्दार्थ विशेष्यत्व होता है। तथा अयम् (यह) यह शब्दार्थ विशेषणत्व होता है। इसी प्रकार से "तत्त्वमसि" यहाँ पर भी जानना चाहिए।

"त्वं तदसि" (तू कहता है) यहाँ पर तत् अर्थात् सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य से त्वम् अर्थात् अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैत्यन अभिन्न इस प्रकार से जब प्रतीत होता है, तब त्वं पद वाच्य का अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य तत्पदवाच्य से सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य से भेद व्यावृत्त होता है। यहाँ पर त्वम्, इस शब्दार्थ का अपरोक्षत्वकिञ्चित् ज्ञत्वादि विशिष्ट चैत्यन्य का भेद व्यावृत्त होता है। इसलिए त्वं पदार्थ का विशेष्यत्व होता है। तत्पदार्थ का "तत्त्वमसि" यहाँ पर भी त्वम् अर्थात् अपरोक्षत्व अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य से तत् अर्थात् परोक्षत्वसर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य अभिन्न होता है इस प्रकार की जब प्रतीति होती है। तब तत्पदार्थ का परोक्षत्वसर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य से भेद व्यावृत्त होता है। यहां पर तत् इस शब्दार्थ सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य का भेद व्यावृत्त होता है। इसलिए यहाँ पर तत्पदार्थ का विशेष्यत्व रूप होता है। फिर त्वम् पदार्थ का अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य का विशेषणत्व होता है। इसी प्रकार से तत् तथा त्वं पदार्थो को अन्योन्यभेदव्यावर्तक के द्वारा विशेषण विशेष्य भाव होता है।

20.5.5) लक्ष्य लक्षण भाव सम्बन्ध

जो वाक्य असाधारण धर्म का प्रतिपादन करता है। वह वाक्य लक्षण होता है। असाधारण धर्मप्रतिपादक वाक्य की जो प्रतिपाद्य वस्तु लक्ष्य होती है वही लक्ष्य होती है। "सोऽयं देवदत्त:" (वह यह देवदत्त है) इस वाक्य में स: शब्द तथा अयं शब्द इन दोनों के अर्थ में तो विरुद्धांश है उनका तत्काल तत्देश विशिष्ट तत्काल देश तत्काल विशिष्टों का परित्याग से अविरुद्ध देवदत्त पिण्ड से साथ देवदत्त विशिष्ट देवदत्त वाचचक शब्द का लक्ष्य लक्षण भाव सम्बन्ध होता है। अर्थात् "सोऽयं देवदत्त:" यहाँ पर

ध्यान दें:

त्यक्त विरुद्ध स: शब्द तथा अयं शब्दों के अर्थों का लक्षणत्व होता है। अविरुद्ध देवदत्तरूपपिण्ड का लक्ष्यत्व होता है। इसी प्रकार "तत्त्वमसि" यहाँ पर तत् तथा त्वम् पदे के जो विरुद्धांश होते है। उनका परोक्षत्वसर्वज्ञादिविशिष्ट अपरोक्षत्वाल्पज्ञत्वादि विशिष्ट अंशों के परित्याग से अविरुद्ध अखण्डैकरस चैतन्य के साथ परोक्षत्व सर्वक्षत्व अपरोक्षत्व अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट तत् तथा त्वम् पद का लक्ष्य लक्षण भाव सम्बन्ध होता है। यहाँ पर भागत्यागलक्षणा के द्वारा विरुद्धांशो के परित्याग से अविरुद्धचैतन्यमात्रत्व समझा जाता है। यह ही भागत्याग लक्षणा जहद् तथा अजहत् लक्षणा कहलाती है।

20.5.6) लक्षणा तथा उसके भेद

लक्षणा का विषय लक्ष्य होता है। लक्षणा के दो भाग होते है केवल लक्षणा तथा लक्षित लक्षणा। शक्यसाक्षात्सम्बन्ध वाली लक्षणा केवललक्षणा कहलाती है। जैस गङ्गायां घोष: (गङ्गा में कुटिया) यहाँ पर गङ्गापद वाच्यार्थ के द्वारा गङ्गाप्रवाह रूप के साथ साक्षात् संबंध तीर में केवल लक्षण है। जहाँ पर शक्यार्थ के परम्परासम्बन्ध से वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है। वहाँ पर लक्षित लक्षणा होती है। जैस सिंह माणवक। यहाँ पर सिंहपदवाच्य सिहंरूप पशु होता है। उस पशु के क्रूरत्वादिसम्बन्ध के द्वारा माणवक की प्रतीति होती है।

प्रकारान्तर से लक्षणा के तीन भाग किये गये हैं। जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा। जहाँ पर शक्यार्थ के अनन्तर्भाव्य ही अर्थान्तर प्रतीत होता है वहाँ पर जहल्लक्षणा होती है। जैस विषं भुङ्क्ष्व। यहाँ पर विषभोजन शक्यार्थ होता है। जहाँ पर शक्यार्थ के अन्तर्भाव्य ही अर्थान्त प्रतीति होती है। वहाँ पर जहल्लक्षणा होती है। जैसे। जहर खाओ यहाँ पर विष भोजन शक्यार्थ होता है उस शक्यार्थ का अन्तर्भाव्य यह है कि शत्रु के घर में भोजन मत करो इस प्रकार से यहाँ पर भोजन की निवृत्ति लक्षित की गई है। इसलिए विषं भुङ्क्ष्व यहाँ पर जहत् लक्षणा है। जहाँ पर शक्यार्थ ही अन्तर्भाव्य ही अर्थान्तर प्रतीति करवाता है वहाँ पर अजहल् लक्षणा होती है। जैसे शुक्ल: घट: (सफेद घड़ा) यहाँ पर शुक्ल शब्द का शुक्लगुणरूप वाच्यार्थ है। वह शुक्ति गुणरूप स्वार्थ अन्तर्भाव्य ही शुक्ल शब्द तथा शुक्लगुणविशिष्ट द्रव्य के बोध का जनक होता है। जहाँ पर विशिष्ट वाचक शब्द विशेषण के रूप में एकदेश को छोड़कर के विशेष्यरूप एकांश का बोधक होता है वहाँ पर जहद् तथा अजहत् लक्षणा होती है। जैस वह यह देवदत्त है। यहाँ पर दोनों पद के वाच्य में तत्काल तद्देशविशिष्ट में तत्कालतद्देशविशिष्ट मे ऐक्य की अनुपपत्ति से देवदत्तपिण्डरूप विशेष्यमात्रपत्व होता है।

20.5.7) तत्त्वमसि जहल्लक्षणा असङ्गति

तत्वमसि यहाँ पर जहत् लक्षणा सङ्गत नहीं है। गङ्गा में घोष(कुटिया) यहाँ पर तो जहत् लक्षणा ही सङ्गत होती है। गङ्गा तथा घोष में आधार तथा आधेय भाव ही है। और वह आधार तथा आधेय भाव अशेषत: विरुद्ध होता है। कारण यह है कि गङ्गा में घोष कभी भी रुक नहीं सकती है। इसलिए गङ्गा में घोष इस वाक्य के मुख्यार्थ का विरोध होने पर मुख्यार्थ का परित्याग करके लक्षणा के द्वारा उससे सम्बन्धित तीर में घोष के अवस्थान सम्भव से यहाँ पर जहत् लक्षणा स्वीकार की जाती है। यहाँ पर जैस गङ्गापद प्रवाहरूप स्वार्थ का परित्याग करके स्वसम्बन्ध तीर को लक्षित करते है वैसे ही तत्पद परोक्षत्वसर्वक्षत्वादि विशिष्ट स्वार्थ का परित्याग करके त्वं पदार्थ अर्थात् जीव चैतन्य को ही लक्षित करते है। इसी प्रकार से त्वम्पद से अपरोक्षत्वाल्पज्ञत्वादिविशिष्ट स्वार्थ का परित्याग करके तत्पदार्थ अर्थात् ईश्वर चैतन्य को लक्षित करे। इसलिए यहाँ पर जहत् लक्षणा हो ऐसी आशङ्का के होने पर कहतें है कि ऐसा नहीं है। मुख्यार्थ का विरोध होने पर ही मुख्यार्थ से सम्बन्धित जो अर्थ श्रुत नहीं है, उसके अश्रुत अर्थ में लक्षणा होती है। यह शास्त्र प्रसिद्ध है। गङ्गा मे घोष है यहाँ पर गङ्गा पद प्रवाह रूप स्वार्थ पद का

ध्यान दें:

परित्याग करके तीर पदार्थ को लक्षित करता है, इस प्रकार से यह युक्तियुक्त होता है। कारण यह है कि गङ्गा तथा घोष में आधार तथा आधेय भाव सम्बन्ध रूप मुख्यार्थ का विरोध होता है। फिर यहाँ तीर्थ पद अश्रुत होता है। इसलिए लक्षणा के द्वारा अश्रुत तीर्थ पद का ज्ञान अपेक्षित है। लेकिन तत्वमसि यहाँ पर तत् तथा त्वम् दोनों पदों से ही उन दोनों के परोक्षत्व सर्वज्ञत्वादि विशिष्टापरोक्षत्वाल्पज्ञत्वादि विशिष्ट अर्थ श्रुत होता है। यहाँ पर अश्रुत पदार्थ नहीं होता है। जिस पदार्थ में जहल् लक्षणा स्वीकार की जाती है, उस लक्षणा के द्वारा श्रुत पदार्थ का ज्ञान अपेक्षित नहीं होता है। इसलिए तत्वमसि यहाँ पर जहत् लक्षणा स्वीकार नहीं की जाती है।

20.5.8) तत्त्वमसि यहाँ पर अजहत् लक्षणा की असङ्गति

शोणो धावति। यहाँ पर इस वाक्य में शोण के गुण में गमन के असम्भव होने से मुख्यार्थ का विरोध होता है। इसलिए उस वाक्य में श्रूयमाण शोणपद स्वार्थ का परित्याग किए बिना ही अपने अश्वादि को लक्षित करता है। इसलिए यहाँ पर अजहत् लक्षणा है सङ्गत होती है। लेकिन तत्वमसि यहाँ पर अजहत् लक्षणा भी सङ्गत नहीं होती है। कारण यह है कि तत्वमसि यहाँ पर परोक्षत्वसर्वज्ञत्व अपरोक्षत्व किञ्चिद् ज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य के एकत्ववाक्यार्थ के विरुद्धत्व से परोक्षत्वसर्वज्ञत्वापरोक्षत्व किञ्चिज्ज्ञत्वादिविशिष्टांशा परित्याग के कारण उससे सम्बन्ध युक्त जिस किसी का भी लक्षितत्व सत्य होने पर परोक्षत्वसर्वज्ञत्वापरोक्षत्वाल्पज्ञत्वादिविशिष्टांशों के विरोध का परिहार नहीं कर सकते हैं। इसलिए विरोध के परिहार के असम्भव होने से यहाँ पर अजहत् लक्षणा सङ्गत नहीं होती है।

20.5.9) तत्त्वमसि यहाँ पर भागत्यागलक्षणा की सङ्गति

भागत्याग लक्षणा का दूसरा नाम जहत् अजहत् लक्षणा है। वह यह देवदत्त है, यहाँ पर जैसे तत्काल विशिष्ट के तथा एतत्कालविशिष्ट के विरुद्धांश का परित्याक करके लक्षणा के द्वारा अविरुद्ध देवदत्त रूप पिण्ड अवबोधित होता है। उसी प्रकार से तत्वमसि यहाँ पर भी अपरोक्षत्वाल्पज्ञत्वादिविशिष्ट अंश का परोक्षत्वसर्वज्ञत्वादिविशिष्टांश के विरुद्धांश का परित्याग करके लक्षणा के द्वारा अविरुद्ध अखण्डचैतन्यमात्र का बोध होता है। इसलिए यहाँ पर भागत्याग लक्षणा युक्तियुक्त होती है। साम्प्रदायिक लोग भी कहते हैं कि जो तत्त्वमसि वाक्य हैं यहाँ पर तत्पदवाच्य का परोक्षत्वासर्वज्ञत्वादि विशिष्ट के त्वम्पदवाच्य के द्वारा अपरोक्षत्व अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट के साथ ऐक्य अनुपत्ति से ऐक्यसिद्धि के लिए ही स्वरुप में लक्षणा स्वीकार करना चाहिए।

20.5.10) तत्त्वमसि यहाँ पर कोई भी लक्षणा नहीं है।

वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजध्वरीन्द्र के मत में तो यहाँ लक्षणा ही नहीं होती है। तत्काल एतत्काल तद् देश एतद्देश आदि विशेषण विशिष्ट वाचक पदों का एकदेश एक विशेष्य देवदत्तस्वरूपपिण्डमात्र में जो तात्पर्य होता है वह यह देवदत्त है इस प्रकार की लक्षणा का यहाँ पर आश्रय लेना चाहिए। शक्ति के द्वारा ही देवदत्त पिण्ड स्वरूप का बोध होता है। नानार्थक शब्द के नानार्थ में शक्ति होती है , तो भी जिस अर्थ मे तात्पर्य निश्चित होता है। नानार्थक पद से उसके ही अर्थ संस्कारबोध से उस अर्थ की ही उपस्थिति होती है, न की अन्य किसी अर्थ की उपस्थिति होती है। विशिष्टोपस्थापक पदों के विशेष्य स्वरूप मात्र में तात्पर्य निश्चय होता है तो विशेष्यस्वरूप संस्कार का उद्बोध होता है। विशेष्य के स्वरूप विषय संस्कार सहकृत पदों के श्रवण ही विशेष्यस्वरूप की उपस्थिति होती है। सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट वाचक पदों के विशेष्य अखण्ड ब्रह्म में यदि तात्पर्य होता है तो लक्षणा यहाँ पर स्वीकार्य नहीं होती है। तत्वमसि यहाँ पर तत् पद से तथा त्वम् पद से विशेष्य अखण्ड एक रस चैतन्य ही उपस्थापित होता है।

ध्यान दें:

उन दोनों चैतन्यों के अभेदान्वय में कोई भी बाधक नहीं होता है। यदि विशेष्यमात्र तात्पर्ययुक्त वाक्य में लक्षणा स्वीकार करते है तो घर में घट-घट में रूप, घट को लाओ इत्यादि वाक्यों में भी लक्षणा स्वीकार करना चाहिए। इसलिए धर्मराज ध्वरीन्द्र के द्वारा वेदान्तपरिभाषा मे कहा गया है कि "इसी प्रकार से तत्वमसि इस वाक्य में भी शक्ति के स्वातन्य तथा उपस्थित तत् तथा त्वम् पदार्थों के अभेदान्वयक बाध क भाव से लक्षणा नहीं है। नहीं तो घर में घट है, घट में रूप है। घट लाओ इत्यादि मे घटत्वगेहत्वादि की अभिमतान्वयबोध योग्यता के द्वारा वहाँ पर भी घटादि पदों के विशेष्यमात्रपरत्व मे लक्षणा ही होनी चाहिए।

अद्वैतवेदान्त सिद्धान्त मे तात्पर्य अनुपपत्ति ही लक्षणा होती है। गङ्गा मे घोष है यहाँ पर गङ्गा पद का गङ्गा के तीर पर यह तात्पर्य होता है। जब गङ्गा पद का जलप्रवाह रूप शक्यार्थ स्वीकार किया जाता है तब तात्पर्य की अनुपपत्ति होती है। इसलिए यहाँ पर लक्षणा स्वीकार की जाती है। तत्वमसि यहाँ पर तो जीवात्मा का तथा परमात्मा का ऐक्यरूप ही तात्पर्य के रूप में उपपद्य होता है। इसलिए जीवब्रह्मात्मैक्यरूपतात्पर्य की उपपत्ति की लक्षणा का यहाँ पर आश्रय नहीं लेना चाहिए।

अब कहते हैं कि मैं ईश्वर नहीं हूँ, मैं मनुष्य हूँ, इत्यादि प्रत्यक्ष के द्वारा एक ही, किञ्चिज्ञत्व सर्वज्ञत्वा परोक्षत्व परोक्षत्वादि विरुद्ध हेतु से जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट होता है। इसलिए मुण्डकोपनिषद में कहा गया है-

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अन्योऽनश्ननभिचाकशीति॥" (3/1/1) इति।

यहाँ पर भी जीव तथा ब्रह्म के भेद से कथन सुना जाता है। और भगवान् श्री कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है-

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥" (15/16) इति।

इस प्रकार से गीता दिस्मृतियाँ भी जीव तथा ब्रह्म के भेद को बताती है। आनन्दमयाधिकरण में पठित "भेदव्यपदेशाच्च(1-1-17)" इस सूत्र में श्रोत जीव ब्रह्मभेद व्यपदेश कहलाता है। जीव स्वरूप से ब्रह्म से अभिन्न हो तो भी अविद्याकृत देह आदि उपाधियों के सम्बन्धवश ब्रह्मभिन्न में जीव होने पर धृलब्धव्यभाव सम्भव्य होता है इस प्रकार से "आत्मा अन्वेष्टव्यः" (बृहदारण्यकोपनिषद् 2.4.5), "आत्मलाभान्न परं विद्यते" (श्रीमद्भगवद्गीता 6-22) इत्यादि श्रुतियाँ भी स्मृतियों के अनुसार ही है।

अब कहते हैं की जीव तथा ब्रह्म का अज्ञान कृत कल्पित भेद स्वीकार करने से लब्धलब्धव्य भाव स्वीकार करने का अर्थ प्रसिद्ध होता है तो कहते हैं कि ऐसा भी नहीं है। परमार्थतः उन दोनों में अभेद कथन के लिए लब्धृलब्धव्य भाव कहा गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया हैं कि -"नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" (3-7-23) इस प्रकार से। भगवान शङ्काराचार्य भी यह ही कहते हैं कि - "प्रतिषिध्यते एव तु परमार्थतः सर्वज्ञात् परमेश्वरात् अन्यः द्रष्टा श्रोता वा, नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा इत्यादिना" इति।

निश्चित रूप से परमार्थत रूप से जीव के ब्रह्म से अभिन्नत्व से जीव का अविद्याकल्पितत्व ईश्वर भी मिथ्या है तो अविद्या कल्पित जीव से परमेश्वर के भिन्न होने से ऐसा भी नहीं है। सभी जीव अविद्यायुक्त होते है इस प्रकार से सुरेश्वराचार्य के द्वारा नैष्कर्म्यसिद्धि के तृतीय अध्याय में 111 वाँ श्लोक है - "अहो धाष्टर्यमविद्यायाः न कश्चिदतिवर्तते।

प्रमाणं वस्त्वनादृत्य परमात्मेव तिष्ठति" इति।

ध्यान दें:

"रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" इत्यादि श्रुति में रस इसको द्वितीयान्त पद के द्वारा तथा अयम् इसमें प्रथमान्त पद के द्वारा जीव तथा ब्रह्म के लब्ध लब्धव्यभाव के द्वारा दिशा निर्देश किये गये। अधिष्ठान व्यतिरिक्त कल्पितवस्तु के सत्त्व असिद्ध होने पर भी कल्पितवस्तु सत्ताव्यतिरेक से अधिष्ठानसत्तव प्रत्यक्ष ही सिद्ध होता है। इसलिए अविद्याकल्पितत्व से जीव का ब्रह्म अभिन्न अधिष्ठान्न अवश्य कहना चाहिए। बिम्ब व्यतिरेक से प्रतिबिम्ब के निरपेक्ष सत्व के अभाव से प्रतिबिम्ब बिम्ब से भिन्न होता है। अप्पयदीक्षित के द्वारा भी सिद्धान्तलेश सङ्ग्रह मे यही कहा गया है कि " इस प्रकार से मुक्त होने पर जीव तथा ईश्वर के प्रतिबिम्ब विशेष पक्षों में जो बिम्ब स्थानीय ब्रह्म होता है, वह मुक्त प्राप्य शुद्ध चैतन्य होता है। लेकिन प्रतिबिम्ब के बिम्ब से अभिन्नत्व होने पर भी बिम्ब प्रतिबिम्ब के द्वारा परिणमित नहीं होता है। इसलिए परमेश्व का मिथ्यात्व नहीं होता है। इसलिए तत्वमसि यह महावाक्य यदि अभेदार्थक होता है तो वेदस्मृति प्रत्यक्ष प्रमादि से विरुद्ध होता है। इसलिए तत्वमसि यह महावाक्य अभेदार्थ से भिन्नार्थक होता है, लेकिन इस आशङ्का के सत्य होते हुए भी वह नहीं होता है। कारण यह है कि भेद विषयक चक्षु आदि कारणों के दोष सम्भव होते हैं। दोष युक्त चक्षु आदि से मैं अन्धा हूँ, मैं मूक हूँ, इस प्रकार का प्रत्यक्ष होता है। उस प्रकार के प्रत्यक्ष में दोष सम्भव होते हैं। लेकिन अपौरुषेय वेद में दोष नहीं सम्भव नहीं होते हैं। प्रत्यक्ष की अपेक्षा से आगम का अपौरुषेयत्व से बलत्व होता है। अविद्या रूप मे ही होती है इसलिए कल्पित भेद भी मिथ्या ही होता है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दोग्योपनिषद् 3.14.1), "आत्मैवेदं सर्वं" (छान्दोग्योपनिषद् 7.25.2), "ब्रह्मैवेदममृतं" (मुण्डकोपनिषद् 2.2.11), "सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्" (छान्दोग्योपनिषद् 3.2.1), "तत्त्वमसि" (छान्दोग्योपनिषद् 6.8.7), "अयमात्मा ब्रह्म" (बृहदारण्यकोपनिषद् 2.5.19) इत्यादि श्रुतियाँ वेदान्तों में प्रत्यगभिन्न एक ही ब्रह्म में तात्पर्य को दिखाती है। इसलिए वस्तुतः जीव तथा परमात्मा में अभेद ही होता है।

20.5.11) पञ्चदशीकारों के मत में तत्त्वम्पदार्थनिरूपण

विद्यारण्य स्वामी नें पञ्चदशी के महावाक्य विवेक प्रकरण में कहा है

"एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते॥" (5/5) इति।

इस श्लोक का अर्थ है कि इस जगत् की सृष्टि से पूर्व एक ही अद्वितीय नामरूप रहित जो ब्रह्म था सृष्टि के बाद भी वैसा ही ब्रह्म रहेगा। उसी ब्रह्म का तद पद के द्वारा यहाँ पर वर्णन किया गया है, इस प्रकार से छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया हैं कि

"सदेव सोम्य इदमग्र आसीदेकमेव अद्वितीयम्।
तद्धैक आहुरसदेव इदमग्रासीदेकमेव अद्वितीयं तस्मात् असतः सज्जायत" (6/2/1) इति।

अब कहते हैं कि यदि ब्रह्म सत्य है तो श्रुतियों तथा स्मृतियों का व्यर्थ प्रसङ्ग हो जाएगा।

ब्रह्म न तो सत् होता है और न ही असत् इस प्रकार ऋग्वेद में कहा गया है। -

"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीत् गहनं गभीरम्॥" (10/129/1) इति।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने भी कहा है

"ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥" (13/12) इति।

इस प्रकार से न तो ब्रह्म सत् होता है और ना ही असत् होता है।

ध्यान दें:

"नेति नेति" (बृह.उ-4.4.22), "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" (कठोपनिषत्-1.3.15), "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्" (बृह.उ-3.8.8) इस प्रकार से सभी उपनिषदों में ज्ञेयवस्तु ब्रह्म के वागगोचरत्व से अशेष शेष तथा प्रतिषेध के द्वारा निर्विशेषत्व को कहा गया है।

अब प्रश्न करते हुए कहते हैं की निर्विशेष ब्रह्म ज्ञेय होता है अथवा नहीं। यदि है तो अवश्य सत् होना चाहिए, और यदि नहीं हैं तो अवश्य ही असत् होना चाहिए। यहाँ पर कहते हैं कि इन्द्रिय गोचर वस्तु ही सत् तथा असद् के कारण बुद्धि गोचर होती है। घट के इन्द्रियों गोचरत्व के कारण ही घट है इस प्रकार से कहा जाता है। और घट के अभाव में इन्द्रिय अगोचरत्व के कारण घट नहीं है इस प्रकार से कहा जाता है। लेकिन अभाव को प्रत्यक्ष कैसे, तो धर्मराजध्वरीन्द्र वेदान्तपरिभाषा में कहते हैं कि - "ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणमनुपलब्धिरूपं प्रमाणम्" अर्थात् ज्ञान करण अजन्य अवा भाव अनुभव असाधारणकारण अनुपलब्धिरूप प्रमाणम होता है । भगवान् शङ्कराचार्य के द्वारा भी श्री मद्भगवद्गीता के भाष्य में कहा गया है कि- "इदं तु ज्ञेयमतीन्द्रियत्वेन शब्दैकप्रमाणगम्यत्वात् न घटादिवत् उभयबुद्ध्यनुगतप्रत्ययविषयमित्यतो 'न सत् तन्नासत्' इत्युच्यते" अर्थात् यह तो ज्ञेय अतीन्द्रियत्व के द्वारा शब्दरूप एक प्रमाण के अगम्य से घटादि के समान नहीं होता है। इस प्रकार से अब विद्यारण्य स्वामी के द्वारा त्वम् पद के लक्ष्यार्थ को कहते है।

"श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वंपदेरितम्।
एकता ग्राह्यते असीति तदैक्यमनुभूयताम्॥" (5/6) इति।

इस श्लोक का यह अर्थ है कि श्रवण मनन निदिध्यासनादि के द्वारा जब श्रोता को महावाक्य का ज्ञान होता है। तब वह देहेन्द्रिय अद्यतीत कारण सूक्ष्म भूतों के शरीरों की साक्षिरूप से विद्यमान होती हुई वस्तु ही त्वम् पद से उक्त है। यहाँ पर असि इस पद के द्वारा प्रत्यक्ष आत्मा तथा परमात्मा का ऐक्य सूचित किया गया है।

20.6) अयमात्मा ब्रह्म

अथर्ववेद के माण्डुक्य उपनिषद में "अयमात्मा ब्रह्म" इस प्रकार का महावाक्य उपलब्ध होता है। सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार से है- "सर्वं ह्येतद्ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्" इति। यहाँ अयं इस शब्द से प्रत्यक् आत्मा के बारे में बताया गया है। विद्यारण्य स्वामी पञ्चदशी में कहतें है कि

"स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम्।
अहंकारादिदेहान्तात्प्रत्यगात्मेति गीयते॥" (5/7) इति।

प्रत्यग् आत्मा स्वप्रकाश तथा परोक्षस्वभाव वाला होता है। यहाँ पर आत्मा के परोक्षत्व से व्यावर्त के लिए अपरोक्ष शब्द का प्रयोग विहित है। फिर घटादि के जैसे दृश्यत्व तथा व्यावर्त के लिए स्वप्रकाशत्व कहा गया है। घट का स्वप्रकाशत्व नहीं होता है। अहङ्कारादि जिस प्राणमन इन्द्रियदेहसंघात के होते हैं उसके अहङ्कारादि जिस प्राण मन इन्द्रिय संघात के होते हैं वह देहान्त कहलाता है। इन सभी को प्रत्यगधिष्ठानता तथा साक्षिता के कारण अन्तर आत्म कहते हैं। और विद्यारण्य स्वामी कहते है की

"दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते।
ब्रह्मशब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम्॥" (5/8) इति।

जिस ब्रह्म का बोध होने पर इस मिथ्याभूत सभी आकाशादि प्रपञ्च का बाध होता है वह पारमार्थिक ब्रह्म यहाँ पर कहा गया है। उस स्वप्रकाश स्वरूप ब्रह्म के प्रकाश से हम सभी प्रकाशित होते है। इसलिए मुण्डकोपनिषद् में कहा है-

पाठ-20

महावाक्य वृत्ति विचार

ध्यान दें:

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (2/2/11) इति।

पाठ सार

सभी वेदान्तशास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित सूक्ष्म, निर्विशेष,निरवयव,निरञ्चन,तथा अस्तिमात्र सत् वह ब्रह्म यहाँ पर सद् इस प्रकार से कहा गया है। यह जगत् नामरूपक्रिया के समान विकृत जो उपलब्ध होता है उसकी उत्पत्ति से पूर्व उसकी नामरूपक्रिया विवर्जित थी। उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् सत् शब्द बुद्धमात्र के द्वारा अवगम्य होता है। सृष्टि से पूर्व में इस जगत् के नामरूपादियों को ग्रहण नहीं कर सकते है। केवल जगत् का सत्त्वमात्र ही ग्रहण किया जा सकता है। जैस सुषुप्ति अवस्था में स्थित होकर सुषुप्ति से उठा हुआ व्यक्ति सत्त्वमात्र को ही समझता है। उसी प्रकार से यहाँ पर भी जानना चाहिए। कुलाल के घर में प्रात: किसी ने मिट्टी को देखा। वह ही व्यक्ति जब शाम के समय कुलाल के घर में आया तो वहाँ पर तब उसने वहाँ पर देखा घट आदि शराव वहाँ पर थे। उसके बाद जैसे वह पुरुष कहता है कि मृत्तिका ही यह है। उसी प्रकार सद् ही सौम्य रूप में सबसे पहले था। जिस प्रकार से मृत्तिका को घटादियों के द्वारा परिणमित कलालादि निमित्तकारण रूप के द्वारा देखे गये है उसी प्रकार से यहाँ सद् ब्रह्म के विना अन्यत कुछ और निमित्त कारण नहीं होता है। अत: सत् का सहकारी कारण दूसरा नहीं है। इसलिए सत् ब्रह्म ही अद्वितीय इस प्रकार से कह जाता है। वह ही ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप होता है। उस स्वयं प्रकाश स्वरूप ब्रह्म के ही प्रकाश से हम सभी प्रकाश मान होते है। जीव तथा ब्रह्म में अविद्याकल्पित भेद होने पर भी परमार्थ रूप से अभेद में ही सभी वेदों का तात्पर्य बताया गया है।

आपने क्या सीखा

- महावाक्य जीव तथा ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन करते है।
- इसलिए इसमें तद्बुद्धि अध्यारोप होता है।
- अपवाद वस्तु में भासमान अवस्तु अज्ञानादि प्रपञ्च का वस्तुमात्रत्व होता है।
- अज्ञान सद् तथा असद् दोनों के द्वारा अनिर्वचनीय त्रिगुणात्मक, ज्ञानविरोधि तथा भावरूप जो कुछ होता है।
- परमात्मा अपरोक्षस्वप्रकाश स्वरूप होता है।
- सभी वेदान्त शास्त्रों से सूक्ष्मनिर्विशेष निरवयव,निरञ्जन सर्वानुस्यूत अस्ति मात्र सत् ब्रह्म वस्तु ही समझी जाती है।
- सत् का सहाकारी कारण दूसरा नहीं होता है। इसलिए सत् ब्रह्म ही अद्वितीय कहलाता है।
- जीवब्रह्म में अविद्याकल्पित भेद होने पर भी परमार्थ रूप से वह अभेद ही होता है।

पाठगत प्रश्न 20.1

1. छान्दोग्योपनिषद् में विद्यमान महावाक्य क्या है?
2. माण्डुक्योपनिषद् में विद्यमान महावाक्य क्या है?
3. ऋग्वेद किसे कहते हैं?

4. श्रीमद्भगवद्गीता में ब्रह्म का सत् तथा असत् अनिर्वचनीयत्व प्रतिपादक श्लोक कौन-सा है?
5. ब्रह्म ही सभी को प्रकाशित करता है यहाँ पर कौन-सी श्रुति है?
6. अध्योरोपवाद किसे कहते हैं?
7. अपवाद किसे कहते हैं?
8. अज्ञान का लक्षण क्या हैं?
9. लक्षणा किसे कहते हैं?
10. भागत्याग लक्षणा किस प्रकार की होती है?
11. अज्ञान की त्रिगुणात्मक प्रतिपादिका श्रुति कौन-सी है?
12. लक्षणा के कितने भाग है तथा वे कौन कौन-से है?

पाठान्त प्रश्न

1. महावाक्य किसे कहते हैं?
2. जहत् लक्षणा क्या होती है?
3. धर्मराजध्वरीन्द्र के मत मे लक्षणा किसे कहते हैं?
4. अध्यारोप तथा अपवाद इन दोनों के द्वारा किस प्रकार से तत्वपदार्थ का शोधन होता है?
5. "तत्त्वमसि" इस महावाक्य में तत्पद का लक्ष्यार्थ तथा वाच्यार्थ लिखिए।
6. "तत्त्वमसि" इस महा वाक्य में त्वपद के लक्ष्यार्थ का तथा वाच्यार्थ का वर्णन कीजिए।
7. "अयमात्मा ब्रह्म" इस महावाक्य का पञ्चदशीकारों के मतानुसार प्रतिपादन कीजिए।
8. अजहत् लक्षणा किसे कहते हैं? उदाहरण के साथ लिखिए।
9. केवल लक्षणा किसे कहते हैं, उदाहरण पूर्वक लिखिए।
10. अपवाद किसे कहते हैं?
11. अज्ञान के अनिर्वचनीयत्व का प्रतिपादन कीजिए।
12. लक्षित लक्षणा किसे कहते हैं उदाहरण पूर्वक आलोचना कीजिए।
13. सम्बन्धत्रय के द्वारा "तत्त्वमसि" इस महावाक्य के अखण्डार्थत्व का विचार कीजिए।
14. "तत्त्वमसि" इस महावाक्य में लक्षणा सम्भव है अथवा नहीं वेदान्तपरिभाषाकार के मतानुसार विचार उपस्थापित कीजिए।
15. "तत्त्वमसि" इस महावाक्य में जहत् लक्षणा किस प्रकार से नहीं है?
16. "तत्त्वमसि" इस महावाक्य में जहत् लक्षणा किस प्रकार से सङ्गत नहीं है।?

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 20.1

1. "तत्त्वमसि" यह महावाक्य है।

2. "अयमात्मा ब्रह्म" इस प्रकार से।

3. जिसके द्वारा स्तुति की जाती है वह ऋचा कहलाती हैं ऋचाओं का समूह ऋग्वेद कहलाता है।

4. "ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ञात्वाऽमृतमश्नुते। अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।" (13/12) इति।

5. मुण्डकोपनिषद् में कहा गया हैं कि "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (2/2/11) इस प्रकार से।

6. वस्तु में अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप होता है।

7. अपवाद वस्तु में भास मान अवस्तु अज्ञानादि का प्रपञ्चमात्र होता है।

8. अज्ञान सत् तथा असत् के द्वारा अनिर्वचनीय त्रिगुणात्मक ज्ञानविरोधी भावरूप जो कुछ होता है।

9. वेदान्तपरिभाषाकार के मतानुसार तात्पर्य अनुपपत्ति ही लक्षणा है।

10. जहाँ पर विशिष्ट वाचक शब्द विशेषणरूप के एकदेश को छोड़कर के विशेष्य रूप एकदेश का बोधक होता है वहाँ भागत्यागलक्षणा होती है।

11. श्वेताश्वतरोपनिषद में यह कहा है कि "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।" (4/5) इति।

12. लक्षणा दो प्रकार की होती है। केवल लक्षणा तथा लक्षित लक्षणा। प्रकारान्तर से लक्षणा तीन प्रकार की होती है। जहत् लक्षणा अजहत् लक्षणा तथा जहत् अजहत् लक्षणा।

ध्यान दें:

21

साधना-1

मोक्ष नाम के परमपुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए अद्वैतवेदान्त में प्रपञ्च को बताया गया है। जो बन्धन का अनुभव करता है उसको मोक्ष प्राप्त करना चाहिए। जो बन्धन का अनुभव नहीं करता है लेकिन अन्यों की चेष्टाओं को देखकर के अपने बन्धन का भी अनुमान लगा लेता है तथा वह भी यहाँ पर मोक्ष पथ को ग्रहण कर सकता है। बन्धन से मोक्ष की प्राप्ति तक जो भी साधन हैं उनका क्या क्रम होता है। किस साधन से क्या प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार से अनेक विषय मुमुक्षु की जिज्ञासा करने वालों के होते है। इनके ही उपस्थान के लिए साधन की यहाँ पर पाठ रूप में प्रस्तुति की गई है। साधना का विषय बहुत ही महान तथा बहुत सूक्ष्म होता है। उसको सम्पूर्णरूप से यहाँ पर प्रकट करना सम्भव नहीं है। फिर भी संक्षेप रूप से प्रधान विषयों को यहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

सम्पूर्ण साधनों का विभाजन करके विविध पाठ रचनाएँ की गई हैं।

उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन से आप समर्थ होंगे;

- अनुबन्धों को समास विधि से जानने में;
- अनुबन्धों के ज्ञान की आवश्यकता को जानने में;
- कर्म के रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करने में;
- कर्म का रहस्य जानने में समर्थ होंगे;
- साधना का कारण जानने में;
- अधिकारी तथा उसके द्वारा प्राप्तव्य सम्पत्ति के बारे में जानने में;
- सम्पत्ति के अर्जन के लिए क्या साधन क्रम से करना चाहिए यह विवेक जाग्रत हो करने में;

ध्यान दें:

21.1) भूमिका

वेदान्त के साधन विशिष्ट क्रम के द्वारा तथा विशिष्ट नामों के द्वारा प्रकट किये जाते है। साधक को साधना के द्वारा फल की प्राप्ति हो अतः इसके लिए उस फल की स्पष्टता आवश्यक है।

इसलिए इस विषय को प्रकट करने के लिए अनुबन्ध उपस्थापित किये जाते हैं। स्पष्ट ज्ञान के द्वारा कोई भी मानव पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए प्रयास करता है। क्योंकि

महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया।
पारं दुःखोदधेर्गन्तुं तर यावन्न भिद्यते॥

इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि मानव शरीर बहुत जन्मों में अर्जित महान पुण्यों के द्वारा प्राप्त होता है। यह शरीर एक प्रकार से कायारूपी नौका है। जो हमें दुःख रूपी सागर को पार करने के लिए मिली है। जब तक यह नौका टूट नहीं जाए तब तक हमें इसके द्वारा पार चला जाना चाहिए।

प्रत्येक दिन तथा सम्पूर्ण जीव जन्तु कर्म में रत रहता है। उसके कर्म का वेदान्त की दृष्टि से विवेचन करना चाहिए। उनको यहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

21.2) कर्म

कर्म किये बिना कोई भी प्राणी एक क्षण भी रुक नहीं सकता है। सभी जन्तु कर्म में रत है। कायिक तथा मानसिक भेद से कर्म दो प्रकार के होते है। काम कर्म के हेतुओं का प्रवर्तक होता है। अर्थात् यदि कोई कर्म करता है तो उसकी प्रवृत्ति का हेतु क्या है। तो कहते हैं कि काम ही कर्म का हेतु होता। किस प्रकार से तो कहते हैं कि काम प्रवर्तक तथा प्रेरक होता है। यह काम किस से उत्पन्न होता है। यह काम आत्मज्ञान रहितों से उत्पन्न होता है। अनात्मवान से काम किस प्रकार से उत्पन्न होता है। क्योंकि काम ही अनात्म का फल विषय होता है। अब प्रश्न करते हैं कि यहाँ विषय क्या है। सुख तथा दुःख का परिहार रूपी विषय होता है। तथा उसका उपाय भी।

इसलिए उन कर्मों को शास्त्रों के माध्यम से जानता हुआ अथवा नहीं जानता हुआ भी जन्तु सुख के लाभ के लिए तथा दुःख के परिहार के लिए कर्मों का अनुष्ठान करता है। सुख का कारण धर्म होता है। तथा धर्म के कारण वेदादिविहित काम्य कर्म होते हैं। दुःख का कारण अधर्म होता है। दुःख का कारण वेदादिविहित निषिद्ध कर्म होते है। जो भी कर्म किये जाते है उनके कुछ फल तो तुरन्त प्राप्त हो जाते हैं। कुछ फल कुछ समय बाद इसी जन्म में प्राप्त होते हैं तथा कुछ फल अगले जन्म में प्राप्त होते हैं। आज के समाप्त कर्म का कालान्तर में फल किस प्रकार से प्राप्त होता है। तो वहाँ पर कहते हैं कि वर्तमान में किया गया कर्म तथा उसका कुछ दृष्ट फल तुरन्त उत्पन्न होता है। लेकिन उस कर्म का अन्तः करण में भी कुछ विशिष्ट संस्कार उत्पन्न होता है। यह संस्कार यदि निषिद्धकर्मजन्य होता है तो वह संस्कार अधर्म तथा पाप इस प्रकार से कहलाता है। धर्म तथा अधर्म दोनों ही फलदान में नियत होते है। अर्थात् उन दोनों का फल प्राप्त होता ही है। इस प्रकार से फल भोग के द्वारा पाप तथा पुण्य की शान्ति होती है। यदि जन्तु निषिद्ध कर्म करता है तथा उसका अनिष्ट फल नहीं चाहता है तो निषिद्धकर्म से उत्पन्न होने वाले पाप के नाश के लिए उसे तुरन्त प्रायश्चित कर्म करना चाहिए।

काम्य तथा निषिद्ध कर्मों को करने पर उनके द्वारा अन्तः करण में उत्पन्न संस्कार आगे कभी

ध्यान दें:

भी फल दे सकते है। इस प्रकार से हमारे साथ बहुत जन्मों में किए गये संस्कार होते हैं। वे सभी भी संचित कर्म कहलाते हैं। उनमें जो कर्म परिपाक वश फल देने में शुरू होता है वह प्रारब्धकर्म कहलाता है। एक जन्म के मृत्युपर्यन्त कारणस्वरूपसुख दुःखात्मकफलदायक कर्म प्रारब्ध कहलाते हैं। प्रारब्ध समाप्त होने पर मृत्यु हो जाती है। उसके बाद संचितकर्मों में जो कर्म फलोन्मुख होते है। उसके बाद संचित कर्मों में जो फलोन्मुख होते है उनके कारण फिर से जन्म होता है। तब वह संचित कर्म फल देना शुरू करते हैं और अब वे प्रारब्ध कहलाते हैं। प्रत्येक जन्म में मानव जो कर्म करता है। उसका धर्माधर्मरूप संस्कार विशेष होता है। इसलिए प्रत्येक जन्म में जो कर्म किए जाते है। वे क्रियमाण कर्म कहलाते हैं। इस प्रकार से एक ही जन्म में प्रारब्धों का क्षय होता है तथा नूतन संचित की उत्पत्ति होती है। वह संचित कर्म परिपक्व होने पर प्रारब्धत्व के रूप में परिणित होता है। इस कारण से जन्तु जन्म जन्मांतरों को प्राप्त करता है। वहाँ केवल मनुष्य लोक की ही कर्म भूमि होती है जिसमें कर्म करनें पर धर्म तथा अधर्म उत्पन्न होते है। पशु पक्षी आदि की तिर्यग् योनि केवल भोगों को भोगने के लिए ही होती है। वहाँ पर किए गये कर्मों के धर्म तथा अधर्म नहीं होते हैं। पूर्व जन्मों में किए गए कर्म फलोन्मुख होकर धर्म तथा अधर्म के फलोपभोग ही होते हैं। वैसे ही महान् पुण्य के प्रताप से प्राप्त देवशरीर की भी स्थिति होती है। वहाँ पर भी पूर्वकृत पुण्य का फलोपभोग होता है। जब पुण्यों का क्षय होता है।तब फिर मृत्युलोक में जन्म होता है। इसलिए भगवान श्री कृष्ण ने श्रीमद्भगवद् गीता में कहा है।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। (गीता 9.21)

अर्थात् - वे सोमापान आदि के द्वारा पापरहित होकर पुण्यों के फल को लेकर के स्वर्ग लोक को जाते हैं। वहाँ पर विशाल स्वर्गलोक का भोग करके फिर पुण्यक्षीण होने पर मृत्यु लोक में आ जाते हैं।

कर्मफलत्व से विविध लोकों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार से श्रुतियों तथा स्मृतियों में भी बहुत प्रकार से प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार से विविध कर्मों के द्वारा विविध जो लोक प्राप्त होते है वे इस श्लोक में संक्षेप से कहे गये है।

शुभैराप्नोति देवत्वं निषिद्धैर्नारकीं तनुम्।
उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवशः॥ (नैष्कर्म्यसि.1.41)

जब तक कोई उपाय नहीं किया जाता है। तब तक संचित कर्म प्रारब्धत्व के रूप में परिणित होते जाते है। इसलिए जन्म होता है। उस जन्म में प्रारब्ध का नाश तो होता है, लेकिन क्रियमाण कर्म संचितत्व के रूप में परिणित होते है। संचित कर्मों में बहुत प्रकार के कर्म होते हैं। उनमें से कोई भी एक परिपक्व होकर के प्रारब्धत्व के रूप में परिणित होता है। इस प्रकार से कर्म चक्र चलता ही रहता है। कर्म फल को देने मे नियत होते हैं। अर्थात् किए गए कर्म का फल तो होता ही है जबतक उसके परिहार का उपाय कल्पित नहीं किया जाए। इस प्रकार से कर्म ही बलपूर्वक जन्म करवाते है तथा मृत्यु करवाते है। सुख तथा दुःखों का भोग भी करवाते है। यह ही बन्धन है जो चक्र के समान जन्म तथा मृत्यु के रूप मे प्रवर्तित होता है। यह संसार चक्र कहा जाता है। इस बन्धन से बचना ही मोक्ष कहलाता है।

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्न 21.1

1. महता महानपुण्यपण्येन इत्यादि श्लोक को लिखकर के उसके सरलार्थ को लिखिए।
2. कर्मप्रवृत्तिकारणपरम्परा को लिखिए।
3. किस को नहीं करके जन्तु एक भी क्षण नहीं रुक सकता है।

   (क) कर्म

   (ख) उपासना

   (ग) धर्म

   (घ) प्रायश्चित्त
4. कर्म का हेतु क्या होता है?

   (क) शरीर

   (ख) काम

   (ग) प्रारब्ध

   (घ) सञ्चित
5. सुख का कारण क्या है?

   (क) धर्म

   (ख) अधर्म

   (ग) कर्म

   (घ) अज्ञान
6. काम्यकर्मजन्य अन्तः करण में कौन-सा संस्कार होता है?

   (क) धर्म

   (ख) अधर्म

   (ग) भय

   (घ) सुख
7. निषिद्धकर्मजन्य अन्तः करण में कौन-सा संस्कार होता है?

   (क) धर्म

   (ख) अधर्म

   (ग) भय

ध्यान दें:

(घ) सुख

8. कौन-से कर्म संचित कर्म होते हैं?

(क) पूर्वजन्म में किय गये कर्म जो फलदान प्रारब्ध नहीं होते हैं।

(ख) पूर्वजन्म में किए गये कर्म जो फल प्रदान करने में प्रारब्ध होते हैं।

(ग) इस जन्म में किए गए कर्म।

(घ) अगले जन्म में करिष्यमाण कर्म।

9. स्वर्गादि लोकों को जाकर के फिर मनुषादेहादि प्राप्ति होती है। यहाँ पर प्रमाण वचन क्या है?

21.3) साधना का कारण क्या है

मानव का अन्त: करण तीन दोषों के कारण दूषित होता है। वे तीन दोष है मल, विक्षेप तथा आवरण। मल के अशुद्ध चित्त विषयों में आकृष्ट होता है। वह ही चित्त विक्षेप कहलाता है। विक्षेप होने से एकाग्रता नहीं होती है। एकाग्रता के अभाव में निदिध्यासन सम्भव नहीं होता है। निदिध्यासन के अभाव में समाधि नहीं होती है। समाधि के अभाव में आवरण नहीं हटता है। इसलिए मोक्ष नहीं होता है। अत: मल के नाश होने से विक्षेप का नाश होता है। तथा विक्षेप के नाश होने से ही आवरण का नाश सरलता से हो जाता है।

चित्त का मल

चित्त का मल क्या होता है। किस प्रकार से चित्त मलिन होता है। चित्त मे मल है इसे कैसे जाना जाता है। तथा चित्त के मल की शुद्धि किस प्रकार से की जाती है। चित्त की शुद्धि हो गई अथवा नहीं हुई इसको कैसे जाना जा सकता है। चित् शुद्ध होने के बाद क्या करना चाहिए।

चित्त का मल पापा होता है। निषिद्धकर्मों के आचरण से पाप उत्पन्न होता है। पाप से आपन्न चित्त मलिन हो जाता है। निषिद्धकर्मों के आचरण से वासना के द्वारा चित्त मलिन होता है। नित्य आदि निष्काम कर्मों के द्वारा चित्त की शुद्धि करनी चाहिए। निषिद्ध कर्मों के आचारणों की जब गति होती है तब चित्त का मल भी कम होता चला जाता है। इसी विषय को गीता की सहायता से आगे विस्तारपूर्वक कहा जाएगा। चित् शुद्ध हो जाने पर उसके बाद चित्त के विक्षेप के नाश के लिए उपासना करनी चाहिए।

चित्तविक्षेप

चित्त का विक्षेप क्या होता है। किस प्रकार से चित्त विक्षिप्त होता है। चित्त विक्षिप्त है इसका किस प्रकार से ज्ञान होता है। विक्षेपचित्त की शान्ति किस प्रकार से करनी चाहिए। चित्त शान्त है अथवा नहीं इसे किस प्रकार से जानना चाहिए। चित्त की शान्ति होने पर क्या करना चाहिए।

चित्त का चाञ्चल्य ही चित्त का विक्षेप कहलाता है। विषयों के प्रति चित्त का आकर्षण ही विक्षेप होता है। चित्त मलिन होता है । तो भोग्य वस्तु का आकर्षण होता है। जिससे चित्त में विक्षेप उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् चित्त का चाञ्चल्य ही विक्षेप बन जाता है। उपासना के द्वारा चित्त की शान्ति, अर्थात् एकाग्रता सम्पादित होती है। विक्षेप के कम होने से चाञ्चल्य में भी कमी आ जाती है।

ध्यान दें:

चित्त शान्त है अथवा नहीं इसके ज्ञान के लिए जैसे वायु रहित स्थान में स्थित दीपक प्रज्वलित होता है अथवा जैसे जैसे धारा अविच्छिन्न होती हुई गिरती है। उसी प्रकार उपासना करने वाले के ब्रह्म में लगे हुए चित्त की शान्ति होती है।

अज्ञानावरणम्

अज्ञानावरण क्या होता है यह कैसे उत्पन्न होता है। कैसे पता चलता है की यह अज्ञान का आवरण है। तथा आवरण का भङ्गा किस प्रकार से किया जाता है।

अनात्म में आत्मबुद्धि आवरण से होती है। आनात्मों में आत्मबुद्धि से आवरण बढ़ता है। ब्रह्म ज्ञान के द्वारा इस आवरण का नाश होता है।

21.4) अनुबन्ध

संस्कृत की परम्परा में ग्रन्थकार चार प्रकार के अनुबन्धों को प्रत्यक्ष रूप से तथा परोक्ष रूप से ग्रन्थ के आदि में उपस्थापित करते हैं। वे होते हैं अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन। इन चारों का समुदाय ही अनुबन्ध चतुष्टय कहलाते हैं। जो अपने ज्ञान के द्वारा बाँधते है, शास्त्र तथा ग्रन्थ में प्रेरित करते है वे अनुबन्ध कहलाते हैं इस प्रकार से यह अनुबन्ध शब्द की व्युत्पत्ति है। उसका इस प्रकार से लक्षण किया जाता है। ग्रन्थप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वम्। ग्रन्थ में प्रवृत्ति का जो प्रयोजक जो ज्ञान विषय होता है वह अनुबन्ध कहलाता है। तथा जिस विषय को जानते हुए ग्रन्थ में प्रवर्तित होते है वह अनुबन्ध कहलाता है। इसलिए ग्रन्थ के आदि में अनुबन्धों को उपस्थापित किया जाता है। वह परम्परा इस प्रकार से है।

ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥ (श्लोकवार्तिकम् 1.1.17)

श्रोता तथा ज्ञाता ग्रन्थ के अर्थ तथा सम्बन्ध को जानकर के ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत होते है। इसलिए ग्रन्थ के आदि में विषय सम्बन्ध तथा प्रयोजन इनका उल्लेख किया जाता है।

इसलिए भट्टपाद के द्वारा श्लोकवार्तिक मे कहा गया है।

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते॥
प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।

वे अनुबन्ध यहाँ पर श्लोकबद्ध है

अधिकारी च विषयः सम्बन्धश्च प्रयोजनम्।
शास्त्रारम्भफलं प्राहुरनुबन्धचतुष्टयम्॥6॥ (स.वे.सि.सा.संग्रहः)

अनुबन्धों के क्रम में भी कोई विशेषता होती है। अधिकारी, विषय सम्बन्ध तथा प्रयोजन इस प्रकार से अनुबन्धों को क्रम से उपस्थापित करने में कोई नियम अवश्य है।वह नियम है की शास्त्र के ज्ञाता के बिना शास्त्र में प्रवृत्ति सम्भव नहीं होती है। इसलिए शास्त्र के ज्ञाता अधिकारी का उल्लेख सबसे पहले किया गया है। भले ही अधिकारी की उपस्थिति होती है। फिर भी जो विषय होते हैं उनका सामान्य ज्ञान तो अधिकारी को ही होता है। क्योंकि विषय ज्ञानहीन अधिकारी की शास्त्र में प्रवृत्ति असम्भव होती है। इसलिए दूसरा अनुबन्ध विषय होता है। विषय के साथ शास्त्र का अथवा विषय के साथ पुरुष के सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक होता है। इसलिए सम्बन्ध का तृतीय स्थान में उल्लेख किया गया है। प्रयोजन की हमेशा अन्त में अवस्थिति होती है। इसलिए उसका चतुर्थ स्थान में उल्लेख किया गया है।

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्न 21.2

1. मानवों के अन्त: करण के दोष कितने होते हैं तथा वे कौन-कौन से हैं?
2. चित्त का मल क्या होता है तथा चित्त के मल को किस प्रकार से जाना जा सकता है?
3. चित्त का विक्षेप क्या होता है तथा उसे किस प्रकार से जाना जा सकता है?
4. अज्ञान का आवरण क्या होता है? तथा उसे किस प्रकार से जाना जा सकता है।
5. चित् का मल नाशक कर्म कौनसा होता है।

   (क) काम्य

   (ख) निषिद्ध

   (ग) नित्यादिक

   (घ) श्रवणादिक
6. चित्त के विक्षेप का नाशक क्या होता है?

   (क) काम्य

   (ख) निषिद्ध

   (ग) नित्यादिक

   (घ) श्रवणादिक
7. अज्ञानावरण नाश के उपाय किसके द्वारा होते हैं?

   (क) काम्यकर्म के द्वारा

   (ख) निषिद्ध के द्वारा

   (ग) नित्यादिकर्मो के द्वारा

   (घ) ब्रह्मज्ञान के द्वारा
8. अनुबन्ध कितने होते हैं तथा वे कौन-कौन से हैं।

21.5) अधिकारी

न निरोधो न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।

न मुमुक्षुर्न वैमुक्त इत्येषा परमार्थता।। (गौडपादीयकारिका 2.32)

आत्मा कभी भी बद्ध नहीं होती है। जो बद्ध नहीं होती है तो उसके मोक्ष का विचार क्यों किया जाता है। बद्ध को ही मोक्ष के लिए ही साधन करने चाहिए। जो बद्ध ही नहीं है, तो उसको साधना की आवश्यक्ता भी नहीं है। जो बद्ध होता है उसकी ही मुमुक्षा सम्भव होती है। आत्मा तो मुमुक्षु भी नहीं होती है। आत्मा का निरोध भी नहीं होता है। तथा उसकी उत्पत्ति भी नहीं होती है। परमार्थत्व से यह ही स्थिति होती है। फिर भी वह यह सोचता हैं की मैं बद्ध हूँ इसलिए वह बद्ध होता है। और वह ही मोक्ष के लिए यतन करता है। उसको मोक्ष लाभ प्राप्त होता है अथवा नहीं इस ज्ञान के लिए यह विषय प्रस्तुत

ध्यान दें:

किया जा रहा है।

अधिकारी कौन होता है। अधिकारी अधिकृत होता है। सभी जगह जो विद्वान् अर्थ को समझने में समर्थ होता है वह ही अधिकारी समझा जाता है। जैसे किसी व्यक्ति की सम्पत्ति होती है। उसकी सम्पत्ति लाभ मे किसका अधिकार है, कौन अधिकृत है तथा कौन अधिकारी है। तो कहते हैं कि जो उस व्यक्ति का पुत्र होता है। वह ही वहाँ पर अधिकृत होता है। उसी प्रकार से यहाँ पर अधिकारी कौन है तो इससे पहले ये भी जानना चाहिए की वह किसका अधिकारी है। परम पुरुष को जो चाहता है वह अधिकारी है।

वेदान्त शास्त्र में तो पुरुषपरमत्व के द्वारा मोक्ष की कामना को बताया गया है। कुछ साक्षात् मोक्ष की कामना करते है तो कुछ दूर से। इसलिए मोक्ष प्राप्त करने लिए भी अधिकारी होना आवश्यक है। जैसे कोई वाराणसी जाने का अधिकारी है अथवा नहीं सर्वप्रथम इसकी मीमांसा करते है। सबसे पहले तो उसकी वाराणसी जाने की इच्छा है अथवा नहीं। यदि इच्छा है तो जाने हेतु मार्गव्यय के लिए पर्याप्त धन है अथवा नहीं। यदि धन है तो वह जाने के लिए योग्य है तथा अधिकारी भी है। इतना सब होने पर भी वह वाराणसी को प्राप्त नहीं करता है क्योंकि वहाँ पहुँचने के लिए उसे गमन क्रिया करनी ही पड़ेगी। उसी प्रकार से यहाँ पर भी जिसने साङ्गपूर्वक सभी वेदों का अध्ययन कर लिया है। जो सम्पूर्ण वेद को शुरू से अन्त तक जानता है। जिसका चित्त एकदम शुद्ध तथा एकाग्र है, जिसकी मोक्षेच्छा भी है जिसकी साधनचतुष्टय सम्पत्ति भी है। वह मोक्ष साधना का अधिकारी गिना जाता है। लेकिन केवल इन सब के होने मात्र से ही उसका मोक्ष सिद्ध नहीं होता है। इसके लिए साधनों अनुष्ठान तो करना ही चाहिए। मोक्ष लाभ के लिए गुरु के समीप जाना चाहिए। श्रवणादि कार्य करना चाहिए। इस प्रकार से अधिकारी के रूप में यहाँ पर वेदार्थ को जानने वाला। निर्मलचित्त, एकाग्रचित्त तथा साधनचतुष्टसम्पन्न का ही ग्रहण होता है।

इसी प्रकार से गुरु के द्वारा भी किसी शिष्य के लिए विद्या देना चाहिए तो उसके लिए नीचे श्लोक मे कहा गया है।

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय
प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा
प्रदेयमेतत् सततं मुमुक्षवे॥

प्रशान्तचित्तवाला, शमगुणयुक्त, जितेन्द्रिय,दमगुण युक्त, शुद्ध चित्तवाला, गुरु तथा शास्त्र के द्वारा जिस प्रकार से कहा गया है उसका पूर्ण रूप से जो आचरण वाला अधिकारी कहलाता है। वह विवेक वैराग्य, उपरति, तितिक्षा, समाधान, आदि गुणों से युक्त चाहिए श्रद्धावान् तथा गुरु सेवा परायण होना चाहिए।

किसका अधिकारी

किसका अधिकारी यह प्रश्न उत्पन्न होता है। अर्थात् अधिकारी का अधिकार कहाँ किस वस्तु में कितना होना चाहिए। यह तो स्पष्ट ही है की ग्रन्थ में जो प्रयोजन कहे गये हैं, उन प्रयोजनों के लाभ के लिए अधिकारी ग्रन्थ का अध्ययन करता है। तथा उसमें कहे गये साधनों का अनुष्ठान करता है। इसलिए प्रतिपाद्यमान फल के लाभ के लिए अधिकारी सुस्पष्ट होना चाहिए। वेदान्त के मत में जो मोक्ष का प्रयोजन है। उसके लाभ के अधिकारी वेदान्त ग्रन्थों में कहे गये है। ग्रन्थ को कोई भी पढ़ता है, शाब्दिक अर्थ भी जानता है। फिर भी कोई योग्यता आवश्यक है। फिर भी यदि वह वेदान्त अधिकारी आवश्यक कहे गये लक्षणों से सम्पन्न नहीं होता है तो उसे कहे गये फल की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए

ध्यान दें:

ग्रन्थ के अध्ययन में अधिकारी भले ही कहा गया है। फिर भी वह प्रतिपाद्यमान प्रयोजन के लाभ के लिए अधिकारी हो इस प्रकार से समझना चाहिए। नहीं तो शान्त दान्त उपरति तितिक्षु इत्यादि गुण सम्पन्न वेदान्तसारादि ग्रन्थों के अध्ययन में अधिकारी होता है इस प्रकार की आपत्ति हो जाएगी। क्योंकि नास्तिक भी इस ग्रन्थ को पढ़ते हैं।

वेदान्तसारग्रन्थ में अधिकारी का स्वरूप कहा गया है

अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेन आपाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुर:सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्त: साधनचतुष्टयसम्पन्न: प्रमाता इति।

सरलार्थ जो लौकिक तथा वैदिक व्यवहारों में अभ्रान्त जो जीव होता है। वह ही प्रमाता कहलाता है। स्वाध्यायोऽध्येतव्य: इस श्रुति वचन के अनुसार जो वेदों का साङ्ग विधिवत् अध्ययन करके संशयाविरोधि निश्चयरूप से समग्र वेदार्थ को जानता है।तथा यह जानता है कि कर्तव्यत्तव तथा वर्जनीयत्व का पालन कैसे करना चाहिए। जो काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का त्याग करता है। नित्य नैमित्तिक तथा प्रायश्चित कर्मों के अनुष्ठान से जिसके धर्माधर्म रूपी निखिल कल्मष निकल चुके हैं। कल्मषों के निकल जाने से जिसका अन्त: करण नितान्त निर्मल है। उपासना के अनुष्ठान से जिसका चित्त विक्षेप रहित एकाग्र तथा समाहित है। जो साधनचतुष्टय से सम्पन्न है। वह ही यहाँ पर अधिकारी के रूप में माना जाता है। अर्थात् जो प्रमाता है वह ही अधिकारी है।

इसका सविस्तार आलोचन आगे उपस्थापित किया जाएगा। यहाँ पर ही कहे विषय इस के बाद में प्रतिपादनीय है। फिर भी प्रसक्त-अनुप्रसक्त और भी कुछ विषय उपस्थापित किये जाते हैं। बहुत स्थानों पर तो विषय दृढत्व सम्पादित करने के लिए श्रुति तथा स्मृतियों के वचनों का भी उपस्थापन किया जाएगा। बहुत से स्थानों पर तो भगवान् भाष्यकार आचार्य शङ्कर के वचनों की व्याख्या भी की जाएगी।

अधिकारी के कर्मों में उक्त कर्मों की उपासना तथा इनका अनुष्ठान तभी सम्भव होगा जब प्रमाता ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व इन वेदों का अर्थ सामान्य रूप से जानता होगा। वेदों का अर्थ ज्ञान वेदाङ्गज्ञानपूर्वक ही सम्भव होता है। व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, शिक्षा, कल्प तथा छन्द ये छ: वेदाङ्ग होते है। छ: प्रकार के वेदाङगों साथ ही वेदों के सम्यक् अर्थ का ज्ञान सम्भव होता है। इसके अलावा और कोई उपाय नहीं है। इसलिए वेदों के अर्थ के परिज्ञान के लिए विधि पूर्वक षडङ्ग सहित वेदों का अध्ययन आवश्यक है। इसलिए लक्षण में "विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेन" यह कहा गया है। वर्तमान समय में कुछ लोग भान्ति के कारण विधिविधान का त्याग करके जिस किसी भी क्रम से ग्रन्थों को इधर उधर से पढ़ते है। इसलिए वे वेदोक्त फल को प्राप्त नहीं करते है। वे वीत श्रद्धा वाले होते हैं। इसमें शास्त्र का कोई दोष नहीं है। अत: विधिवत तरीके से ही वेदवेदाङ्गों का अध्ययन करना चाहिए। तब वह सम्प्रदायविद होता है।

यहाँ पर एक प्रश्न होता है कि वेदों में ही वेदान्त का अन्तर्भाव है। यदि वेदाङ्ग सहित विधि का अनुसरण करके कोई वेद का अध्ययन करता है तो उस प्रमाता को वेद के अध्ययन के समय ही वेदान्त तत्व का ज्ञान हो जाता है। फिर उसे अलग से वेदान्तशास्त्र के ज्ञान के लिए योग्यता अर्जित नहीं करना चाहिए। और नहीं गुरु के समीप जाकर के श्रवणादि करना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहतें हैं कि प्रश्न के प्रशमन के लक्षण में आपतत: इस पद का प्रयोग किया गया है। आपातत: इसके प्राथमिक अर्थ होता है कि जो प्राथमिक वेदार्थ को जानता है लेकिन वेदान्त के तात्पर्य को नहीं जानता है उस प्रकार का प्रमाता ही यहाँ पर अधिकारी कहलाता है। इसलिए उसे संशय अविरोधि निश्चयात्मक ज्ञान विधिवत् वेदाध्ययन के द्वारा सम्पादित करना चाहिए। यह संशयाविरोधि निश्चयात्मक ज्ञान क्या होता

है तो कहते हैं कि यदि निश्चय हो जाए तो संशय का निवारण हो जाता है। संशय तथा निश्चय क्या होता है तो कहते हैं कि प्राथमिक वेदाध्ययन के द्वारा जो निश्चय होता है उससे असम्भवाना विपरीत भावना तथा संशय विपर्यय का निवारण नहीं होता है। संशय विपर्यय का निवारण नहीं होने पर ब्रह्म ज्ञान भी नहीं होता है। इनके नाश के लिए अधिकारी को श्रवण मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिए। वेदों का अध्ययन करके काम्यादि कर्मों का त्याग करके नित्यादी अनुष्ठानों को करके चित्त शुद्ध तथा एकाग्र होता है तो संशय तथा विपर्यय की निवृत्ति भी सम्भव होती है। लेकिन जब प्राथमिकरूप से वेदों को पढता है तब वेदाध्ययन का अधिकार भले ही उसको होता है लेकिन फिर भी वह मोक्ष का अधिकारी नहीं होता है। इस प्रकार से संशय विपर्यय के द्वारा प्रतिबद्ध निश्चयात्म ज्ञान ही यहाँ पर आपाततः वेदार्थज्ञान मानना चाहिए।

विधिपूर्वक वेदाध्ययन,वेदार्थज्ञान काम्य तथा निषिद्ध कर्मों का परित्याग नित्यनैमित्तिक प्रायश्चित तथा उपासना का अनुष्ठान इत्यादि कर्मो करने पर भी पूर्वजन्म में जो कर्म किए गये है उनका फल तो प्राप्त होता ही है। जो पूर्व जन्म में इन कर्मों को साधा हुआ होते हैं उसके लिए वर्तमान जन्म में नित्यादि कर्मों की आवश्यक्ता नहीं होती है। यहां पर यह प्रमाण है कि जगत में कुछ विदुर धर्म व्याध आदि पुरुष उत्पन्न हुए है वे द्विजकुलो में उत्पन्न नहीं हुए अपितु अन्य कुलों में उत्पन्न हुए है। उनेक पूर्वजन्म में सम्पादित नित्यादि कर्मों के द्वारा उनका चित्त शुद्ध होता है। इसलिए उनमें ज्ञानोदय दिखाई देता है। उन्होंने इस जन्म में भले ही वेदाध्ययन वैदिककर्मो का अनुष्ठान भले ही नहीं किया है फिर भी वे उसके बिना ही वेदान्त के अधिकारी माने जाते है। अनेक महापुरुष एक ही जन्म में विधि पूर्वक वेदाध्ययन के द्वारा नित्यादिकर्मों के अनुष्ठान के द्वारा वेदान्त में अधिकार के लाभ के लिए प्रयास करते हैं। लेकिन साधारण जन तो बहुत जन्मों में किए गये तपस्यादि बल के द्वारा अधिकारी होते हैं। इसलिए भगवान श्री कृष्ण ने गीता में कहा है-

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ (भ.गी.6.45)

संशुद्ध किल्बिष तथा विनष्ट पाप युक्त वह व्यक्ति होता है जिसके सभी पाप नष्ट हो चुके है। तथा जो बहुत अधिक प्रयास रत है वह योगी पुरुष अनेक जन्मों से परिशुद्ध होता हुआ उस परम गति को प्राप्त करता है।

अर्थात् जो पुरुष विधि का अनुसरण करके शास्त्रोक्त कर्मों का आचरण करता है। उसके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार से बहुत जन्मों में वह शुद्ध होकर के मुक्तिरूप परमगति को प्राप्त करता है। इस प्रकार से इसका यह भावार्थ होता है।

विद्यारण्य मुनि ने पञ्चदशी में कहा है

कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुञ्यते।
नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशु ते॥
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम॥ (प.द.1.30)

भोग के लिए, सुख दुःख के अनुभवों के लिए मनुष्यादि शरीर को प्राप्त करके जीव पुण्यजनक तथा पापजनक कर्मों को करता है। फिर कर्म को करने के लिए पूर्वकृत कर्मों के फल को भोगता है। जबतक पूर्व कृत फलों के उपभोगों का लय नहीं होता है तब तक वह नये कर्मों को नहीं कर सकता है। इसलिए फिर नये कर्मों को करता है। जिस प्रकार से आवर्त (जलाशय) पतित कीट आवर्त से आवर्तान्तर (अन्य जलाशयों में) जाते हैं उसी प्रकार से जीव भी जन्म जन्मान्तरों के फलों को प्राप्त करते हैं। तथा निवृत्ति को प्राप्त नहीं करते हैं। इस प्रकार से बहुत जन्मों के बाद कभी उद्बोध सम्भव होता है।

ध्यान दें:

"सत्कर्मपरिपाकात् ते करुणानिधिनोद्धृताः।
प्राप्य तीरतरुच्छायां विश्राम्यन्ति यथासुखम्॥" इति। (1/31)

जिस प्रकार से कीट सत्कर्म के परिपाक के कारण करुणानिधि कृपालु किसी पुरुष विशेष के द्वारा बचकर नदी के जल प्रवाह से किसी वृक्ष की छाया को प्राप्त करके वहाँ पर जिस प्रकार से विश्राम को प्राप्त करतें है। उसी प्रकार से जीव भी संसार रूपी आवर्त में बहुत जन्मों को भोगकर के सत्कर्म के परिपाक होने से करुणानिधि परमकृपालु गुरु के द्वारा उद्धृत होकर के रक्षित होते है। इसलिए आत्मा की शुद्धि के लिए बहुत जन्म आवश्यक होते हैं यह प्रमाणित हो चुका है। इसलिए अधिकारी के लक्षण में वेदान्तसार में - "अस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा" इस प्रकार से कहा गया है। इस प्रकार से अधिकारी के लक्षण सामान्य रूप से प्रदर्शित किए गये हैं। अब उसका विस्तार आवश्यक है।

अब तक यह तो सिद्ध हो चुका है कि विधिवत् वेदाङ्ग सहित वेदों का अध्ययन करना चाहिए। वह एक जन्म में अथवा बहुत जन्मों में हो। विधिवत् अध्ययन इसका यह अर्थ है की तीन वर्णों वाले ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्यों का उपनय संस्कार करना चाहिए। वहाँ से गुरुगृह में जाना चाहिए। वहाँ पर स्थित होकर के ब्रह्मचर्य का पालन करके वेदाङ्गों के सहित वेदों का अध्ययन करके विधिवत् तरीके से अध्ययन करना चाहिए। वेदान्त के तत्वज्ञान के लिए वेदों का आपाततः अर्थज्ञान होना आवश्यक है। वेदों के अर्थ ज्ञान के द्वारा ही कर्तव्य अकर्तव्यत्व विवेक होता होना चाहिए। वेदों के अध्ययन के लिए गुरुगृह में जाना तथा वेदान्त श्रवण के लिए भी गुरु के समीप जाना इस प्रकार से दो बार गुरु के समीप जाना चाहिए।

21.5.1) वेदान्तोक्त मार्ग का अधिकारी के द्वारा कहाँ से अनुसरण करना चाहिए।

निरुपाधिद्वेषविषयीभूत चित्तवृत्ति दुख होती है। वह दुःख फिर चित्तधर्म हो जाता है। और वह बुद्धितत्व का परिणाम विशेष होता है। वह रजो गुण का कार्य होता है। दुःख तीन प्रकार का होता है। आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक। वहाँ पर आध्यात्मिक दो प्रकार का होता है शारीरिक तथा मानसिक। शरीर वातपित्तलेष आदि के वैषम्य के निमित्त होता है। तथा मानस काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या आदि विषयों के विशेष दर्शन के निबन्ध से होता है। इस प्रकार से यह सभी दुख आन्तरोप्यसाध्यत्व से आध्यात्मिक दुःख कहलाता है। बाह्य साधनों से जो दुःख होता है वहा दो प्रकार का होता है। आधिभौतिक तथा आधिदैविक। वहाँ आधिभोतिक दुःख मानुष पशुपक्षी सरीसृप आधिस्थावरों के कारण होता है। तथा आधिदैविक यक्ष राक्षस विनायक तथा ग्रहों के कारण होता है।

दुःख तीन प्रकार का होता है। उनकी निवृत्ति विभिन्न उपायों के द्वारा सम्भव होती है। तीन प्रकार के दुःखों के नाश को सभी चाहते हैं। औषधि आदि के द्वारा रोगादि दुःख दूर हो जाते हैं। भोजनादि के द्वारा क्षुधादिजनित दुःख दूर हो जाते हैं। तथा शस्त्रास्त्रादि के द्वारा चौरव्याघादि भजजिनित दुःखों की निवृत्ति होती है। तन्त्र मन्त्रादि के प्रयोग से प्रेत पिशाचादि के दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार से इनके अनेक उपाय होते हैं। इन दुःखों के सत् होने के कारण में वेदान्त दर्शन दुःखों के नाश के लिए प्रवर्तित हुआ है। वेदान्त मत के अनुसार तो अविद्या तथा उसका कार्य यह जगत होता है। इन दोनों की निवृत्ति जब होती है तब ही वस्तुतः दुखों की निवृत्ति सम्भव होती है। अब कहते है कि दुःखों की निवृत्ति तो पूर्व में बताए हुए प्रकारान्तर उपायों के माध्यम से भी हो रही थी फिर वेदान्त की आवश्यकता क्या है, इस प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। तो कहते हैं कि यह तो सत्य है की औषधि आदि के माध्यम से दुःखों की निवृत्ति सम्भव होती है। लेकिन वह आत्यन्तिक नहीं होती है। अर्थात् जिस निवृत्ति के बाद

ध्यान दें:

में फिर दु:खों की उत्पत्ति नहीं होती है वह आत्यन्तिक निवृत्ति कहलाती है। आत्मज्ञान के बिना आत्यन्तिक निवृत्ति सम्भव नहीं होती है। औषदि आदि के द्वारा भले ही दु:ख की निवृत्ति होती है। फिर भी एकान्ततया निवृत्ति नहीं होती है। अर्थात् ये उपाय एकान्त उपाय नहीं माने जाते है। एकान्त इसका अर्थ है निश्चयरूप से फलदायी। वेदान्त के द्वारा दु:ख की निवृत्ति निश्चय पूर्वक होती है। इसलिए वेदान्त एकान्तोपाय कहा जाता है। अत: वेदाक्तमार्ग का ही अनुसरण करना चाहिए यह सिद्धान्त होता है।

पाठगत प्रश्न 21.3

1. वेदान्त के अधिकारी का किसमें अधिकार होता है?

   (क) ग्रन्थाध्ययन में

   (ख) वेदान्तश्रवण में

   (ग) नित्यादिकरण में

   (घ) मोक्षलाभ में

2. वेदान्तशास्त्र में पुरुष परमत्वरूप से क्या कामना करता है?

   (क) स्वर्ग की

   (ख) मोक्ष की

   (ग) बन्धन की

   (घ) दु:खनाश की

3. वेदान्त में कहे गये प्रयोजन के लाभ के लिए अधिकारी कौन होता है?

4. वेदान्तसार में कहे गये अधिकारी के लक्षण में आपातत: इसके द्वारा क्या समझना चाहिए।

5. नित्यादि कर्म प्रत्येक जन्म के कर्तव्य होते हैं अथवा नहीं प्रस्तुत कीजिए।

पाठ सार

इस पाठ में साधना का उपक्रम किया गया है। मनुष्य जन्म बहुत ही दुर्लभ है वह बहुत पुण्यों के साधन के स्वरूप प्राप्त होता है। इसलिए प्राप्त मानव जन्म किस प्रकार से सर्वोच्चपुरुषार्थ के लाभ के लिए ही व्यय किया जाए इस विषय को भूमिका को प्रकट किया गया है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त शरीर तथा मन से कर्मों को कर्ता हुआ मनुष्य उनका फल प्राप्त करता ही है। इसलिए कर्मों का परिणाम धर्म अधर्म तथा चित्त शुद्धि तीन प्रकार का होता है। इस प्रकार कर्मों के संचित प्रारब्ध तथा क्रियमाण माध्यमें तीन विभाग भी किए गये है। वेदादि शास्त्रों के ज्ञान से आचरण से स्वर्गादि अनित्य कर्मजन्यत्व की प्राप्ति होती है इसमें श्रुति तथा स्मृति प्रमाण रूप में है।

मल विक्षेप तथा आवरण इन तीन दोषों के नाश के लिए साधना का उपदेश दिया गया है। निष्काम कर्मयोग के द्वारा मल का नाश होता है। उपासना के द्वारा विक्षेप का तथा ब्रह्मज्ञान के द्वारा अज्ञानावरण का नाश होता है। इनका उपस्थापन इस पाठ में किया गया है।

जिसको ज्ञान होता है। वह पुरुष इन कर्मों की और प्रवर्तित होता है।

इस प्रकार से यह अनुबन्ध की स्थिति होती है।

वेदान्त के अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन भेद से चार प्रकार के अनुबन्ध होते हैं।

अधिकारी यह एक महान विषय है। मुख्य रूप से वेदार्थ को जानने वाला निर्मलचित्त एकाग्रचित्त तथा साधनचतुष्य से सम्पन्न अधिकारी के रूप में गिना जाता है। ये विषय यहाँ पर क्रम से प्रतिपादित किए गये हैं। इन विषयों का इस पाठ में सामान्य रूप से आलोचन किया गया है। आगे के पाठ में भी इन ही विषयों का अनुसरण किया जाएगा।

ध्यान दें:

पाठान्त प्रश्न

1. सञ्चित् तथा प्रारब्ध किसे कहते हैं?
2. कर्मबन्धनों का वर्णन कीजिए?
3. कर्मभोग योनि का परिचय दीजिए?
4. मानवों के अन्तः करण तीन दोषों का परिचय दीजिए?
5. चित्त के मल की मीमांसा कीजिए?
6. चित्त के विक्षेप की मीमांसा कीजिए?
7. अनुबन्ध के अर्थ का विवरण दीजिए?
8. वेदान्त सार में अधिकारी का लक्षण क्या बताया गया है उसका विवरण दीजिए?
9. अधिकारी कौन होता है इसका विचार कीजिए?
10. अनेक जन्मों में साधनो के अनुष्ठान से किस प्रकार का अधिकारी होता है इसक वर्णन कीजिए?
11. वेदोक्तमार्ग का अधिकारी के द्वारा किस प्रकार से अनुसरण करना चाहिए?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 21.1

1. महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया।

   पारं दु:खोदधेर्गन्तुं तर यावन्न भिद्यते।।

   मानव शरीर बहुत जन्मों में महान पुण्यों के द्वारा प्राप्त होता है। यह शरीरकाया रूपी एक नौका होता है। जो दु:ख सागर से पार जाने के लिए प्राप्त हुआ है। जब तक यह नौक खराब नहीं हो जाती तब तक इसके द्वारा इस संसार से पार जाने का प्रयास कर लेना चाहिए।
2. जो अनात्मवान होता है उसमें काम का उद्भव होता है। काम ही अनात्मफल का विषय होता है। काम प्रेक तथ प्रवर्तक होता है। इसलिए काम कर्मों में प्रवृत्ति उत्पन्न करता है।
3. (क)
4. (ख)

ध्यान दें:

5. (क)

6. (क)

7. (ख)

8. (क)

9. ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। (गीता 9.21)

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 21.2

1. मानवों का अन्तः करण तीन प्रकार के दोषों से दूषित होता है।वे तीन दोष है मल, विक्षेप तथा आवरण।

2. चित्त का मल पाप होता है। निषिद्ध कर्मों के आचरण की वासना के द्वारा चित्त के मल का बढता है।

3. चित्त के चाञ्चल्यों से विक्षेप होता है,विषयों के प्रति चित्त का आकर्षण विक्षेप कहलाता है। वह चित्त के चाञ्चल्य को बढ़ाता है।

4. अनात्म में आत्मबुद्ध आवरण से होती है। अर्थात् अनात्म में आत्मबुद्ध करने से आवरण बढ़ाता है।

5. (ग)

6. (घ)

7. (घ)

8. अधिकारी विषय सम्बन्ध तथा प्रयोजन इस प्रकार से चार अनुबन्ध होते है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 21.3

1. (घ)

2. (ख)

3. वेदों का जानने वाला निर्मलचित्त, एकाग्रचित्त, साधनचतुष्टय सम्पन्न, वेदान्त प्रयोजन के लाभ में वह अधिकारी कहा जाता है।

3. वेदान्तसार में उक्त अधिकारी के लक्षण में आपततः इस शब्द का तात्पर्य यह है कि शाब्दिक ज्ञान से तो संशय का निरवारण होता है लेकिन आत्मज्ञान के प्रतिबन्धिका असम्भावना विपरीतभावना तथा विवर्त होती है।

4. विधिपूर्वक वेदाध्ययन, वेदार्थ का ज्ञान, काम्यनिषिद्धकर्मों का परित्याग तथा नित्यनैमित्तिक प्रायश्चित तथा उपासनाओं का अनुष्ठान इत्यादि कर्म यदि पूर्व जन्म में किये हुए रहते हैं तो भी उनका फल तो प्राप्त होता ही है। जो पूर्वजन्मों में इन कर्मों को साधते हैं उनके लिए प्रकृत जन्म में नित्यादिकर्मों को करने की आवश्यकता नहीं होती है।

22

साधना-2

ध्यान दें:

पूर्वपाठ में साधना का सामान्य निरूपण किया गया है। वेदान्तसाधनों मे जो क्रम है उसी क्रम का अनुसरण यहाँ पर इन पाठों में किया गया है। मोक्ष विषय प्रत्यक्ष गम्य नहीं होकर के अनुमान के द्वारा गम्य होता है। यह मात्र आगम के द्वारा गम्य होता है। इसलिए साधक की हमेशा यह जिज्ञासा रहती है की प्रमाण भूत आगम क्या है। इसलिए साधनों का जो क्रम है उसका प्रमाणों के साथ इस पाठ में उपस्थापन किया गया है। सप्रमाण ज्ञान होता है तो साधक सन्देह रहित तथा श्रद्धावान होकर के साधनों में प्रवर्तित होता है। इस प्रकार से यह उपन्यास प्रपञ्च प्रारम्भ किया जा रहा है।

उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन के द्वारा आप सक्षम होंगे;

- साधनों में विद्यमान क्रम का सप्रमाण ज्ञान जानने में;
- अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग साधनों के विभाग को जानने में;
- जन्तुओं के मोह का कारण जानने में;
- अज्ञान के नाश का उपाय जानने में;
- संन्यास के भेदों को जानने में;
- काम्यादि कर्म कर्तव्य तथा निषिद्ध कर्मों के बारे में ज्ञान प्राप्त करने में;
- कर्म के भेदों को जानने में;
- गुणों का चित्त में प्रभाव का अनुभव प्राप्त करने में;
- काम्यनिषिद्ध नित्यनैमित्तिक प्रायश्चित्त रूप कर्मों का सविस्तारपूर्वक ज्ञान प्राप्त करने में;
- उपासना को जानने में;

ध्यान दें:

22.1) साधन सोपान

अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्गसाधन

वेदान्त में अन्तरङ्ग साधन तथा बहिरङ्ग साधन इस प्रकार से दो विभाग परिलक्षित होते हैं। अधिकारित्वसम्पादन कर्तव्य तथा साधन बहिरङ्ग साधन कहलाते हैं। गुरु के द्वारा कहे गये उपनिषद् से सम्बन्धित साधन अन्तरङ्ग साधनों में गिने जाते हैं इस प्रकार से यह स्थूलविभाग होते हैं।

परम्परा से प्राप्त साधन ही शास्त्रों में कुछ बहिरङ्गसाधन इस प्रकार से कहे जाते है। अन्तः करणशुद्धिकरण परक चित्तैकाग्र शुद्धि परक साधन, साधन चतुष्टय कहे जाते हैं वो सभी इनके अन्तर्गत होते हैं। कर्मयोगादि नाना प्रकार के साधानों का मुमुक्षुओं को फल प्राप्त करवाने के लिए शास्त्रों में उपदेश दिया गया है।

इस प्रकार से अधिकार के लाभ के लिए करने योग्य साधन बहिरङ्ग साधन कहलाते हैं। तथा अधिकार प्राप्त करने पर करने योग्य श्रवणादि साधन अन्तरङ्ग साधन कहलाते हैं। कुछ स्थानों पर चित्तशुद्धिकारक कर्म तथा चित्तैग्रतासम्पादिका उपासना इस प्रकार से ये दो बहिरङ्ग साधन कहालाते हैं। विवेकादि साधनचतुष्टय अन्तरङ्गसाधनत्व के द्वारा गिने जाते हैं।

अधिकारी के द्वारा बहुत साधनों को करने के लिए उपदेश दिया गया है। उनमें कोई क्रम होता है। इसलिए किस साधन के बाद में कौन सा साधन करें यह बात मुमुक्षुओं को अच्छी प्रकार से जान लेना चाहिए। किसी साधन का किसी भी क्रम में अनुष्ठान करने पर कोई कामाचार नहीं होता है। वह ही क्रम विविध प्रमाणों के साथ बताया जा रहा है।

यथोक्तसाधनसम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या।। (ब्र.सू.शा.भा.1.1.1)

इस वचन से यह ज्ञात होता है की साधनसम्पत्ति के लाभ के बाद ही ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए। इसलिए भाष्य में कहा है

तस्मात् किमपि वक्तव्यं यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा उपदिश्यत इति। उच्यते- नित्यानित्यवस्तुविवेकः इहामुत्रार्थभोगविरागः शमदमादिसाधनसम्पत् मुमुक्षुत्वं च। तेषु हि सत्सु, प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च, शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च। न विपर्यये। (ब्र.सू.शा.भा.1.1.1)

तात्पर्य पूर्व मीमांसा दर्शन प्रतिपाद्य विषय ही धर्मजिज्ञासा का होता है। कुछ लोग कहते हैं की कर्मकाण्ड के बिना ज्ञानकाण्ड सम्भव नहीं होता है। लेकिन धर्म जिज्ञासा के बिना ब्रह्मजिज्ञासा सम्भव होती है। लेकिन यदि नित्यानित्यवस्तु विवेक इहामुत्रार्थभोगविराग शब्दादिसाधन तथा मुमुक्षुत्व नहीं होते हैं तो ब्रह्मजिज्ञासा भी सम्भव नहीं होती है। इसलिए सर्पप्रथम इनको सम्पादित करके ब्रह्म जिज्ञासा करनी चाहिए। तथा धर्म तथा ब्रह्म जिज्ञासा का पूर्व पर भाव नहीं कहा गया है। लेकिन साधन चतुष्टय सम्पत्ति के उत्तर में ही ब्रह्मजिज्ञासा यह क्रम स्पष्टरूप से समझा गया है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।। (गीता 5.12)

सब कर्म ईश्वर के लिये ही हैं मेरे फल के लिये नहीं इस प्रकार निश्चय वाला योगी कर्म फल का त्याग करके ज्ञान निष्ठा में होने वाली मोक्ष रूप परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है। यहाँ पहले अन्तःकरण की शुद्धि फिर ज्ञान प्राप्ति फिर सर्व कर्म संन्यास रूप ज्ञान निष्ठा की प्राप्ति इस प्रकार क्रम से परम शान्ति को प्राप्त होता है इतना वाक्य अधिक समझ लेना चाहिये। परंतु जो अयुक्त है अर्थात् उपर्युक्त निश्चय वाला नहीं है वह काम की प्रेरणा से अपने फल के लिये यह कर्म मैं करता हूँ इस प्रकार फल

ध्यान दें:

में आसक्त होकर बँधता है। इसलिये तू युक्त हो अर्थात् उपर्युक्त निश्चय वाला हो यह अभिप्राय है। करण नाम कार है काम के करण का नाम कामकार है उसमें तृतीया विभक्ति जोड़ने से काम के कारण से अर्थात् काम की प्रेरणा से यह अर्थ हुआ। (शां.भा)

इस भाष्य में भाष्यकार ने साधनों का क्रम इस प्रकार से कहा है सत्वशुद्धि, ज्ञान प्राप्ति, सर्व कर्म सन्यास तथा ज्ञाननिष्ठा। अर्थात् कर्मयोग के द्वारा सत्वशुद्धि उसके बाद परोक्षज्ञान की प्राप्ति उसके बाद काम्यनिषिद्ध नित्य नैमित्तिक रूप जो कर्म है उनका विधिवत् त्याग करना इस प्रकार से सर्वकर्म सन्यास होता है। वहाँ पर अपरोक्ष ज्ञान निष्ठा होती है जिससे विदेहकैवल्यात्म का मोक्ष प्राप्त होता है। जो कर्म योग नहीं करता है। तथा फल की आशा से कर्म करता है वह कर्मबद्ध हो जाता है। तथा संसार चक्र को प्राप्त करता है। इसलिए कर्मयोग का फल भी कहा गया है। और काम्य कर्म का भी फल इस श्लोक में कहा गया है।

इस चित्र के माध्यम से साधनों के सोपानों को दिखाया जा रहा है।

पहले स्तम्भ में साधन हैं तथा दूसरे स्तम्भ में उनके फल है।

जन्तुओं के मोह का कारण क्या है

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ (गीता 5.15)

अज्ञान के द्वारा विवेकियों का ज्ञान आवृत्त है जिससे जन्तु मोहित होते हैं। करता हूँ, करवाता हूँ, भजता हूँ, भजवाता हूँ, इस प्रकार के मोह को संसारी प्राप्त हो जाते हैं।

अज्ञान के आवरण का नाश किस उपाय के द्वारा होता है

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ (गीता 5.16)

जिन जीवों के अन्तःकरण का वह अज्ञान जिस अज्ञान से आच्छादित हुए जीव मोहित होते हैं आत्म विषयक विवेक ज्ञान द्वारा नष्ट हो जाता है उनका वह ज्ञान सूर्य की भाँति उस परम परमार्थ तत्त्व को प्रकाशित कर देता है। अर्थात् जैसे सूर्य समस्त रूप मात्र को प्रकाशित कर देता है वैसे ही उनका ज्ञान समस्त ज्ञेय वस्तु को प्रकाशित कर देता है।

यहाँ पर यह स्पष्ट किया गया है कि अज्ञान का नाश कर्म के द्वारा नहीं होता हैं अपितु ज्ञान के द्वारा ही होता है।

'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे. उ. 3.8)

इस प्रकार से विद्या के अन्य मार्ग मोक्ष के लिए नहीं हैं इस प्रकार से यह श्रुति इन पन्थों का निराकरण करती है।

ज्ञान का आवरण क्या होता है। तथा अज्ञान का आवरण क्या होता है।

ज्ञान का आवरण कर्म तो होने योग्य नहीं है क्योंकि कर्म द्रव्य नहीं होता है। आवरण केवल द्रव्य ही हो सकता है। द्रव्यकार्य आवरण कहलाता है। अज्ञान भाव रूप में होता है। न की अभाव रूप में इसलिए ज्ञान अज्ञान के द्वारा ही आवृत्त होता है।

किस प्रकार का ज्ञान अज्ञान का नाशक होता है?

आत्माज्ञानस्वरूप, चित्स्वरूप तथा चैतन्यस्वरूप होता है।

ध्यान दें:

ज्ञान तथा अविद्या में विरोध तो सुप्रसिद्ध है तो किस प्रकार से अविद्या ज्ञानत्मक आत्मा का आवरण करती है। तब कहते हैं की अविद्या आत्मा की विरोधी नहीं है। अर्थात् ज्ञान रूप आत्मा अविद्या की विरोधी नहीं होती है। अविद्या की विरोधी तो विद्या होती है। उपरोक्त श्लोक में विद्या ही ज्ञान शब्द के द्वारा कही गयी है, यहाँ पर 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों में उक्त ज्ञान नहीं कहा है। विद्या ही बुद्धिरूपी वृत्ति है न की प्रकाश रूप। इसलिए वहाँ पर 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इसमें ज्ञान शब्द का प्रकाश अर्थ है। यह ज्ञान प्रकाश तथा प्रकाशक दोनों ही होता है। इसलिए श्रुतियों में कहा है की उसकी प्रभा से यह सब प्रकाशित होता है। इस प्रकार से यह बुद्धिवृत्ति विद्या आत्मा की आवरक अविद्या का नाश करती है। उससे आत्मप्रकाश उत्पन्न होता है। इसलिए ब्रह्म वस्तु प्रकाशकत्व विद्या का ही कहा जाता है। इस प्रकार से चैतन्यभासित बुद्धिवृत्ती है ज्ञान तथा करण के द्वारा आत्मा के आवरक अज्ञान का नाश करते आत्मा को प्रकाश मान बनाती है। बुद्धि वृत्ति रूप ज्ञान प्रकाशक नहीं होता है। लेकिन प्रकाशकरणात्म ही होता है। प्रकाशात्मज्ञान तो चैतन्य ही होता है।

क्या कारण है जिसके द्वारा जन्तु जन्ममृत्युरूपी संसार का अतिक्रमण करता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ (गीता 5.17)

सरलार्थ जो प्रकाशित हुआ परमज्ञान है उस परमार्थ तत्त्व में जिनकी बुद्धि जा पहुँची है वे तद्बुद्धि हैं वह परब्रह्म ही जिनका आत्मा है वे तदात्मा हैं उस ब्रह्म में ही जिनकी निष्ठा दृढ़ आत्म भावना तत्परता है अर्थात् जो सब कर्मों का संन्यास करके ब्रह्म में ही स्थित हो गये हैं वे तन्निष्ठ हैं। वह परब्रह्म ही जिनका परम अयन आश्रय परमगति है अर्थात् जो केवल आत्मामें ही रत हैं वे तत्परायण हैं (इस प्रकार) जिनके अन्तःकरण का अज्ञान ज्ञान द्वारा नष्ट हो गया है एवं उपर्युक्त ज्ञान द्वारा संसार के कारण रूप पापादि दोष जिनके नष्ट हो चुके हैं ऐसे ज्ञान निर्धूतकल्मष संन्यासी अपुनरावृत्ति को अर्थात् जिस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर फिर देह से सम्बन्ध होना छूट जाता है ऐसी अवस्था को प्राप्त होते हैं।

इसलिए यहाँ पर यह स्पष्ट होता है कि तद्बुद्धि (परोक्ष ब्रह्म ज्ञान शब्द ज्ञान, जैसे गुड़ मीठा होता है यह स्वयं अनुभव नहीं किया अपितु किसी से सुना है, इस प्रकार से वह गुड के माधुर्य को परोक्ष रूप से जानता है।) तदात्मा (ब्रह्मात्मा परोक्ष ज्ञान) तन्निष्ठः (नैरन्तर्येण तत्वस्वरूपानुसन्धानम्) तत्परायण (उसमें रति) ज्ञाननिर्धूत कल्मष अर्थात् वह फिर देह को प्राप्त नहीं करता है अपितु मुक्त हो जाता है।

संन्यास के दो प्रकार

विविदिष संन्यास तथा विद्वत संन्यास के भेद से संन्यास दो प्रकार का होता है।

विद्वत्संन्यास मोक्ष का हेतु होता है। विद्वत् संन्यास में सभी कर्मों का त्याग कर दिया जाता है। विद्वत् संन्यासी परमहंस भी कहलाता है। ज्ञानसहित यह संन्यास होता है। उसका कर्ता आत्मवान कहलाता है।

विविदिषा संन्यास जो करता है वह विविदिषु कहलाता है। और वह कुटीचकादि होता है। विविदिषा संन्यास में कर्म के एकदेश का त्याग होता है, अपरदेश का अनुवर्तन हो जाता है। और वह कर्मयोग की परिसमाप्ति के पहले से ही संन्यास हो जाता है।इसलिए उसके द्वारा कर्मयोग अनुवर्तनीय होता है। यह संन्यास ज्ञानरहित होता है। उसका कर्म आत्मवान कहलाता है।

काम्यकर्मों का त्याग मुमुक्षुओं के द्वारा करना चाहिए।
न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः। (कैवल्योपनिषत् 1.2)

कर्म के द्वारा, प्रजा के द्वारा तथा धन के द्वारा अमृतत्व प्राप्त होता है। क्या एक ही ज्ञानी के त्याग के द्वारा अमृतत्व प्राप्त होता है। अमृतत्व के लिए त्याग ही एक साधन होता है। इस प्रकार से धैर्य के द्वारा यह मन्त्र प्रतिपादित होता है। वैदिक सम्प्रदाय में यह मन्त्र यदि वन्दन मन्त्र के रूप में सुप्रसिद्ध तथा जनप्रिय है। जपपूजापारायणहोमदानध्यान आदि के फलोद्देश से क्रियमाण कर्म होते हैं। इन कर्मों से इष्टफल प्राप्त होते हैं। कर्म से केवल अभ्युदय फल ही प्राप्त होते हैं। न कि मुक्ति। सत्पुत्रों से गृहस्थी लोग अमृतत्व प्राप्त नहीं होता है। धन के द्वारा ही वर्तमान समय में सबकुछ सम्पादित होता है। फिर भी स्वतः सिद्ध स्वाभाविक मोक्ष धन के द्वारा भी प्राप्त नहीं होता है। तो मोक्ष का साधन क्या है। तब कहते हैं की त्याग ही एक साधन है। तथा त्याग से अध्यास के त्याग का ग्रहण किया गया है। अहंता ममता का त्याग तथा आत्मज्ञान के द्वारा अनात्मवस्तु का त्याग होता है। वास्तविक रूप से अविद्या की हानि ही त्याग कहलाता है। त्याग से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। इस मन्त्र को जानते हुए बहुत लोग वेदविहित सभी कर्मों को त्याग देते हैं लेकिन वह उचित नहीं होता है। जिसके द्वारा नित्यादिकर्मों उपासना तथा विवेक साधनाएँ की जाती है उसके द्वारा ही नित्यादि कर्म भी आगे त्यागे जाते हैं। इसलिए कर्मों के त्याग का भी कोई क्रम होता है। उस क्रम को जाने बिना ही जो असम्यक् रूप से कर्मों का त्याग कर देता है वह मोक्ष प्राप्त नहीं होता है। जिस प्रकार से जो बारहवीं कक्षा की परीक्षा को लिखकर के उत्तीर्ण होता है वह ही बारहवीं पास कहलाता है। लेकिन पहली कक्षा में पढ़ता हुआ छात्र बारहवीं कक्षा के योग्य नहीं होता है। तथा उसके द्वारा यह भी नहीं सोचना चाहिए की बारहवीं कक्षा में अध्ययन के द्वारा ही बारहवीं कक्षा पास होती है तो पहले कक्षा में अध्ययन की कोई आवश्यक्ता ही नहीं है। सोपानादिक्रमों का तथा भ्रमादि क्रमों का त्याग नहीं करना चाहिए।

ध्यान दें:

इसलिए महाभारत में कहा गया है

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥ (मो. ध. 241.7)
त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज॥ (मो.ध. 329. 40)

पाठगत प्रश्न 22.1

1. ब्रह्मजिज्ञासा कब करनी चाहिए?
2. धर्मजिज्ञासा के पहले भी ब्रह्मजिज्ञासा सम्भव होती है अथवा नहीं?
3. किन कर्मों का त्याग सर्व कर्म संन्यास कहलाता है?
4. जो फलाशय कर्म करता है उसकी क्या गति होती है?
5. किस प्रकार का ज्ञान अज्ञान का नाशक होता है?
6. ज्ञान का आवरण क्या होता है?
7. अज्ञानावरण के नाश का क्या कारण है?

   (क) ब्रह्मज्ञानम् (ख) उपासना

   (ग) नित्यादिकर्माणि (घ) काम्यादिकर्माणि
8. जन्तु के संसार चक्र में अतिक्रमण करने का लक्षण क्या है?
9. संन्यास के भेद को लिखिए। कौन किस प्रकार के कर्म का त्याग करता है?
10. यदि सभी कर्मों के त्याग से ही मोक्ष होता है तो नित्यादि कर्म क्यों करना चाहिए?

ध्यान दें:

22.1.1) कर्म भेदः

काम्य, निषिद्ध, नित्य, नैमित्तिक, तथा प्रायश्चित इस प्रकार से पाँच प्रकार के कर्म कहे जाते हैं।

1. जिन कर्मों के माध्यम से स्वर्गादि सुखात्म तथा सुखजनक इष्ट फल प्राप्त होता है वे काम्य कर्म कहे जाते हैं।
2. जिन कर्मों का नरकादि अनिष्ट ही फल होता है वे शास्त्र के द्वारा प्रतिषिद्ध कर्म निषिद्ध कर्म कहलाते है।
3. ब्राह्मणादि वर्ण ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का उद्देश्य करने नित्यकर्तव्यता के द्वारा जिन शास्त्रविहित कर्मों को करते हैं वे कर्म नित्य कर्म कहलाते हैं।
4. पुत्रजन्मादिरूप कुछ भी विशिष्ट निमित्त का आश्रय लेकर के जो कर्म करने होते है वे नैमित्तिक होते हैं।
5. प्रकृत जन्म में प्रमादादि वश निषिद्ध करने पर तथ नित्य कर्म नहीं करने पर उनसे उत्पन्न दोष के क्षय के लिए कर्म करना चाहिए वह प्रायश्चित कर्म कहलाता है।

इनमें काम्य तथा निषिद्ध कर्म को छोड़कर के अन्य तीन प्रकार के कर्म अधिकार लाभ करने पर ही करने होते हैं। इनके नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित तथा शास्त्र प्रसिद्ध कर्मों का गुरुजनों के द्वारा कर्तव्यता के द्वारा उपदिष्ट कर्मका मोक्ष साधन के रूप में अनुष्ठान ही वेदान्त शास्त्र में कर्मयोग के नाश से कहा गया है। कर्मयोग के द्वारा चित्त के मल का नाश होता है। और उससे चित्त शुद्ध होता है। निषिद्ध किसी के द्वारा भी नहीं करना चाहिए। फिर भी जो काम्य कर्म वर्णाश्रम कर्म रूप के द्वारा प्राप्त होते हैं तो वे यदि निष्काम भावना के द्वारा किये जाते हैं। तो वे भी चित्त की शुद्धि में कारण होते हैं। इसलिए ही भगवान ने गीता में अर्जुन को वर्णाश्रम धर्म प्राप्त युद्ध करने का उपदेश दिया। नहीं तो युद्ध त्याग का उपदेश देते नित्यादि केवल कर्म के कारण।

22.1.2) चित्तमल

चित्त का मल क्या होता है। किस प्रकार से चित्त मलिन होता है। चित्त में मल है अथवा नहीं इसको किस प्रकार से जान जा सकता है। चित्तमल की शुद्धि किस प्रकार से करनी चाहिए। चित्त की शुद्धि हुई अथवा नहीं हुई इसको कैसे जाना जा सकता है। चित्त की शुद्धि होने पर उसके बाद क्या करना चाहिए।

चित्त का मल पाप होता है। निषिद्ध कर्मों के आचरण से पाप उत्पन्न होता है। निषिद्धकर्मों के आचरण की वासना से चित्त मलिन होता है। निष्काम कर्म के द्वारा चित्त की शुद्धि करनी चाहिए। काम क्रोधादि की लघुता से शुद्धि की मात्रा का अनुमान लगाना चाहिए।

चित्त के शुद्ध होने के बाद उपासान करनी चाहिए। विवेकादि साधनचतुष्टय करना चाहिए। उसके लिए गुरु की शरण ग्रहण करके श्रवणादिक करना चाहिए।

गुणों का चित्त में प्रभाव

ब्रह्मविद्या के द्वारा अविद्यामान संसार की निवृत्ति नित्यनिरतिशयानन्द की प्राप्तिरूप महान प्रयोजन की सिद्धि होती है। लेकिन सभी जीवों के द्वारा स्वरूप प्रतिपादक महावाक्यों के बार-बार सुनने पर भी उनके अन्दर ब्रह्म विद्या का उदय नहीं होता है। यहाँ पर क्या कारण है। तो कहते हैं की कारणों में सबसे

ध्यान दें:

अन्यतम कारण है अन्त:करण की मालिन्य। सत्वरजतमोगुणमय अज्ञान से सत्त्वगुण के प्राधान्य के द्वारा अन्त: करण उत्पन्न होता है। इसलिए ही अन्त: करण त्रिगुणात्मक होता है। तीनों गुणों में सत्वगुण प्रकाशक होता है। रजोगुण कामक्रोधरागद्वेषादि का उत्पादक होता है। तमोगुण प्रमाद आलस्य निद्रामोहादि का जनक होता है। रज के तथा तम के क्षीण होने पर सत्त्वगुण के आधिक्य से अन्त:करण में सभी ज्ञेय प्रकाशक हो जाता है। रजोगुण के द्वारा तथा तमोगुण के द्वारा अभिभूत अन्त:करण दृष्ट स्पृष्ट श्रुत अघ्रात तथा रसित विषय के वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित नहीं कर सकता है। वह इस प्रकार से है जैस चुम्बक में लोहे की आकर्षण शक्ति होती है। लेकिन वह यदि धूली आदि मालिन्य से युक्त होता है तो लोहे का आकर्षण करने में असमर्थ होता है। इसी प्रकार से अन्त: करण भी प्रकाशशील सत्त्वगुण के द्वारा शुद्ध स्वभाव वाला होता हुआ भी रज, तम आदि के योग से अशुद्ध हो जाता है। इसलिए ब्रह्मज्ञान का प्रतिबन्ध होता है। उस ब्रह्म ज्ञान के लिए सर्वप्रथम अन्त: करण की शुद्धि यत्नपूर्वक करना चाहिए। अन्त: करण में विद्यमान सत्त्वगुण से रजोगुण को तथा तमोगुण को दूर करना चाहिए। इसलिए ही अन्त: करण की शुद्धि सत्त्वशुद्धि इस प्रकार से कही गयी है। जिसकी सत्त्वशुद्धि होती है। उसके ही साधनचतुष्टय सिद्ध होते है। साध नचतुष्टय सम्पन्न ही ब्रह्मबोधक वेदान्तवाक्यों को सुनकर के ब्रह्मविद्या को प्राप्त करता है।

कर्म भेद, उनका प्रभाव, साधनों की उपयोगिता। इस विषय में शास्त्रों के प्रमाणों को नीचे उपस्थापित किया जा रहा है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ (गीता 3.4)।

यज्ञादि कर्मों के अनारम्भ से, बिना अनुष्ठन किए कोई भी पुरुष नैष्कर्म्य निष्कर्मभाव को प्राप्त करता है तथा न केलव संन्यास के द्वारा ही अर्थात् केवल कर्मपरित्यग मात्र से ज्ञानरहित नैष्कर्म्य सिद्ध को प्राप्त करता है।

सबसे पहले उन कर्मों को करना चाहिए जो चित्त की शुद्धि करते हैं। उनको किए बिना संन्यास फलवान नहीं होता है। संन्यास का फल तो नैष्कर्म्य होता है। निष्क्रियात्मस्वरूप के द्वारा अवस्थान इस प्रकार से कर्म करना ही कर्मयोग कहलाता है। कर्मयोग का अच्छी प्रकार से अनुष्ठान कर लेन पर ही मुमुक्षु ज्ञानयोग की कल्पना करते हैं। इसलिए कर्मयोग ज्ञानयोग का उपायभूत होता है। यज्ञादि कर्म पापों का नाश करते हैं यदि वे फलों के आशा को त्याग करके किए गए होते हैं तो। पाप ही मल होता है। उस का नाश ही सत्व की शुद्धि होती है। इस प्रकार से भाष्य की भी इसमें सम्मति है

क्रियाणां यज्ञादीनाम् इह जन्मनि जन्मान्तरे वा अनुष्ठितानाम् उपात्तदुरितक्षयहेतुत्वेन सत्त्वशुद्धिकारणानां तत्कारणत्वेन च ज्ञानोत्पत्तिद्वारेण ज्ञाननिष्ठाहेतूनाम् (गीता.भा.3.4)

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मण:।
यथादर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि (महा. शान्ति. 204.8)

पापकर्म के क्षय होने से अर्थात् निषिद्धकर्मों के आचरण से उत्पन्न अधर्माख्य संस्कार का यदि क्षय होता है तब ही ज्ञान उत्पन्न होता है। जब ज्ञान उत्पन्न होता है। तब आत्मा, आत्मा में देखती है। ध र्म के द्वारा पाप दूर होते हैं।

नित्यकर्मपाप नाशक होते हैं इस विषय में गीता की सम्मति है।

यज्ञदानतप:कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चौव पावनानि मनीषिणाम्॥ (गीता.18.5)

यज्ञ दान तथा तप इस प्रकार से ये तीनों तपों का त्याग नहीं करना चाहिए अर्थात् यह कार्य हमेशा करना चाहिए। क्योंकि यज्ञ दान तथा तप मनीषियों को पावन करते हैं।

ध्यान दें:

यह भगवान् वासुदेव का निश्चय है।यहाँ पर कहे गये यज्ञादि काम्य कर्म नहीं हैं।

चित्तशुद्धि ही आत्मशुद्धि कहलाती है। चित्तशुद्धि के बिना संन्यास विफल हो जाता है। इसलिए इसके ही विषय में भगवद्गीता में बाहुल्य से उल्लेख परिलक्षित होता है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये। (गीता 5.11)

काया के द्वारा, मन के द्वारा तथा बुद्धि के द्वारा ममत्ववर्जित केवल ईश्वर के लिए ही कर्म करता हूँ न की स्वयं के फल के लिए। इसप्रकार से ममत्वबुद्धिशून्य इन्द्रियों के द्वारा भी योगीकर्मी कर्म करता है तथा संग को त्यागकर और फल विषयों में सभी जगह ममता को त्याग करके आत्मशुद्धि के लिए अथवा सत्वशुद्धि के लिए कर्म करता है।

दुरितक्षयहेतूनि नित्यानि ब्राह्मणो ययुः।
काम्यानि चेह कर्माणि दृष्टादृष्टफलानि तु॥ (तै.उ.भा.वार्तिकम् 4)

भगवान् भाष्यकार ने किल्बिष पाप को ही गीता के भाष्य में स्पष्ट रूप से कहा है। वह श्लोक यह है

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ (गीता 6.28)

(शांकरभाष्यम्-) योग में लगा हुआ योगी क्रम से सभी पापों से मुक्त हो जाता है। वह सुख के द्वारा अनायास ही ब्रह्म से संस्पृष्ट होकर उस निरतिशय परमतत्व को प्राप्त कर लेता है और-

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ (गीता 6.45)

(शांकरभाष्यम्-)। योगित्व श्रेष्ठ किस कारण से है जो प्रयत्न पूर्वक अधिक साधन में लगा हुआ है वह विद्वान् योगी विशुद्धकिल्बिष अर्थात् अनेक जन्मों में थोड़े-थोड़े संस्कारों को एकत्रित कर उन अनेक जन्मों के सञ्चित संस्कारों से पाप रहित होकर सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुआ सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करके परम गति मोक्ष को प्राप्त होता है।

चित्त की शुद्धि के लिए यज्ञादि अनुष्ठेय कर्मों का उल्लेख बहुत स्थानों पर परिलक्षित होता है। वे यज्ञ कौन से हैं। उन्हें किस प्रकार से करना चाहिए। उनको करने में शास्त्र प्रमाण क्या है इस प्रकार से इस स्थान पर अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं। उनके समाधान में भाष्य कार ने कहा है-

स्मृतिष्वपि भगवद्गीताद्यासु अनभिसन्धाय फलम् अनुष्ठितानि यज्ञादीनि मुमुक्षोः ज्ञानसाधनानि भवन्तीति प्रपञ्चितम्। तस्माद् यज्ञादीनि शमदमादीनि च यथाश्रमं सर्वाण्येव आश्रमकर्माणि विद्योत्पत्तौ अपेक्षितव्यानि। तत्रापि 'एवंवित्' इति विद्यासंयोगात् प्रत्यासन्नानि विद्यासाधनानि शमादीनि, विविदिषासंयोगात्तु बाह्यतराणि यज्ञादीनीति विवेक्तव्यम्
(ब्र.सू.भा.3.4.27)

मुमुक्षु साधनत्व के रूप में यज्ञादिक करता है यहाँ पर यह गीता की सम्मति है।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥ (गीता 17.25)

तत् ऐसे इस ब्रह्म के नाम का उच्चारण करके और कर्मों के फल को न चाहकर नाना प्रकार की यज्ञ और तप रूप तथा दान अर्थात् भूमि? सोना आदि का दान करना रूप क्रियाएँ मोक्ष को चाहने वाले मुमुक्षु पुरुषों द्वारा की जाती हैं।

ध्यान दें:

सभी के अन्त: करण में मल विक्षेप तथा आवरण इस प्रकार से ये दोष होते हैं। मल पाप होता है। वह अतिसूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता है। लेकिन उसका अनुमान किया जाता है। उसी प्रकार से चित्त मलिन होता है। निषिद्धकर्मानुष्ठान से विषयासक्ति के कारण चित्त में अशुभ भावनाएँ भर जाती हैं अर्थात् चित्त मलिन हो जाता है। उसका हेतु निषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान होता है तथा दूसरा हेतु विषयासक्ति है। और तीसरा हेतु चित्तगत अशुभ भावनाएँ हैं। अर्थात् जो वेदादिश्रुतिस्मृतियों के द्वारा निषिद्ध कर्म है उसको यदि वह करता है तो वह पापी कहलाता है। तथा उसके चित्त में मल आ जाता है।

जो विषयों में आसक्त होता है। उसकी आसक्ति के कारण ही चित्त में मल स्थित होता है। इसलिए कारण से ही कार्य होता है। आसक्ति से पार रूपी मल सभी के द्वारा जाना जाता है ।

जिसके चित्त में अशुभ भावनाएँ होती है उसका चित्त मलिन होता है इसमें सन्देह का अवकाश बिल्कुल भी नहीं है।

यह हेतु त्रय जिस पुरुष के होते हैं। वह मलिन होता है। मल की निवृत्ति के लिए निष्कामकर्मभूत यज्ञादि के द्वारा मल का निवारण करना चाहिए। इस प्रकार से ईश्वरनामोच्चारण के द्वारा मल का तथा विक्षेप का निवारण करना चाहिए।

विक्षेप चित्त का चाञ्चल्य होता है। जिसका चित्त वेदान्त के श्रवण में अथवा स्वरूपानुसन्धान में स्थिरता प्राप्त नहीं करता है अपितु विषयाभिमुखी होता है उसके द्वारा ईश्वर का नामोच्चारण अजपामन्त्रावृत्ति ईश्वरमूर्ति का ध्यान तथा निर्गुणब्रह्मानुसन्धान इत्यादि उपाय कहे गये हैं। उपासना आदि के द्वारा भी चित्त की एकाग्रता उत्पन्न होती है।

इस प्रकार से शरीर वाक् तथा मन के द्वारा धन के द्वारा तथा सेवा के द्वारा ईश्वर ही हमें अनन्तकोटिजन्मार्जितसुकृतो के परिपाक से गुरुमूर्ति के रूप में अवतीर्ण होता है। इस प्रकार के सद्गुरु की सेवा के महान लाभ बताए गये हैं।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ (श्वे.उ.6.23)

पाठगत प्रश्न 22.2

1. वेदान्त में कितने कर्म होते हैं तथा वे कौन-कौन से हैं?
2. काम्य की किस प्रकार के आचरण से चित्त की शुद्धि होती है?
3. नित्यादिकर्मों को किस प्रकार अनुष्ठान करना चाहिए?
4. अन्तः करण के षटद्रव्य कौन-कौन से हैं।
5. विषयासक्ति का कारण क्या है?
6. नित्यादि कर्मो से भी अधिक नाम जप की क्या विशेषता है?

22.2) काम्य

दो प्रकार के कर्म त्याज्य होते हैं काम्य कर्म तथा निषिद्ध कर्म।

फलोद्देश्य से क्रियमाण कर्म काम्य कर्म कहलाते हैं। जिस किसी भी फल की आकाङ्क्षा करके

जो कर्म किए जाते हैं वे काम्य कर्म कहलाते हैं। जैसे स्वर्ग की प्राप्ति के लिए क्रियमाण ज्योतिष्टोमयज्ञादि कर्म। मरणानन्तर स्वर्ग की प्राप्ति हो इस फल के लाभ के लिए ज्योतिष्टोमादियाग किए जाते हैं वे काम्य कर्म कहलाते है। काम्यकर्मों का फल अनित्य होता है। यत् कृतकं तदनित्यम् यह नियम होता है।

अर्थात् जो क्रियाजन्य साधन जन्य है वह अनित्य है। फल भोग के बाद फिर उस फल को भोगने की कोई भी इच्छा करता है तो उसे वह कर्म फिर करना चाहिए।

ध्यान दें:

काम्य कर्म का त्याग किस प्रकार से करना चाहिए। काम्य कर्मों का फल स्वर्गादि होते हैं। उनका फल मरने के बाद प्राप्त होता है। काम्य कर्म मरने के बाद फल देते हैं। मरने के बाद कर्म के फलों की उत्पत्ति के लिए फिर जन्म आवश्यक होता है। वह जन्म मृत्यु लोक में हो अथवा स्वर्ग लोक में। जिन कर्मों से पुण्य उत्पन्न होता है वे पुण्यों के फलों को देकर के ही समाप्त होते हैं। फिर फल लाभ के लिए काम्य कर्मों के द्वारा पुण्यों का संचय करना चाहिए। इस प्रकार से यह चक्र प्रवर्तित होता रहता है। इस प्रकार से इसको समझकर के जो इस प्रकार के साध्य तथा साधनभूत काम्यकर्मों से विरक्त हो जाता है वह ही मुमुक्षु कहलाता है। इस प्रकार से यह स्पष्ट हो गया की जो मुमुक्षु होता है। वह साध्यसाधनप्रसूत संसारचक्र की कामना नहीं करता है तो कर्मों को वह त्याग देता है। इसलिए मुमुक्षु के द्वारा काम्य कर्मों का त्याग कर देना चाहिए।

22.3) निषिद्ध कर्म

निषिद्ध ब्राह्मणहननादि कर्म होते हैं जिनके द्वारा नरकादि की प्राप्ति होती है।

वेद के द्वारा जिन कर्मों का निषेध किया गया है वे यहाँ पर निषिद्ध कर्म कहलाते है। ये कर्म पापरूपी संस्कारो को अन्तः करण में उत्पन्न करते हैं और वे संस्कार समुचित काल में विविध दुःखों को तथा नरकादि अनिष्टों को जन्म देते हैं।

निषिद्ध जैसे पाप के द्वारा दुःख को उत्पन्न करते हैं। तथा असम्भावना विपरीत भावना की निवृत्ति में प्रतिबन्धकत्व के रुप में कार्य करते हैं। अर्थात जिससे पाप होता है उस में असम्भावनादि दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिए महावाक्य सुनने के बाद भी उसे जीवब्रह्म के ऐक्य का ज्ञान नहीं होता है। इसलिए पाप के नाश के लिए कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए।

इस जन्म में निषिद्धकर्म यदि प्रमादात् पूर्वक हो जाए तो उससे जन्य पाप उत्पन्न नहीं हो इस प्रकार से कोई चाहता है तो उसके लिए प्रायश्चित का विधान किया गया है। प्रायश्चित कर्म निषिद्धजन्य पाप के प्रतिबन्धक होते है। कर्म के द्वार ही कर्म का नाश किया जाता है। पूर्वजन्मों में किए गये निषिद्धकर्मों का भी इस जन्म में प्रारब्ध के रूप में परिणाम होता है। वह निषिद्ध अब फल देने में परिपक्व होते हैं। उनकी भी शान्ति की कामना की जाती है।

22.4) नित्य कर्म

पूर्वजन्म में किए गए निषिद्धकर्म अन्तः करण में अधर्म के रूप में पाप के अपर नाम से उत्पन्न होते हैं। यह अधर्म रूप संस्कार अगले जन्म में दुःख को जन्म देते है। नरकादि अनिष्टों की प्राप्ति के प्रति कारण होता है। असम्भावना की अनिवृत्ति से तथा विपरीतभावना की अनिवृत्ति से वह प्रतिबन्धक हो जाता है। अर्थात् अधर्म रूप से कहे जाने वाले संस्कार होने पर वेदान्त का श्रवण करने पर भी असम्भावना की निवृत्ति नहीं होती है। तथा न ही विपरीत भावना की निवृत्ति होती है। इसलिए पूर्वजन्म में किए गए निषिद्ध के प्रारब्धत्व के द्वारा परिणित ये विविध दोष होते हैं। उनमें प्रतिबन्धकत्व से स्थित

ध्यान दें:

अधर्म का निवारण मुख्यत्वरूप से आवश्यक होता है। क्योंकि जब तक असम्भावना का निवारण नहीं होता है। तब तक विपरीत भावना का निवारण नहीं होता है। जब तक विपरीत भावना का निवारण नहीं होता है। तब तक अज्ञानावरण का नाश भी नहीं होता है। इस प्रकार से निषिद्धकर्म बहुत अनर्थों के मूल होते हैं। इस उपाय के लिए नित्यकर्मों का विधान किया गया है। इन कर्मो को करने पर तो ये निषिद्ध कर्मों के द्वारा सम्भावित दोषों का भी निवारण करनें में समर्थ होते हैं।

वो है संध्यावंदनादि नित्यकर्म इसलिए श्रुतियों में कहा है अहरह सन्ध्यामुपासीत इस प्रकार से। अनिमित्त होने पर विहित नित्य कर्म होते है।

अकरण में प्रत्ययवायसाधन के रूप में सन्ध्यवंदनादि नित्यकर्म वेदान्त सार में कहे गये हैं। वहाँ पर इसका क्या अर्थ है कुछ लोग कहते हैं कि जो लोग नित्य कर्म नहीं करते हैं तो उनको प्रत्यवाय दोष लगता है। इसलिए संन्यासी को भी नित्य कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। इसी प्रकार से ज्ञान के साथ कर्म भी करना चाहिए। यह ज्ञानकर्म समुच्चय कहलाता है। इसलिए शङ्कराचार्य जी के द्वारा शाङ्करभाष्य में कहा गया है कि-

न हि अग्निकार्याद्यकरणात् संन्यासिन: प्रत्यवाय: कल्पयितुं शक्य:। यथा ब्रह्मचारिणाम् असंन्यासिनामपि कर्मिणाम्। न तावत् नित्यानां कर्मणाम् अभावादेव भावरूपस्य प्रत्यवायस्य उत्पत्ति: कल्पयितुं शक्या, 'कथमसत: सज्जायेत' (छा.उ. 6.2.2) इति असत: सज्जन्मासम्भवश्रुते:। यदि विहिताकरणात् असम्भाव्यमपि प्रत्यवायं ब्रूयात् वेद: तदा अनर्थकर: वेद: अप्रमाणमित्युक्तं स्यात्। विहितस्य करणाकरणयो: दु:खमात्रफलत्वात्। तथा च कारकं शास्त्रं न ज्ञापकम् इत्यनुपपन्नार्थं कल्पितं स्यात्। न चौतदिष्टम्। तस्मात् न संन्यासिनां कर्माणि। अतो ज्ञानकर्मणो: समुच्चयानुपपत्ति:। (गी.भा. तृतीयाध्याये उपोद्घात:)

22.5) नैमित्तिक

नैमित्तिक कर्म पुत्रजन्मादि अनुबन्ध जातेष्ट्यादि होते हैं।

जिसके लिए निमित्त कर्म किए जाते हैं वह नैमित्तिक कहलाता है। किसी निमित्त की उपस्थिति में शास्त्रोपदेश के द्वारा जो कर्म करना होता है वह नैमित्तिक कर्म होता है। जैसे जातेष्ट्यादि यज्ञ। उसी प्रकार से जातेष्ट्यादि यज्ञ विधायक वाक्य है- "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते" इति। जब पुत्र उत्पन्न होता है तब बारह कपालों में पुरोडाश रखकर के वैश्वानरदेव के लिए देना चाहिए। पुत्र जन्म के निमित्त जातेष्टि नामक याग भी होता है। इसलिए वह याग के निमित्तक कर्म होता है।

22.6) प्रायश्चित्त

प्रायश्चित्त पाप क्षय साधन चान्द्रायणादि कर्म होते हैं। मनुष्य मोह से प्रमाद करता है। लोभादि के वश में होकर निषिद्ध कर्मों का आचरण करता है। विहित कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा तथा निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा मनुष्य पाप के भागी होते हैं। और वो किए गए पाप के लिए पश्चाताप भी करते है। तथा इसी जन्म में उस पाप से मुक्ति के प्राप्त करने लिए प्रयास भी करते हैं। इस प्रकार के मनुष्यों के लिए शास्त्रों में प्रायश्चित कर्मों का विधान किया गया है। प्रायश्चित शब्द का अर्थ है "प्राय: तुष्टं चित्तं यत्र तत् प्रायश्चित्तम्" जिसके द्वारा चित्त संतुष्ट हो जाए वह प्रायश्चित्त कहलाता है। यहाँ पर प्राय शब्द का प्रकृष्ट अर्थ लोहे के समान कठोर तप है। अर्थात् जिस व्रत के अनुष्ठान में कठोरता के द्वारा तथा तप से चित्त तुष्ट होता है। वह प्रायश्चित होता है। जिसके द्वारा पापों का क्षय होता है। चान्द्रायण भी एक प्रायश्चित है। चान्द्रायण के विषय में मनुमुनि ने कहा है-

ध्यान दें:

एकेकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत्।
उपस्पृशन् त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम्।। (मनुस्मृतिः 11.216)

प्रत्येक दिन प्रातः, मध्यान्ह तथा शाम के समय स्नान करना चाहिए पूर्णिमा में पन्द्रह मुट्ठी भोजन करके कृष्णपक्ष की प्रतिपदा तिथि से एक एक मुट्ठी भोजन कम करते जाना चाहिए। उसके बाद अमावस्या को उपवास करना चाहिए। उसके बाद में फिर शुक्लपक्ष की प्रतिपदा तिथि में भोजन का आरम्भ करना चाहिए तथा प्रत्येक दिन एकमुट्ठी भोजन बढाना चाहिए इस प्रकार से फिर पूर्णिमा के दिन पन्द्रमुट्ठी भोजन करना चाहिए। इस प्रकार से एक मास पर्यन्त करना चाहिए। इस प्रायश्चित कर्म का नाम चान्द्रायण है। इस प्रकार से अन्य भी प्रायश्चित होते है।

नित्यादि कर्मों का फल

किसी भी कर्म का आवश्यक तथा मुख्यभेद से दो ही फल होते हैं। कदाचित् जो आवश्यक होता है वह ही मुख्य कर्म होने योग्य होता है।इन नित्यनैमित्तिकप्राश्चित्तों का बुद्धिशुद्धि रूपी परम अर्थात् आवश्यक प्रयोजन होता है।

मुख्य प्रयोजन तो विविदिषा आदि होते है। इसलिए श्रुतियों में कहा हैं

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन इति। स्मृतिरपि- तपसा कल्मषं हन्ति इति।

इन नित्यनैमित्तिक तथा प्रायश्चितसोपानों का अवान्तर फल अर्थात् गौंण फल पितृलोक प्राप्ति तथा सत्यलोक प्राप्ति होता है। वहाँ पर यह प्रमाण है। **“कर्मणा पितृलोकः विद्यया देवलोकः”** इस प्रकार से श्रुतियों में कहा है।

इन नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित तथा उपासनाओं के द्वारा परिशुद्ध मन साधन चतुष्टय सम्पादन में समर्थ होता है। इसलिए नित्यादि कर्मों के द्वारा जिस पुरुष का चित्त निर्मल होता है। वह साधचतुष्टय को सम्पादन में स्वयं को नियोजित करता है।

इस प्रकार से इन कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा बुद्धि शुद्ध तथा निर्मल होती है। इसलिए ही इनका आचरण करना चाहिए।

पाठगत प्रश्न 22.3

1. काम्य कर्मों को त्यागने में क्या हेतु है?
2. कौन-कौन से कर्म निषिद्ध कर्म होते हैं?
3. कौन-कौन से कर्म नित्य कर्म होते हैं?
4. कौन-से कर्म नैमित्तिक कर्म होते हैं?
5. प्रायश्चित कर्म कौन-से होते हैं?
6. नित्यादि कर्मों का परम प्रयोजन क्या है?
7. नित्यादि कर्मों का अवान्तर फल क्या है?

ध्यान दें:

22.1) उपासना

उपासना दो प्रकार की होती है। सगुण ब्रह्म विषय तथा निर्गुण ब्रह्मविषया इस प्रकार से सगुण ब्रह्म विषय उपासना में ब्रह्म विद्या के बहिरङ्ग साधनों को गिना जाता है। अथवा परम्परा वाले साधनों को गिना जाता है। निर्गुण ब्रह्मोपासना में तो निदिध्यासन ही होता है। वह अन्तरङ्गसाधन के अन्तर्गत होती है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति के प्रति अन्तरङ्ग साधन होते हैं। मन की एकाग्रता के लिए उपदिष्ट उपासना सगुणब्रह्मविषयक होती है।उसी प्रकार से वेदान्त सार में कहा गया है

"उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि"। (वेदान्तसार:)

जो पुरुष नित्यादि कर्मों को करता है। उसका मन निर्मल हो जाता है। निर्मल मन की एकाग्रता सम्पादन के लिए उपासना करना चाहिए। उप अर्थात् समीप में तथा आस्यते अर्थात् रुकता है वह उपासना होती है।अर्थात् उपासक का चित्त हमेशा उपास्य में ही लग्न होता है। उपासना विद्यारूपी होती है। यहाँ पर विद्या शब्द का अर्थ है कि जिसके द्वारा चित्त उपसास्य में स्थित होता है। वह विद्या कहलाती है। उस विद्या का शाण्डिल्यादि महर्षियों के द्वार उपदेश किया गया है।

सगुण ब्रह्मविषयक दो उपासनाएँ मुख्यरूप से उपनिषदों में सुनी जाती है। अहंकारोपासना तथा प्रतिकोपासना। इन दोनों प्रकार की उपासनाओं के भी अपने फल होते हैं। उन फलों में कामनाओं का परित्याग करके चित्त की शुद्धि के लिए उपासनओं को कर सकते हैं।

यहाँ पर यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि उपासना के द्वारा साक्षात् निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार होता है अथवा परम्परा के द्वारा। यदि उपसना ही साक्षात् ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति कारण है तो फिर श्रवणादि व्यर्थ ही होते हैं। वहाँ पर कहा गया है की उपासना परम्परा के द्वारा ही निर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति निमित्त होता है। किसी एक ही जन्म में उपासनाओं को समाप्त करके श्रवणादि के द्वारा मोक्ष नहीं मिलता है। वह दुर्वासना वासित अन्त:करण वैराग्यादि भावों के कारण श्रवणादि से हीन होता है। इसलिए केवल सगुण की ही उपासना करनी चाहिए। उस उपासना के द्वारा चित्त को सम्पादित करके वह अर्चिरादि क्रम से ब्रह्मलोक को जाता है। वहाँ पर ही श्रवणादि के द्वारा ब्रह्मानुभव को प्राप्त करके वह अमृतत्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार से श्रवणादियों व्यर्थ तत्त्व नहीं होता है। सगुणोपासना की परम्परा से ही ब्रह्मानुभव हेतुत्व होता है। इसको कल्पतरु में इस प्रकार से प्रतिपादित किया है-

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वरा:।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणै:॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्॥ (कल्पतरु: 1.1.7.20)

जो मन्द दुर्वासना वासित अन्त: करण वाले होते हैं वे वैराग्य के अभाव से श्रवणादिसाधनों से हीन होने पर निर्विशेष पर ब्रह्म का साक्षात्कार करने में अक्षम होते है। फिर वे सविशेष निरुपण सगुणब्रह्म की उपासना करके उनकी अनुकम्पा प्राप्त करते हैं। सगुणोपसाना रूपी फल से सगुण ब्रह्म की उपासना से प्राप्त होता है। सगुणब्रह्म की उपासना के अभ्यास से मन उसी ब्रह्म में एकाग्र होने पर वह उसमें उपाधि कल्पना करने पर वह निरुपाधिक ब्रह्म भी सोपाधिक होकर प्रकट हो जाता है।

अन्त: करण की शुद्धि के द्वारा ब्रह्मविद्या की उपायभूत और भी दो उपासनाएँ कही गयी हैं। वे है ध्यान, योग तथा भक्ति योग। ध्यान तथा भक्ति मन से की जाती है। इसलिए ध्यानयोग का तथा भक्तियोग का मानस व्यापार रूप में उपासना के अन्तर्भाव होता है। ध्यान के द्वारा चित्त विक्षेपों के क्षय से चित्त की एकाग्रता होती है। जब भक्ति का विषय सगुण ब्रह्म होता है। तब वह उपासना में अन्तर्भाव्य

ध्यान दें:

होता है। जब उपास्य निर्गुण ब्रह्म होता है। तब निदिध्यासन पद वाच्य होता है। सगुणभक्ति योग का यह वैशिष्ट्य हैं कि इसमें हम उस ब्रह्म के साथ पुत्रत्व, मित्रत्व दासत्व आदि लौकिक सम्बन्धों की कल्पना कर लेते हैं। वह सम्बन्ध जब दृढता को प्राप्त हो जाता है तब चित्त ईश्वर के चिन्तन में लग्न हो जाता है। सगुण ब्रह्म में भक्ति का किस प्रकार से अभ्यास करना चाहिए यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है। नौ सोपानों के द्वारा समन्वित कोई भक्तिमार्ग भक्तों के लिए भागवतमहापुराण में निरूपित किया गया है। यह भक्ति मार्ग नौ प्रकार का होता है। वह इस प्रकार से

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणम् पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।। (भागवतमहापुराणम् 7.5.23)

श्रवणम् सर्वव्यापी विष्णु ईश्वर के नाम तथा महात्म्यों का श्रवण।

कीर्तनम् भगवान के गुणों तथा नामों का सङ्कीर्तन तथा गान।

स्मरण भगवान के विषय में ही हमेशा स्मरण।

अर्चनम् भगवान की पूजा।

वन्दनम् नमस्क्रिया।

दास्यम् भगवान के दास रूप में आचरण।

सख्यम् भगवान के साथ सौहार्द

आत्मनिवेदनम् भगवान में आत्मसमर्पण।

कर्मयोग के अनन्तर ही उपासना से अनुष्ठान में क्या हेतु है।

चित्त का मल ही धर्म तथा अधर्म होता है। वहा अधर्म को किस प्रकार से जान जाता है। निषिद्धाचरण के प्रति आकर्षण होने से अधर्म की सत्ता अन्तःकरण में बढ़ने लगती है। अन्तः करण में जितने निषिद्धकर्मजनित पाप होते हैं वे पाप निषिद्धकर्मो की ओर प्रेरित करते हैं। इसलिए मन विषयों में आकृष्ट होने लगता है। यह निषिद्ध कर्म प्रेरणा भी आगे पाप को जन्म देती है जिसके कारण मन में विक्षेप होने लगता है। इसलिए जबतक चित्त में विक्षेप का कारण उपस्थित रहता है तब तक उपासना अर्थात् एकाग्रता का प्रयास कष्टकारी होता है। इस प्रकार से जब चित्त की शुद्धि होती है। तब आकर्षण का कारण लघुता को प्राप्त कर लेता है। उसके द्वारा उपासना का साफल्य प्राप्त होने लगता है। इसका गीता के छठे अध्याय में प्रमाण दिया गया है। वहाँ पर भगवान श्रीकृष्ण ने जो कहा है उसका सारांश यह पर शांकरभाष्य के साथ उपस्थापित किया जा रहा है।

ध्यान योग का कर्म बहिरङ्ग होता है। उस कर्म में अनाश्रित होकर के वह कर्म करना चाहिए। कर्मयोगानुष्ठान में कर्मफल की तृष्णा का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। क्या कर्म करना चाहिए तो कहते है कि नित्य कर्म करना चाहिए। अग्निहोत्र नित्यकर्म होते हैं। कर्मफल का संकल्प ही चित्त के विक्षेप का हेतु होता है। जो सभी कर्मों को तथा उनके फलों को त्यागता है वह परमार्थ सन्यासी कहलाता है। जो परमार्थ संन्यासी होता है। त्यक्तसर्वधर्मकर्मसाधना के द्वारा सभी कर्मो के तथा उनेक संकल्प में निवृत्त होता है। संकल्प तथा फल का विषय अभिसन्धि कहलाती है। कर्मफल का संकल्प ही चित्तविक्षेप का हेतु होता है। इसलिए जो कोई कर्मी संन्यस्तफलसङ्कल्प वाला यदि होगा तो वह समाधानवान तथा अविक्षितचित्त वाला भी होगा।

ध्यान दें:

फलनिरपेक्ष कर्मयोग ध्यानयोग का बहिरङ्ग साधन होता है। नीचे गीता के कुछ श्लोक दिये गये है यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि कर्मयोग किनके द्वारा करना चाहिए। कितने समय तक करना चाहिए। कर्मयोग सफल होता है अथवा नहीं इसके क्या लक्षण होते है। श्लोक को उपस्थापित करके अन्त में उनका सारांश दिया जा रहा है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ 6.3॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ 6.4॥
उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ 6.5॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ 6.6॥
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ 6.7॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ 6.8॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ 6.9॥

तो ध्यान योग में आरूढ़ होने की इच्छा करता है वह आरुरुक्षु कहलाता है। आरुरुक्षु को कर्म फलों को सन्यस्य करके कर्म करना चाहिए। उसके कर्म का कारण साधन कहलाता है। वह कर्तव्यत्व के द्वारा उपदिश्य होता है। जब वह योगारूढ़ होता है तब कर्म का शम उपशम सभी कर्मों से निवृत्ति के कारण योगारूढ़ का साधन कहलाता है। उनके कर्म का त्याग करना चाहिए। यह कैसे होगा। जब तक कर्मों से उपरती नहीं हो तब तक जितेन्द्रिय होकर के चित्त को लगाना चाहिए। ऐसा होने पर जल्दी ही योगारूढ हो जाता है। उसका व्यास जीने इस प्रकार से कहा है।

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः॥ (म.भा.मो.ध.175.37)

साधक योगारूढ़ हुआ अथवा नहीं यह कैसे समझा जाता है।

इन्द्रियों के शब्दादि अर्थ होते है। नित्यनैमित्तिककाम्य प्रतिषिद्ध कर्म होते हैं। उन अर्थो में प्रयोजन अभाव वाली बुद्धि के द्वारा कर्त्तव्य बुद्धि नहीं करता है तथा उनका सङ्ग भी नहीं करता है। अर्थात् अर्थ से तथा कर्म से जो प्राप्तव्य होता है वह प्रयोजन नहीं होता है। इस प्रकार की उसकी बुद्धि हो जाती है। तब वह अर्थ तथा कर्म में आसक्त नहीं होता है। अर्थात् अर्थ तथा कर्म के द्वारा जो प्राप्तव्य होता है वह प्रयोजन नहीं होता है इस प्रकार की उसकी बुद्धि हो जाती है। तब उसकी अर्थ तथा कर्म में प्रीति नहीं होती है। इस प्रकार से वह सभी कर्मों से सन्यस्त होने के कारण सर्व संकल्प संन्यासी योगारूढ़ कहलाता है।

जिसके द्वारा कार्यकारणसंघातरूप आत्म वश में होती है वह जितेन्द्रिय होता है। उस प्रकार की आत्मा ही आत्म की बन्धु होती है। अन्य लौकिक बन्धु बन्धु नहीं होते हैं। इसी प्रकार से जितात्मा तथा प्रशान्त जिसका अन्तः करण होता है वह प्रशान्तात्मा कहलाता है। तथा शीतोष्णदुःरूपों में वह सम होता है। जिसे शास्त्रोक्त पदार्थों का परिज्ञान होता है। वह उपासनादि करके उन विषयों का ज्ञान भी कर लेता

ध्यान दें:

है अतः वह ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कहलाता है। जो लोष्टाश्म तथा काञ्चन में सम होता है वह योगारूढ कहलाता है। उसके द्वारा कर्म करके तथा उससे जो शुद्धचित्तरूपी फल प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार से वह ध्यान योग के योग्य हो जाता है।

और जो योगारूढ़ होते हैं वे कोई विशिष्ट ही होते हैं। उसका लक्षण है-

जो साधुओं में तथ पापियों में समबुद्धि होता है वह योगारूढों में भी विशिष्ट हो जाता है।

साधु कौन होते हैं तथा पापी कौन होते हैं।

जो प्रत्युपकार की उपेक्षा नहीं करता है तथा स्नेहवान मित्र होता है।जो किसी का भी पक्ष स्वीकार नहीं करता है वह उदासीन होता है। जो दोनों विरुद्ध पक्षों का हितैषी होता है वह मध्यस्थ कहलाता है। जो आत्मा का अप्रिय होता है वह आत्मा का द्वेषी तथा जो सम्बन्धी होता है वह बन्धु होता है। इनमें जो शास्त्रों के अनुसार चलते है वह साधु होते हैं तथा जो प्रतिषिद्धकारी होते है वे पापी होते है।

इस प्रकार से विषय कर्मों में अनुषङ्गहीन सर्वसंकल्पसंन्यासी, जितेन्द्रिय, जितात्मा, प्रशान्त, समाहित, शीतोष्णादिबाह्य द्वन्दों में सम, मानोपमानादि मानस द्वद्वों में सम ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा, कूटस्थ, समलोष्टाश्माकाञ्चन ही योगरूढ़ कहलाता है। उनमें भी जो साधुओं तथा पापियों में समबुद्धि रखता है वह विशिष्ट होता है।

इस प्रकार से योगरूढ़ को आगे ध्यानाभ्यास करना चाहिए।

पाठगत प्रश्न 22.4

1. उपासना के कितने भेद होते हैं तथा कौन-कौन से होते हैं?
2. उपासना का परम प्रयोजन क्या होता है?
3. सगुण ब्रह्म की उपासना के कितने भेद होते हैं तथा वे कौन-कौन से हैं?
4. वेदान्तसार में उपासना के क्या लक्षण बताए गए हैं?
5. सगुणब्रह्मोपासना तथा निर्गुणब्रह्मोपासना इन दोनों के मध्य मोक्ष का साधन क्या होता है?
6. परमार्थ संन्यासी कौन होता है?

   (क.) जो काम्यकर्मों को त्यागता है।

   (ख.) जो उपासना को त्यागता है

   (ग.) जो नित्यनैमित्तिक प्रायश्चित को त्यागता है।

   (घ.) जो काम्य निषिद्ध नित्यनैमित्तिक प्रायश्चित तथा उपसना को त्यागता है।
7. चित्त के विक्षेप का हेतु क्या होता है?
8. ध्यानयोग के बहिरङ्ग साधन कौन-से होते हैं?

ध्यान दें:

पाठ सार

इस पाठ में निष्कामकर्मयोग की उपासना का विषय मुख्यरूप से वर्णित है। उसमें सबसे पहले साधनों में जो क्रम है उसका उपस्थापन किया गया है। उसके बाद वेदान्तसाधनानुकूल कर्म विभाग का प्रदर्शन किया गया है। अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग साधन के निमित्त विभाग का यहाँ पर संक्षेप से प्रकटन किया गया है।

अज्ञान के द्वार ज्ञान आवृत्त होता है। इसलिए जन्तु मोहग्रस्त हो जाता है। भले ही ब्रह्म ज्ञानस्वरूप ही होता है फिर भी वह अज्ञान का विरोधी नहीं होता है। इसलिए उसके द्वारा अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है। चित्त की कोई विशिष्ट वृत्ति ही अज्ञान का नाश करती है। ये विषय उपस्थापित किए गए है।

संन्यास विविदिषा तथा विद्वत्संन्यास के भेद से दो प्रकार का होता है। काम्यकर्म बन्धन करतें है इसलिए उनके त्याग का ही विधान किया गया है। फिर भी फलांशों को त्याग करके अनुष्ठान करते हैं तो चित्त की शुद्धि ही होती है। वहाँ नित्यादिकर्मो के द्वारा चित्त की शुद्धि की जाती है। चित्त की अशुद्धि निषिद्ध कर्मजन्य पाप ही होता है। वह ही मल होता है। उसी का नाश नित्यादिकर्मों के द्वारा किया जाता है। उपासना चित्त के विक्षेप की शान्ति के लिए की जाती है। नित्यादियों के जिस प्रकार से चित्तशुद्धयदि फल होते हैं वैसे ही पितृलोक देवलोक प्राप्ति रूप भी फल होते हैं। इसलिए इन विषयों का भी इस पाठ में वर्णन दिया गया है।

आपने क्या सीखा

- साधनों में विद्यमान क्रम का सप्रमाण ज्ञान
- अंतरंग तथा बहिरंग साधनों के विभाग
- जन्तुओं के मोह का कारण जाना,
- अज्ञान के नाश का उपाय
- संन्यास के भेद
- काम्यादि कर्म, निषिद्ध कर्मों के बारे में ज्ञान
- कर्म के भेद को जाना,
- काम्पनिषिद्ध नित्यनैमित्तिक, प्रायश्चित कर्मों का सविस्तार ज्ञान प्राप्त किया
- उपासना को जाना।

पाठान्त प्रश्न

1. वेदान्त में अन्तरङ्गसाधन तथा बहिरङ्ग साधन इस प्रकार के दो विभाग क्यों किए गए हैं?
2. किस प्रकार का ज्ञान अज्ञान का नाशक होता है विवरण दीजिए।
3. संन्यास के भेदों का वर्णन कीजिए।

ध्यान दें:

4. मोक्ष साधने की अनुपूर्वी को स्पष्ट कीजिए।
5. मुमुक्षुओं को काम्यादिकर्मों का त्याग किस प्रकार से करना चाहिए?
6. कर्मभेदों का वर्णन कीजिए।
7. चित्त के मल को स्पष्ट कीजिए।
8. गुणों का चित्त में प्रभाव किस प्रकार से होता है विस्तार पूर्वक बताइए।
9. नित्यकर्मों का परिचय दीजिए।
10. काम्यकर्मों का सक्षेप में परिचय दीजिए।
11. प्रायश्चित का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
12. नित्यादि कर्मों के फलों के बारे में वर्णन कीजिए।
13. उपासना की विशदता को लिखिए।
14. कर्मयोग के अनन्तर ही उपासना के द्वारा अनुष्ठान में क्या हेतु है।
15. कर्मयोग के द्वारा किसको दूर करना चाहिए जिससे कर्मयोग का साफल्य प्राप्त हो सके।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 22.1

उत्तर-1

1. वेदोक्तसाधनसम्पत्ति अनन्तर ही ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए।
2. धर्मजिज्ञासा के पूर्व भी ब्रह्मजिज्ञासा सम्भव होती है।
3. काम्य, निषिद्ध, नित्य, नैमित्तिक, रूप वाले सभी कर्मों का विधिवत् त्याग ही सर्वकर्म संन्यास कहलाता है।
4. बुद्धिवृत्ति रूपा विद्या आत्मा के आवरक का नाश करती है।
5. जो कर्म योग नहीं करता है वह फलाशय कर्म करता हुआ कर्मबद्ध हो जाता है। तथा संसारचक्र को प्राप्त करता है।
6. ज्ञान का आवरण अज्ञान है न की कर्म।
7. (क) ब्रह्मज्ञानम्
8. तद्बुद्धि तदात्मा तन्निष्ठ ज्ञाननिर्धूतकल्मष जन्तु संसार चक्र का अतिक्रमण करता है।
9. विविदिषासंन्यास तथा विद्वत्संन्यास के भेद से संन्यास दो प्रकार का होता है। विद्वत्संन्यास में सभी कर्मों का त्याग किया जाता है। विविदिषु कर्मयोग अनुवर्तन चित्तशुद्धि होने तक करना चाहिए।
10. भले ही सभी कर्मों का त्याग ही मोक्ष होता है फिर भी चित्त शुद्धि के लिए तथा प्रतिबन्धक निवृत्ति के लिए नित्यादि कर्म करने चाहिए।

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 22.2

1. काम्यकर्म, निषिद्धकर्म, नित्यकर्म, नैमित्तिककर्म तथा प्रायश्चित्तकर्म इस प्रकार से पाँच प्रकार के कर्म माने जाते हैं।

2. जो काम्य कर्म वर्णाश्रमकर्मरुप से प्राप्त होते हैं तो वो भी यदि निष्कामभावना से किये जाते हैं तो वे भी चित्तशुद्धिकारक होते है।

3. चित्त के मल के नाश के लिए अर्थात चित्त की शुद्धि के लिए नित्यादि कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है।

4. अन्तः करण के घटकद्रव्य सत्वरजतम इस प्रकार से तीन गुण होते हैं। वहाँ पर भी सत्त्वरजतमोगुणमय अज्ञान से तथा सत्वगुण के प्राधान्य अन्तः करण उत्पन्न होता है।

5. विषयासक्ति से चित्त मलिन होता है।

6. नित्यादि कर्म चित्त के मल के नाशक होते हैं तथा चित्त की एकाग्रता को सम्पादित भी करते हैं।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 22.3

1. काम्य कर्मो को फल की भावना से करने पर वे अपने फल को देने को लिए फिर से देह धारण करवाते हैं। मोक्ष होने पर तो देहादि धारण नहीं होती है। इस प्रकार से मोक्ष के द्वारा काम्य के फलों का विरोध होता है। इसलिए काम्य कर्मो को त्यागना चाहिए। इस प्रकार से जो कृतक होते हैं वे अनित्य होते हैं इस न्याय के अनुसार काम्यफल अनित्य होते हैं। इसलिए भी अनित्य का त्याग करना चाहिए।

2. नरकादि के साधन ब्राह्मण हननादिकर्म निषिद्धकर्म कहलाते हैं। वेद में जिन कर्मों को निषिद्ध माना है वे यहाँ पर निषिद्ध कर्म कहलाते हैं।

3. अकरण में प्रत्ययवायवसाधनस्वरूप नित्य सन्ध्यावन्दनादि कर्म वेदान्त सार में कहे गये हैं।

4. नैमित्तिक पुत्रजन्मादि जातेष्ट्यादि कर्म होते है अर्थात् जिनके निमित्त कारण होते है व नैमित्तिक कहलाते हैं।

5. प्रायश्चित्त पापक्षयसाधन चान्द्रायणादि कर्म होते हैं।

6. नित्यनैमित्तिकप्रायश्चि कर्मों का बुद्धि शुद्धिरूप आवश्यक प्रयोजन होता है।

7. नित्यनैमित्तिक प्रायश्चित तथा उपासनाओं के अवान्तरफल अर्थात् गौण फल होते हैं जिससे पितृलोक की तथा सत्यलोक प्राप्ति होती है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 22.4

1. उपासना दो प्रकार की होती है। सगुणब्रह्मविषयक तथा निर्गुणब्रह्मविषय।

2. उपासना का परम प्रयोजन चित्त की एकाग्रता है।

ध्यान दें:

3. सगुणब्रह्मविषयक दो प्रकार की उपासनाएँ उपनिषदों में सुनाई देती है। अहङ्कारोपासना तथा प्रतीकोपसना,

4. उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि, इस प्रकार से वेदान्तसार में उपासना का लक्षण बताया गया है।

5. निर्गुणब्रह्मोपासना।

6. (घ) जो नित्यनैमित्तिकं प्रायश्चित्त कर्मों का त्याग करता है।

7. कर्मफलसंकल्प ही चित्त के विक्षेप का हेतु होता है।

8. फलनिरपेक्ष कर्मयोग ध्यानयोग का बहिरङ्ग साधन होता है।

23

साधना-3

ध्यान दें:

अधिकारी विषय सम्बन्ध तथा प्रयोजन इस प्रकार से चार प्रकार के अनुबन्ध होते हैं। उनमें अनुबन्ध के अधिकारी के विषयों का आलोचन किया जाता है वो हैं 1) वेदाध्ययनम् 2) काम्यनिषिद्धवर्जनम् 3) नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तानाम् अनुष्ठानम् 4) उपासना 5) साधनचतुष्टम्।

इसमें उपासना पर्यन्त विषय पूर्व दो पाठों मे प्रतिपादित किए गये है। साधनचतुष्टय केवल अवशिष्ट है जिसे इस पाठ में उपस्थापित करके अवशिष्ट तीन अनुबन्ध, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन के विषय में भी बताया जाएगा। उसके बाद श्रवण मनन निदिध्यासनादि के विषय में भी कहा जाएगा। इस प्रकार से यह पाठ गतपाठ का ही शेष अंश है।

उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन से आप सक्षम होंगे;

- साधनचतुष्टय के विषय में जानने में;
- विषय सम्बन्ध तथा प्रयोजन इन अवशिष्ट अनुबन्धों के विषय में जानने में;
- अधिकारी को कब गुरु के पास जाना चाहिए, इसका निर्धारण करने में;
- श्रवणमनन तथा निदिध्यासनादि को जानने में;
- श्रवण के द्वारा तात्पर्यग्रहण करने के लिए आवश्यक लिङ्गों को जानने में;

23.1) साधनचतुष्टय

मोक्ष में अधिकार की प्राप्ति हेतु साधन चतुष्ट का अनुष्ठान करना चाहिए। वे साधन चतुष्टय है।

1. नित्यानित्यवस्तुविवेक
2. इहामुत्रार्थभोगविराग
3. शमदमादि षट्क सम्पत्ति
4. मुमुक्षुत्व।

ये जो साधन यहाँ पर दिए गए है। उनको एक एक करके नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

ध्यान दें:

23.2) विवेक

नित्यानित्यवस्तुविवेक: अत्र विवेक:। नित्य तथा अनित्य इस प्रकार से दो प्रकार की वस्तु संसार में होती है। उन दोनों में विवेक का विवेचन करना कि कौन-सी वस्तु नित्य है, तथा कौन-सी वस्तु अनित्य है इस प्रकार से विचारपूर्वकज्ञान ही नित्यानित्यवस्तु विवेक कहलाता है। उसे वेदान्तसार में इस प्रकार से कहा गया है।

नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावत् ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमनित्यमिति विवेचनम् इति।

ब्रह्म ही केवल नित्य वस्तु है, उससे भिन्न अखिल आकाशादिप्रपञ्च अनित्य है इस प्रकार का विचार पूर्वक ज्ञान। नित्य वस्तु किसे कहते हैं जो तीनों कालों में होती है वह नित्य वस्तु कहलाती है। भूतकाल में भी थी। वर्तमान में भी है। तथा भविष्य में भी होगी वह वस्तु नित्य कहलाती है। त्रिकालबाध्यत्वं नित्यत्वम्। जो तीनों कालों में होती है वह नित्यवस्तु होती है उस प्रकार का तो केवल ब्रह्म ही है।

ब्रह्म ही नित्यवस्तु है इस प्रकार से यहाँ पर यह प्रमाण है। **"अजो नित्य: शाश्वत:"** (कठोपनिषद् 1.2.18), **"सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म"** (तै.उ. 2.1) इत्यादि श्रुतियों में। ब्रह्मभिन्न अन्य सब अनित्य होते है पूर्व में नहीं थे अभी भी नहीं है तथा भविष्य में भी नहीं होंगे। इस प्रकार से वो तीनों कालों में नहीं होते हैं। अत: उन्हें अनित्यवस्तु भी कहते हैं। त्रिकालबाध्य वस्तु नित्य कहलाती है। नित्य वस्तु भी दो प्रकार की होती है। कूटस्थ नित्य तथा प्रवाह नित्य। ब्रह्म तो कूटस्थ नित्य होता है। ब्रह्म से भिन्न सभी का अनित्यत्व के विषय में "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृ.उ.4.4.19), 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा.उ. 6.2.1), "अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्" (छा.उ. 7.24.1)। इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण भूत है। नित्य वस्तु का तथा अनित्य वस्तु कां अलग करना ही नित्यानित्यवस्तु विवेक कहलाता है।

अब कहते हैं कि ब्रह्म ही नित्य है, अन्य अखिल अनित्य है यह विवेचन यदि निश्चय है तो एक प्रकार का संशय उत्पन्न होता है। इस निश्चय से तो श्रवणादि साधन भी व्यर्थ ही सिद्ध होते हैं क्योंकि यदि संशय होता है तो संशयात्मक ज्ञान से वैराग्यादि उत्पन्न ही नहीं होगा। विवेक वैराग्य के प्रति कारण होता है यह सिद्धान्त है। किस प्रकार का ज्ञान होता है तो कहते हैं कि अनुमानिक ज्ञान। वह अनुमान कृतृत्व तथा अकृतत्व से अनित्य होता है। जो नित्य होता है उसका उसको कुछ भी अधिष्ठान होना ही चाहिए। बिना अधिष्ठान के अनित्य सम्भव नहीं होता है। इस रूप से तो आलोचनात्मक प्रत्ययविशेष ही विवेक पद के द्वारा वाच्य है। इस प्रकार का विवेक करने पर तो ऐहिक तथा आमुष्मिकों से विराग सम्भव होता है। इसलिए विवेक चूडामणि में भी कहा है। -

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चय:।
सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेक: समुदाहृत:॥ इति

ब्रह्म सत्य है तथा जगत् मिथ्या है इस प्रकार का जो विनिश्चय निर्धारण है वह ही यह नित्यानित्यवस्तुविवेक कहा गया है।

नित्य अनित्य वस्तु विवेक जब होता है तब ही द्वितीय इहामुत्रफलभोगविराग में यत्न फलवान होता है। और विवेक से वैराग्य उत्पन्न होता है।

23.3) वैराग्य

इहामुत्रफलभोगविराग यहाँ पर वैराग्य पद का अर्थ है। इस लोक में तथा उस स्वर्ग लोक में

कर्मजन्य जो फल प्राप्त होते है उनके भोग से विरक्ति तथा आसक्ति का अभाव ही इहामुत्रफलभोगविराग कहलाता है। इसलिए वेदान्तसार में कहा गया है

ऐहिकानां स्रक्-चन्दनवनितादिविषयभोगानाम् अनित्यत्ववद् आमुष्मिकाणाम् अपि अमृतादिविषयभोगानाम् अनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिः इहामुत्रफलभोगविरागः इति। (वेदान्तसारः)

इस लोक में होने वाले को ऐहिक कहते हैं। जैसे स्रक् चन्दन स्त्री घर इत्यादि विषय इस लोक मे होते हैं। अर्थात् इस लोक में उत्पन्न होते हैं। इसलिए ये विषय ऐहिक कहलाते हैं। इन विषयों को भोगने से ही जन्तु आत्मा को सुखी मानता हैं। लेकिन ऐहिक वस्तुओं से जो सुख उत्पन्न होता है। वह अनित्य होता है। क्योंकि विषय अनित्य होते हैं। इसलिए उनसे उत्पन्न सुख ही अनित्य ही होता है। इसी प्रकार उस परलोक में प्राप्त होने स्वर्गादि सुखों का अमृतादि विषय भोगों का भी अनित्यत्व होता है। वहाँ प्रमाण है।

तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते। (छा.उ.1.8.16) **इत्यादयः श्रुतयः।**

कर्म के द्वारा चित्त पृथ्वी लोक के भोगों को भोगने से पुण्य क्षीण होते हैं। उसी प्रकार से स्वर्ग लोक भोगों को भोगने से भी स्वर्ग लोक के पुण्यक्षीण होते हैं। "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" इस प्रकार से यह गीता का वचन भी प्रमाण है। इसलिए लौकिक सुख तथा स्वर्ग का सुख दोनों ही अनित्य है। इसलिए उन दोनों से हमेशा विरक्ति अत्यन्तविमुखता इहामुत्रफलभोगविराग कहलाता है। इसलिए विवेकचूडामणी में कहा गया है-

तद्वैराग्यं जुगुप्सा या दर्शनश्रवणादिभिः।
देहादिब्रह्मपर्यन्ते ह्यनित्ये भोगवस्तुनि॥ (वि.चू.21)

अपने देह से लेकर के ब्रह्मलोक पर्यन्त भोग्यवस्तुओं के दर्शन से तथा श्रवण से जो घृणा होती है वह वैराग्य कहलाता है। अर्थात् मनुष्य शरीर अनित्य है इस प्रकार से सभी जानते हैं। ब्रह्मलोक अत्यन्तविशिष्टकर्मज्ञानसाध्य तथा दुष्प्राप्य होता है। इस प्रकार से विशिष्टपुण्य कर्म के द्वारा पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। भले ही वहाँ निवास दीर्घकाल पर्यन्त तक होता है फिर भी वह लोक नित्य नहीं है। ब्रह्मलोक की प्राप्ति के बाद भी सुख का अवसान होता है। जिसे स्मृतियों में इस प्रकार से कहा है

आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

ब्रह्मलोक से लेकर के इस पृथ्वी तक जितने भी लोक हैं वे सभी पुनरावर्ति वाले हैं अर्थात् पुनरावर्ति स्वभाव वाले हैं। हे अर्जुन केवल मुझे ही प्राप्त करने के बाद ही फिर से उत्पत्ति नहीं होती है।

कुछ वस्तुओं को देखकर के यह अनित्य है इस प्रकार से जाना जाता है तथा कुछ वस्तुओं के आप्त जनों से सुनकर के ही उसकी अनित्यता के विषय में जाना जाता है। दोनों प्रकार से भोग्यवस्तुओं के अनित्यत्व के ज्ञान से उन अनित्यों में जो घृणा होती है। वह वैराग्य कहलाता है।

भोग्य विषय दो प्रकार के होते हैं। दृष्ट तथा आनुश्रविक।दृष्ट ऐहिक अर्थात् इस मृत्युलोक में उपलभ्य विषय होते हैं। आनुश्रविक अर्थात् श्रुतियों के माध्यम से ज्ञात पारलौकिक, आमुष्मिक तथा वेदादि विहित कर्म के द्वारा लभ्य होते हैं। उन विषयों में भोगेच्छा का अभाव ही वैराग्य कहलाता है।

ध्यान दें:

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्न 23.1

1. वेदान्त में अधिकारी का विवेक क्या होता है?
2. वेदान्त में अधिकारी का वैराग्य क्या होता है?
3. स्वर्ग फल नित्य होता है अथवा अनित्य प्रमाण सहित बताइए?

23.4) शमादिषट्कसम्पत्ति

शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा तथा समाधान ये छः शमादि षट् सम्पत्ति होती है। साधनचतुष्टय में यह तीसरा साधन है। इससे पहले विवेक तथा वैराग्य दो साधनों का वर्णन किया जा चुका है। अब हम शमादि का क्रम से उपस्थान कर रहे है।

सम्पत्ति क्या होती है? आत्मभाव के अनुरूप ही सम्पत्ति होती है। अनुरूप से तात्पर्य है योग्य। तथा आत्मभाव से तात्पर्य है आत्मा का स्वयं का भाव। जैसे कोई क्षत्रियकुलोत्पन्न व्यक्ति अगर युद्धादि कर्मों से डरता है तो उसमें पर्याप्त क्षत्रियत्व भाव नहीं होता है। भले ही कुछ होता है फिर भी जो परिमाण सामान्य क्षत्रिय में होना चाहिए वह उसमें अभिप्रेत नहीं होता है। अर्थात् उसमें क्षत्रियत्व की सम्पत्ति नहीं है इस प्रकार से कह सकते है। क्षत्रियत्व भाव से तात्पर्य है की उस व्यक्ति में पर्याप्त क्षत्रियत्व होना चाहिए। नहीं तो वह क्षत्रियपद वाच्य नहीं होता है। फिर उसे क्षत्रिय नहीं कह सकते है। अर्थात् उस व्यक्ति में क्षत्रियपद का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है।

इस प्रकरण में शमादि छः सम्पत्तियाँ अभीष्ट हैं। अर्थात् शमादि के अनुष्ठान से गुण आस्वादनीय होते है। उनकी भी विशिष्ट मात्रा अभीष्ट होती है। यदि उतनी मात्रा होती है तो वह मोक्ष के लिए पर्याप्त होती है। तब उस मात्रा को ही सम्पत्ति कह सकते हैं।

23.4.1) शम

"शमस्तावत् श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यः मनसः निग्रहः" इस प्रकार से वेदान्तसार में कहा गया है। वस्तुतः मन का निग्रह ही शम कहलाता है। वेदान्ततत्व के श्रवण मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा ही तत्वज्ञान उत्पन्न होता है। जिस वृत्ति विशेष से आत्मविषयक श्रवणादिभिन्न विषयों से बल पूर्वक मन का निग्रह होता है शम होता है। यदि सम्पूर्ण मन का निग्रह सभी विषयों से हो जाए तो वेदान्त श्रवण भी नहीं हो । इसलिए यहाँ पर श्रवणादिव्यतिरिक्त विषय कहा गया है। इसका फलितार्थ यह हुआ की श्रवणादि विषयों को छोड़कर के अन्य विषयों से मन का निग्रह करना चाहिए। जीव का चित्त अतिशय चपल होता है। वह एक ही विषय में दीर्घकाल तक नहीं रुकता है। भूखे की जिस प्रकार से भोजन की प्रति अभिरुचि होती है। वैसे ही वैराग्ययुक्त पुरुष का मन अभिरुचि सम्पन्न होने से होने पर भी पूर्वसंस्कारवश विक्षिप्त भी हो जाता है। उस दशा में जिस वृत्ति विशेष के द्वारा पार्थिव सुख अनित्य हैं तथा परिणाम में दुःख जनक है।ऐसा विचार करके बलपूर्वक विषयों से जो हटाता है वह शम कहलाता है। विवेक चूडामणी में भी कहा है कि-

विरज्य विषयव्राताद् दोषदृष्ट्या मुहुर्मुहुः।
स्वलक्ष्ये नियतावस्था मनसः शम उच्यते।। (वि.चू.22)

बार-बार हर क्षण दोष दृष्टि के द्वारा दोष देखकर के विषयों से तथा विषयों के समूहों से वैराग्यप्राप्ति करके मन को अपने लक्ष्य ब्रह्मतत्वनियतावस्था में निश्चल रूप से लगाना शम कहलाता है।

ध्यान दें:

23.4.2.) दमः

"दमो बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्" वेदान्त सार में दम की यह परिभाषा दी गई है। बाह्येन्द्रियों से चक्षु कर्म नासिका जिह्वा त्वचा इन सभी को इनके विषयों से हटाना। अर्थात् आखों को रूप से, कानों को शब्द से,नासिका को गन्ध से, जिह्वा को रस से,त्वचा को स्पर्श से जिस वृत्ति विशेष के द्वारा हटाया जाता है वह वृत्तिविशेष दम कहलाती है। यदि सम्पूर्ण रूप से इन्द्रियाँ निवृत्त हो जाए तो वेदान्तश्रवणादि कार्य भी नहीं हो सकेंगे। इसलिए यहाँ पर तद्व्यतिरक्तविषभ्यः कहा गया हैं। अर्थात् श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयों को छोड़कर अन्यों से इन्द्रियों का निवर्तन करना चाहिए।

सबसे पहले अन्तरिन्द्रिय का निग्रह करना चाहिए। उसके बाद बाह्येन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए। इसलिए सबसे पहले शम का निर्देश किया गया है। उस के बाद दम का निर्देश किया गया है । यदि मन वश में होता है तो चक्षु आदि इन्द्रियों का निग्रह सम्भव हो जाता है। मन ही सङ्कल्पवश चक्षु आदि इन्द्रियों के विषयों की और दोड़ता है। वह इस प्रकार से कोई भी पुरुष किसी भी विषय में मन का नियोग करता है। तब उसके सामने रूप आता है तो भी वह उसे नहीं देखता है। सुगीत होता है तो भी वह उसे नहीं सुनता है। इसलिए यदि मन का निग्रह हो जाए तो बाह्येन्द्रियों का अपने आप निग्रह हो जाता है। लेकिन संस्कारवश मन विक्षिप्त होता है। इसलिए यत्न करना चाहिए। विवेकचूडामणि में दम के विषय में इस प्रकार से कहा है कि-

विषयेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्वस्वगोलके।
उभयेषामिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्तितः॥ इति (23)

सरलार्थ दोनों प्रकार की इन्द्रियों को अपने अपने विषयों से हटाकर के परिवर्तित करके अपने अपने स्थान में ही स्थित करके निश्चल रूप से उनकी रक्षा करनी चाहिए। वह ही दम परिकीर्तित कहलाता है।

शमदमवान पुरुष ही स्थित प्रज्ञ होता है इस प्रकार से भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है

यदा संहरते चायं कुर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ इति (2.58)

जब यह कछुए की तरह सभी इन्द्रियों को उनके विषयों से हटा लेता है तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है। अर्थात् इन्द्रियाँ हमेशा शब्दादि विषयों में प्रवृत्त होती है। कछुआ जैसे भय से अपने अङ्गो का संकोच करता है उसी प्रकार से यह ज्ञान निष्ठा में प्रवृत्त व्यक्ति भी सभी इन्द्रियों को शब्दादि विषयों से संकोच करते हैं। उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित कहलाती है। और वह ही स्थित प्रज्ञ होता है।

23.4.3) उपरति

वेदान्तसार में उपरति के दो लक्षण बताए गए है - **"निवर्तितानाम् एतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यः उपरमणम् उपरतिः" अथवा "विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः" इति।**

मन के केवल बाह्य इन्द्रियों से निग्रह करने पर ही वह तत्त्वज्ञान के मार्ग की और उन्मुक्त नहीं होता है। पहले की वासना के कारण से वह फिर चञ्चल हो जाता है। इसलिए निवर्तित बाह्येन्द्रियवाले मन से श्रवणादिव्यतिरिक्त विषयों में बार बार दोषदर्शन करने से जो उपरमण निवृत्ति होती है वह ही उपरति कहलाती है।

उपरति का दूसरा अर्थ भी शास्त्रज्ञों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। शास्त्रविहित नित्यनैमित्तिक

ध्यान दें:

प्रायश्चित कर्मों का विधिपूर्व परित्याग ही उपरति होती है। इस प्रकार से यह दूसरा अर्थ है। विवेक चूडामणी में कहा गया है कि- **"बाह्यानालम्बनं वृत्तेरेषोपरतिरुत्तमा"** इति। अर्थात् वृत्ति मन की विषय प्रकाशक शक्ति होती है उसे बाह्य आलम्बनों से रहित होना तथा बाह्य अनात्म वस्तु के परिणाम भाव के कारण उनसे उपरति करना की उत्तम उपरति कहलाती है।

23.4.4) तितिक्षा

तितिक्षा **"तितिक्षा शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता"** इस प्रकार से कही गयी है। अर्थात् शीतोष्ण से लेकर परस्पर विरुद्धद्वन्दों को तथा उनसे उत्पन्न सुख दु:खादि को सहना तितिक्षा होती है। सभी जीव सुख के द्वारा आनन्द का अनुभव करते है। आनन्द के द्वारा प्रमाद नहीं होता है। लेकिन दु:ख का सहन सभी नहीं कर सकते है। इसिलए दु:ख के कारणों से बहुत से लोग प्रमाद करते हैं। लेकिन जो तितिक्षा का अभ्यास करता है। उसके समीप में सुख तथा दु:ख दोनों ही समान होते हैं। वह सुख द्वारा अत्यधिक आनन्द का अनुभव नहीं करता है, तथा दुख से भी अत्यधिक दु:खी नहीं होता है। इसलिए वह अप्रमादी तथा धैर्यवान होकर के साधनों से अविचलित नहीं होता है। जिस विवेक चूडामणी में इस प्रकार से कहा है

सहनं सर्वदु:खानामप्रतीकारपूर्वकम्।
चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते।। (वि.चू.)

सभी प्रकार के दु:खों की चिन्ता तथा विलाप को त्यागकर उसका अप्रतिकार कर पूर्व उसका प्रतिकार नहीं करके सहन तथा उसे स्वीकार करना ही तितिक्षा कहलाती है।

वस्तुत: शम, दम, तथा उपरति के द्वारा बाह्यविषयों से निवृत्ति होती है। लेकिन तितीक्षा में तो अन्तर्विषयों से चित्त का निवर्तन होता है। इस प्रकार से इनमें यह भेद होता है।

शमादि के ज्ञान के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। जिस प्रकार से कोई एक चञ्चल बालक इधर से उधर दोड़ता है। वह कही दूर चला जाता है तो माता उसको अपने पास ले आती है। फिर वह अन्यत्र दोड़ता है,चला जाता है। तब फिर उसे पकड़कर के माता उसे अपने पास में ले आती है। इस प्रकार से बार-बार शिशु को लाना दमन या दम कहलाता है।

जब वह बालक जाने के लिए तैयार होता है तो तब ही माता उसे जाने से रोकती है। कुछ दूर जाने पर विपदा से डराती है, समझाती है । माता के उस प्रकार के वचनों से बार बार निगृहित शिशु फिर अपने स्थान से दूर नहीं जाता है। लेकिन जब वह जाने के लिए तैयार होता है तो माता उसे हमेशा समझाती है। इस प्रकार से इतना करने पर भी गमन की सम्भावना होती है। ऐसा होने पर जो जाने से विरति होती है वह शम कहलाता है।

बालक चला गया तो उसे ले आया गया। उसकी गमन क्रिया रोक दी गई। अब माता उसे समझाती है जिससे बालक की जाने की सम्भावना ही नहीं होती है। जाने की प्रवृत्ति ही रुक जाती है। जिस लिए बालक जाता है अथवा जाने की इच्छा करता है वह उस बालक को अब अच्छा नहीं लगता है। इस प्रकार से इसे उपरति कह सकते है।

जब बालक के अनुकूल तथा प्रतिकूल आघात होते हैं तब वह विचलित नहीं होता है यह उसकी तितिक्षा होती है।

इस प्रकार से चित्त की विविध प्रकार की अवस्थाएँ वृत्ति विशेष शमदमोपरतितितिक्षा शब्दों के द्वारा कही गयी है।

ध्यान दें:

23.4.5) श्रद्धा

केवल श्रवणादि के माध्यम से ही साक्षात्कार नहीं होता है।श्रवणादि तो श्रद्धा पूर्वक करना ही चाहिए। श्रद्धा किसे कहते है तो कहते हैं की- **"गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा"।** गुरु के वचनों में तथा गुरूपदिष्टशास्त्रवचनों में दृढतर विश्वास ही श्रद्धा कहलाती है। आत्मतत्वजिज्ञासु की श्रद्धा ही उसकी साधना का मेरुदण्ड होती है। श्रद्धा के नहीं होने पर तो सौ उपदेश भी होने पर भी अर्थ का निर्धारण नहीं होगा। इसलिए आत्मजिज्ञासु को श्रद्धा का अवलम्बन अनिवार्य है। विवेकचूडामणि में इस प्रकार से कहा गया है। - शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यवधारणम्।

सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तुपलभ्यते॥ (वि.चू.)

गुरुवाक्य अर्थात् गुरु के द्वारा उपदिष्ट वाक्य की तथा शास्त्रवाक्य अर्थात् वेदान्त के द्वारा उपदिष्ट वाक्य की श्रद्धा,सत्यबुद्ध्यवधारणं अर्थात् सत्यता के द्वारा ग्रहण करना। अर्थात् गुरुपदिष्ट शास्त्रवाक्यों को सत्यता के द्वारा ग्रहण ग्रहण करने में जिसके द्वारा आत्मवस्तु उपलब्ध होती है। वह श्रद्धा कहलाती है इस प्रकार से सभी ने कहा है।

श्रद्धा तथा विश्वास में क्या भेद है। दृढ़तर विश्वास ही श्रद्धा होती है। जैसै कोई प्यासे से कहता है की समीपस्थ कुएँ में जल है तथा कुछ परिश्रम करने पर वह प्राप्त भी हो सकता है। यह सुनकर के यदि वह कुएँ के पास चला जाए तो उसके इस विश्वास को श्रद्धा कह सकते हैं। जैसे विश्वास होता है उसी प्रकार से प्रवृत्ति होती है तो वह विश्वास ही श्रद्धा कहलाती है। विश्वास में तथा श्रद्धा में विषय का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता है। अनुमान के द्वारा तथा शब्द प्रमाण के द्वारा ही वह जाना जा सकता है। जैसे स्वर्गकामो यजेत्। इस वेद वाक्य को जानकर के कोई स्वर्ग प्राप्तिसुख का इच्छुक यज्ञ आदि करता है तो वहाँ पर जो यज्ञ करता है उसकी वेद में श्रद्धा होती है। जो केवल वेद प्रमाण्य को स्वीकार करता है लेकिन वेदोक्तप्रकार से आचरण नहीं करता है उसका वेद में केवल विश्वास होता है लेकिन श्रद्धा नहीं होती है। इसलिए यह कह सकते हैं की जो प्रवृत्ति जनक विश्वास होता है वह ही श्रद्ध होता है।

23.4.6) समाधान

"निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्।" अर्थात् विषयों से प्रत्याहृत चित्त का आत्मा के विषय में श्रवण मनन तथा निदिध्यासन में उसके अनुगुणविषय गुरुशुश्रुषा आदि में अवस्थान ही समाधान होता है। इस दशा में ऐसा कुछ भी नहीं करना चाहिए जिससे समाधान का नाश हो। विवेक चूडामणी में कहागया है।

सम्यगास्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि सर्वथा।
तत्समाधानमित्युक्तं न तु चित्तस्य लालनम्॥ (वि.चू.)

शुद्धनिर्गुण ब्रह्म में ब्रह्म विषयक तत्व ज्ञान होने पर बुद्धि का चित्त का अच्छी प्रकार से यथार्तता से स्थापन स्थिरीकरण करना ही समाधान कहलाता है। केवल चित्त का लालन तथा कौतुहल से वेदान्तत्व के आलोचन से मन का तृप्ति लाभ समाधान नहीं होता है।

यहाँ पर जो समाधान कहा गया है। वह चित्तवृत्तिनिरोधरूप नहीं होता है। यदि यहाँ पर ही चित्तवृत्तिनिरोध हो तो साधनचतुष्टयसम्पन्न गुरु के पास में नहीं जाए। श्रवणादि भी नहीं करे। निरोध होने पर तो इनकी आवश्यकता ही नहीं होती है। इससिए वेदान्त के श्रवणादि में तदनुकूलविषयों का हमेशा चिन्तन ही यहाँ पर समाधान कहा गया है।

ध्यान दें:

23.5) मुमुक्षुत्व

जो मुक्त होने की इच्छा करता है वह मुमुक्षु कहलाता है। उसका भाव मुमुक्षुत्व होता है। मुमुक्षुत्व अर्थात् मोक्षेच्छा। मुक्षुक्षा के उदय होने पर मोक्ष के उपायों की जिज्ञासा भी उत्पन्न होती है। वह ब्रह्म की जिज्ञासा करता है। ब्रह्मजिज्ञासा किसको होती है? कहते हैं की संसार के विषय साध्यसाधनादिभेदलक्षणों से अविरक्त का आत्मरूपी एकतत्व के विषय में ज्ञान का अधिकार नहीं होता है। जैसे पिपासा रहित का पीने में।

मुमुक्षुत्व का अर्थ मोक्ष की इच्छा होती है। आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए यह ही एक प्रधान साधन होता है। यदि पुरुष की मोक्ष प्राप्ति की इच्छा नहीं होती है तो वह मोक्ष के उपायों का अन्वेषण नहीं करता है। जिससे आत्म दर्शन भी नहीं करता है। उसके द्वारा आत्मदर्शन, मोक्ष का मार्ग, वेदान्त तत्व का श्रवण मनन तथा निदिध्यासन और आत्म दर्शन में कारणादि को नहीं जाना जा सकता है। इसलिए वेदान्त में उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होती है। उसके द्वारा वेदान्त वैद्यक आत्म का ज्ञान भी नहीं होता है। इसलिए अधिकारी को मोक्ष के विषय में इच्छा अवश्य करनी चाहिए। विवेक चूडामणि में शङ्कराचार्य के द्वारा कहा गया है-

अहंकारादिदेहान्तान् बन्धानज्ञानकल्पितान्।
स्वस्वरूपावबोधेन मोक्तुमिच्छा मुमुक्षुता।। (वि.चू)

अहंकारादि सूक्ष्म तत्व से आरम्भ करके स्थूल देह पर्यन्त तक एवं अज्ञान से उत्पन्न बन्धन तथा बन्धन समूहों की स्वस्वरूप अवबोध से तथा आत्मज्ञान के बोध से जो मुक्ति की इच्छा होती है वह मुमुक्षुता कहलाती है।

साधनचतुष्टय में कार्यकारणभाव

इस प्रकार से साधनचतुष्टय का निरूपण किया गया है। जब तक नित्य तथा अनित्य वस्तु विवेक नहीं होता है। तब तक अनित्यवस्तु में वैराग्य उत्पन्न नहीं होता है। वैराग्य से बना शमादि की प्रतिष्ठा भी सम्भव नहीं होती है। तथा शमादि के अभाव में मोक्ष विषयणी इच्छा भी सम्भव नहीं है। मोक्ष की इच्छा के बिना ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा भी नहीं होती है। इसलिए सबसे पहले नित्यानित्यवस्तु विवेक उसके बाद इहामुत्रफलभोगविराग तथा उसके बाद शमादिषटक सम्पत्ति तथा उसके बाद मुमुक्षुत्व इनका उल्लेख किया गया है।

पाठगत प्रश्न 23.2

4. शमादिषटक सम्पत्ति में शमा दिषटक् क्या होता है?
5. शमादिषटक सम्पत्ति में सम्पत्ति पद का क्या अर्थ होता है?
6. शम कौन कहलाता है तथा किस का शम किया जाता है?
7. दम कौन कहलाता है तथा किसका दम किया जाता है?
8. उपरति क्या होती है तथा किससे उपरति करना चाहिए?
9. तितिक्षा क्या होती है तथा तितिक्षा का विषय क्या होता है?
10. श्रद्धा पद का क्या अर्थ होता है। तथा श्रद्धा का विषय क्या होता है?

11. समाधान क्या होता है तथा किसमे समाधान होता है?

12. मुमुक्षा किसे कहते है तथा मुमुक्षा किससे होती है?

23.6) विषय

अनुबन्धों में अधिकारी कौन होता है। यहाँ तक अधिकारी के विषय को कहा गया है। उसके बाद में दूसरा अनुबन्ध विषय अब उपस्थापित किया जा रहा है।

शास्त्रज्ञप्रमा अनिर्वत्य अज्ञान गोचर विषय कहलाता है। अर्थात् प्रस्तुत शास्त्र के पठन से कोई प्रमा उत्पन्न होती है वह शास्त्रज्ञ प्रमा होती है। उस प्रमा के द्वारा सभी प्रकार के अज्ञान को दूर करना चाहिए। उस अज्ञान का कोई विषय होता है। वह ही विषय अनुबन्धों में अन्यतम विषय होता है। जिन विषयों को जानने के लिए शास्त्रों का पढ़ा जाता है वे विषय ही अनुबन्ध कहलाते है। शास्त्राध्ययन में अनुबन्धत्व के द्वारा कौन सा विषय कहा गया है इस प्रकार का स्पष्ट ज्ञान आवश्यक होता है। भले ही ग्रन्थ में बहुत से विषय कहे जाते हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ को पढ़कर के सारभूत का ग्रहण करना चाहिए। लेखक ने क्या ग्रहण करने के लिए ग्रन्थ की रचना की यदि इसकी स्पष्टता हो जाती है तो तात्पर्य को ग्रहण करने में भ्रम नहीं होता है। अन्यथा लेखक द्वारा दिए गए अभीष्ट का त्यागकर के पाठ कर अन्य कुछ और ही ग्रहण कर लेता है।

वेदान्त का विषय होता है- जीवब्रह्मैक्य शुद्धचैतन्य प्रमेय।

यह विषय क्या होता है। यह वेदान्तों का तात्पर्य होता है। यहाँ पर क्या प्रमाण है कि यह वेदान्तों का तात्पर्य है। इसका प्रमाण श्रुति है। जो उपनिषदों में इस प्रकार से कहा गया है - अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, प्रज्ञानं ब्रह्म इत्यादि। इन वाक्यों के द्वारा जीव तथा ब्रह्म का एक्य ही प्रतिपादित किया गया है।

वेदान्तवाक्यों के द्वारा जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य किस प्रकार से विवक्षित किया गया है। तो कहते है की नीर तथा क्षीर समान गौंण एवं घटाकाश तथा पटाकाश के समान मुख्य। नीर तथा क्षीर दोनों ही भिन्न होते हैं। लेकिन उन दोनों का मिश्रण करने पर जल तथा दूध को साधरण ता अलग नहीं कर सकते है। उन दोंनों में ऐक्य का अनुभव होता है। वेदान्त वाक्यों के द्वारा भी इसी प्रकार का ऐक्य विविक्षित है। इसलिए शुद्ध चैतन्य कहा भी गया है। अर्थात् ऐक्य शब्द से यहाँ पर केवल नीरक्षीर के समान गौण ऐक्य ही विवक्षित नहीं है। यहाँ पर ऐक्य शब्द का अर्थ अभेद भी होता है। घट मध्यवर्ती आकाश महाकाश का ही अंश होता है। लेकिन घटरूपावरण के कारण वह पृथक् ही अनूभूत होता है। जैसे घटमध्यवर्ती आकाश घट के नाश होने पर महाकाश के साथ मिल जाता है जिससे दोनों का औपाधिक भेद निवर्तित हो जाता है तथा दोनों का ऐक्य हो जाता है। उसी प्रकार से अज्ञान के नाश होने पर जीव तथा चैतन्य शुद्धचैतन्य रूप के द्वारा ब्रह्मचैतन्य के साथ एकात्मभाव को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार का मुख्य एक्य ही वेदान्त प्रतिपाद्य होता है। आत्मोपनिषद् में यह इस प्रकार से कहा गया है-

घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम्।
तथोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित् स्वयम्॥ (1/22)

अर्थात्- घट का नाश होता है तो जैसे व्योम घट मध्यवर्ती आकाश स्वयं व्योम होता है तथा स्वयं ही महाकाश होता है। उसी प्रकार से उपाधि के विलय से तथा अज्ञान के नाश हो जाने पर ब्रह्मवान जीवात्म ब्रह्म रूप में स्वयं में होता है।

ध्यान दें:

वस्तुत: जीव तथा ब्रह्म में अभेद ही होता है। वहाँ पर जो भेद प्रतीति होती है वह अज्ञानमूला होती है। इस प्रकार का अज्ञान तब तक रुकता है जब तक स्वरूज्ञान नहीं होता है। इसलिए अज्ञान का नाशकरक जीव तथा ब्रह्म में शुद्धचैतन्यस्वरूप के प्रतिपादन के लिए इस प्रकार के विषय स्वीकार किए जाते हैं।

23.7) सम्बन्ध

अनुबन्धों में अधिकारी तथा विषय अभी तक कहे जा चुके हैं। तीसरा अनुबन्ध सम्बन्ध होता है। उसका अब उपस्थापन किया जा रहा है।

सम्बन्ध यहाँ पर दो प्रकार का है। चारों अनुबन्धनों में परस्पर क्या सम्बन्ध है यहाँ पर देखना चाहिए।

बोध्यबोधकभावसम्बन्ध ग्रन्थ बोधक होता है तथा विषय बोध्य होता है। इसलिए ग्रन्थ तथा विषय में बोध्य बोधक भावसम्बन्ध होता है। विषय प्रमेय होता है। बोधक प्रमाण होता है। इसलिए प्रमेय तथा प्रमाण का सम्बन्ध बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध कहलाता है।

प्रमेय जीव तथा ब्रह्म ऐक्य अर्थात् अभेद है। उसके प्रतिपादन के लिए प्रमाण उपनिषदादि हैं। ग्रन्थ के साथ विषय का हमेशा बोद्धयबोधकभव ही संबंध होता है। शास्त्र तथा ग्रंथ बोधक होते हैं। और विषय बोध्य होता है। इसलिए विषय के साथ शास्त्र का बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध होता है। बोद्धचशब्द का अर्थ बोध का विषय होता है तथा बोद्धचशब्द बोध का जनक अर्थात् जो बोध को उत्पन्न करता है। शास्त्र से तथा ग्रन्थ से उत्पन्न बोध जो विषय होता है वही ग्रन्थप्रतिपाद्य विषय होता है। इसलिए वह बोध्य कहलाता है। शास्त्रविषयबोध का जनक होता है। इसलिए वह बोधक कहलाता है। इस प्रकार से ही सम्बन्ध का ज्ञान होता है तो विषय जिज्ञासु के तथा उसके बोधक शास्त्र में प्रवर्तित होता है। और वह शास्त्राध्ययन करता है।

23.8) प्रयोजन

अनुबन्धों में अधिकारी विषय तथा सम्बन्ध इनका वर्णन किया जा चुका है अब चौथी अनुबन्ध प्रयोजन है जिसे अब उपस्थापित किया जा रहा है।

"प्रयोजनम् अनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते"।

प्रयोजन को बिना जाने मन्दबुद्ध व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है। तो फिर बुद्धिमानों की तो बात ही क्या है। वे तो प्रयोजन के अभाव में अवश्य ही प्रवृत्त नहीं होंगे।

"यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्" (1.1.24) यह गौतमीय सूत्र भी कहता है की जिस-जिस वस्तु की प्राप्ति के लिए कोई भी पुरुष किसी भी कार्य में प्रवृत्त होता है वह ही प्रयोजन कहलाता है। कुमारिलभट्ट ने भी कहा है

सर्वस्यैव तु शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते॥

इसलिए शास्त्रादि में तथा ग्रन्थादि में शास्त्र का तथा ग्रन्थ का जो प्रयोजन कहा गया है वह अनुबन्धचतुष्टय के प्रयोजन के अन्तर्गत ही आता है। वेदान्तशास्त्र का प्रयोजन है जीवब्रह्मैक्यरूपप्रमेयविषय के अज्ञान की निवृत्ति तथा स्वस्वरूपानन्द की प्राप्ति। वह ही अलग प्रकार से- आत्यान्तिक संसारनिवृत्ति तथा ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा होती है।

ध्यान दें:

जीव तथा ब्रह्म में ऐक्य का प्रतिपादन ही वेदान्त ज्ञान का मुख्य विषय है। ऐक्यज्ञान के द्वारा ही मोक्ष सिद्ध होता है तथा संसार की आत्यान्तिक निवृत्ति भी होती है।

जीवब्रह्मैक्यप्रमेयगत अज्ञान की निवृत्ति ही ब्रह्म से साथ आत्म के ऐक्यविषयकज्ञान की निवृत्ति होती है तथा स्वस्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है। स्वस्वरूप अज्ञान में जो आनन्द होता है उसकी प्राप्ति होती है । ऐक्यगत अज्ञान की निवृत्ति होती है तो स्वस्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है।

पाठगत प्रश्न 23.3

1. वेदान्त का विषय क्या होता है? तथा वह विषय किस प्रकार से है?
2. वेदान्त के अनुबन्धों में सम्बन्ध क्या होता है? तथा सम्बन्ध किसका होता है।
3. वेदान्त का प्रयोजन क्या होता है? तथा यह प्रयोजन किस प्रकार से सिद्ध होता है।
4. इन अनुबन्धों में सबसे अन्यतम क्या है?

   (क) शम (ख) विवेक (ग) प्रयोजन (घ) वैराग्य
5. इन अनुबन्धों में सबसे अन्यतम क्या है?

   (क) शम (ख) विवेक (ग) विषय (घ) वैराग्य।
6. इन अनुबन्धों में सबसे अन्यतम क्या है?

   (क) शम (ख) विवेक (ग) अधिकारी (घ) वैराग्य
7. इन अनुबन्धों में अन्यतम क्या होता है?

   (क) शम (ख) विवेक (ग) सम्बन्ध (घ) वैराग्य
8. इन अनुबन्धों में अन्यतम नहीं होता है?

   (क) शम (ख) विषय (ग) प्रयोजन (घ) अधिकारी
9. यह अनुबन्धों में अन्यतम नहीं होता है।

   (क) दम (ख) विवेक (ग) प्रयोजन (घ) वैराग्य
10. यह अनुबन्धों में अन्यतम नहीं होता है।

    (क) मुमुक्षुत्व (ख) विवेक (ग) प्रयोजन (घ) वैराग्य
11. यह साधन चतुष्टय में अन्यतम होता है?

    (क) शम (ख) विवेक (ग) प्रयोजन (घ) श्रद्धा
12. यह साधन चतुष्टय में अन्यतम होता है।

    (क) विषय (ख) विवेक (ग) प्रयोजन (घ) अधिकारी
13. शमदमादि षट्क सम्पत्ति के अन्तर्गत यह नहीं होता है।

    (क) उपरति (ख) तितिक्षा (ग) मुमुक्षुत्व (घ) श्रद्धा

ध्यान दें:

14. शमदमादि षट्क सम्पत्ति के अन्तर्गत यह नहीं होता है।

(क) उपरति (ख) तितिक्षा (ग) वैराग्य (घ) श्रद्धा

15. शमदमादि षट्क सम्पत्ति के अन्तर्गत यह नहीं होता है।

(क) उपरति (ख) तितिक्षा (ग) सम्बन्ध (घ) श्रद्धा

16. विषयों से मन का निग्रह क्या कहलाता है?

(क) शम (ख) दम (ग) उपरति (घ) वैराग्य

17. विषयों से बाह्य इन्द्रियों का निग्रह क्या कहलाता है?

(क) शम (ख) दम (ग) उपरति (घ) वैराग्य

18. विषयों से निवर्तित इन्द्रियों की श्रवणादि में एकाग्रता क्या कहलाती है।

(क) शम (ख) दम (ग) उपरति (घ) वैराग्य

19. शीतोष्णादियों का द्वन्द्व सहन क्या कहलाता है?

(क) तितिक्षा (ख) दम (ग) उपरति (घ) वैराग्य

20. वेदान्तों का क्या तात्पर्य होता है?

(क) कर्म में (ख) ब्रह्म में (ग) स्वर्ग में (घ) देहधारण करने में

23.9) गुरूपसदन

इससे पहले इस पाठ में अनुबन्ध चतुष्टय का आलोचन किया गया है। उनमें अधिकारी अन्यतम है। और वह उक्तलक्षण लक्षित अधिकारी जननमरणात्मक चक्र की परीक्षा करके उसमें होने वाली व्याधियों का विचार करके संसारनल से संतप्त होकर के गुरु के पास जाता है।। जिस प्रकार से सूर्य के ताप से दग्धमस्तिक की दाहनिवृत्ति के लिए वह शीतल जलराशि का अनुसरण करता है। वैसे ही संसार के तीनों तापों से दह्यमान तापनिवृत्ति के लिए अपने स्वरूप का जिज्ञासु संसारनिवर्तक श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ स्वप्रकाशात्मस्वरूपयुक्त गुरु के पास में जाता है। वहाँ जाकर के उनकी मन वाणी तथा कर्म के द्वारा सेवा करता है। तब वहाँ उपस्थित शिष्य के लिए गुरु करुणा के उपदेश देते हैं-

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।। (मु.1.2.13)

इस श्लोक में अधिकारी के लक्षणों को बताया गया है। वह प्रशान्तचित्त, शमगुणयुक्त, जितेन्द्रिय, दमगुणयुक्त, रागादिदोषमुक्त, इस प्रकार से विवेकवैराग्य उपरतितितिक्षासमाधान गुणों से युक्त व्यक्ति को गुरु के पास श्रद्धावान होकर के जाना चाहिए।

इस प्रकार से अधिगताखिलवेदार्थ शुद्धचित्त एकाग्रमान तथा साधनचतुष्टय सम्पन्न अधिकारी होता है।

अधिकार सम्पदा प्राप्त करके उसे श्रवणादिक करना चाहिए। लेकिन शास्त्रज्ञ अधिकारी को भी स्वातन्त्रय से ब्रह्मज्ञानान्वेषण नहीं करना चाहिए। अधिकार लाभ प्राप्त करके श्रवणादि के लिए गुरु के

समीप में जाना चाहिए। श्रुतियों में भी इस प्रकार से कहा है - परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ (मु.1.2.12)

ब्राह्मण को ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए लोकों की परीक्षा करनी चाहिए। प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान तथा आगम प्रमाणों के द्वारा सभी लोकों का परीक्षण करना चाहिए। किन लोकों का परीक्षण करना चाहिए? तो कहतें की अव्यक्तादिस्थावर आदि सभी लोकों का परीक्षण करना चाहिए। इस प्रकार की परीक्षा के द्वारा क्या धारण करना चाहिए? यह धारण करना चाहिए की ये लोक उत्पत्ति तथा विनाश शील होते हैं। अनन्त सीमा वाले होते हैं। कदली के गर्भ के समान सारहीन होते हैं। मायामरीचि उदक आदि के समान होते है। गन्धर्वनगराकारस्वप्नजलबुद्बुदफेन के समान होते हैं। प्रतिक्षण बदलने वाले होते हैं। जो अविद्यावान होता है वह सकाम तथा विहित कर्मों को करता है। उसके कर्म के द्वारा ये लोक प्राप्त होते हैं। इसलिए वे लोक कर्मचित्त कहलाते हैं। अर्थात् धर्म, अधर्म के द्वारा निवर्तित होते हैं। इस प्रकार की अवधारण करनी चाहिए। तथा इसी प्रकार से परीक्षा भी करनी चाहिए।

ध्यान दें:

परीक्षण के बाद क्या करना चाहिए। तो कहते हैं की यहाँ पर कुछ भी अकृत तथा कृत नहीं है। अर्थात् इस संसार में कुछ भी अकृत अर्थात् नित्यपदार्थ नहीं है। सभी लोक कर्म से प्राप्य होते हैं। कर्मकृत होने के कारण ये अनित्य होते हैं। यहाँ पर कुछ भी नित्य नहीं होता है। सभी कर्म अनित्य के ही साधन होते है। जिनसे चार प्रकार के ही कर्म किए जाते है। उत्पाद्य आप्य विकार्य तथा संस्कार्य। इन कर्मों से कोई विषय भी नहीं है। मैं ही नित्य अमृत कूटस्थ अचल अर्थी हूँ। उसके विपरीत नहीं हूँ। इस प्रकार से किस कर्म के द्वारा आयासबाहुल्य वाले संसार से मुक्त हो जाएं। उसके अभय युक्त परमकल्याणकारी पद के ज्ञान के लिए गुरु के पास जाना चाहिए। किस प्रकार के गुरु के पास जाना चाहिए तो कहते हैं कि शमदमादि सम्पन्न आचार्य के पास जाना चाहिए। वह श्रोत्रिय अध्ययन श्रुतार्थसम्पन्न हो। ब्रह्मनिष्ठ सभी कर्मों को त्याग करके केवल अद्वैत ब्रह्म में निष्ठा वाला हो इस प्रकार से वह ही ब्रह्मनिष्ठ जपनिष्ठ तथा तपोनिष्ठ हो। कर्मयुक्त वाले की कर्मयोग तथा आत्मज्ञान के परस्पर विरोध के कारण ब्रह्मनिष्ठता सम्भव नहीं है। इस प्रकार से गुरु के पास जाकर के परम अक्षर परमपुरुष के विषय में पूछना चाहिए। शास्त्रज्ञ को भी स्वतन्त्रता पूर्वक ब्रह्म का अन्वेषण नहीं करना चाहिए। किस प्रकार से गुरु के पास जाएँ तो कहते हैं कि समित्पाणिः अर्थात् हाथ में समिधा लेकर के गुरु के पास में जाए।

इस श्रुति के द्वारा यह स्पष्ट होत है की लोक परीक्षा अनन्तर निर्वाण वैराग्य सम्पन्न होकर के गुरु के पास में जाना चाहिए तथा उनसे श्रवणादि कार्य करना चाहिए।

पुण्यातिशय से योग्यगुरु का लाभ होता है। इसलिए आचार्य शंकर ने कहा है- **पुण्यातिशयात् परमकारुणिकं कञ्चित् सद्ब्रह्मात्मविदं विमुक्तबन्धनं ब्रह्मिष्ठं यदा आसादयति।** (छा.उ.भा.6.14.2)

आचार्यवान् पुरुषो वेद (छा.उ. 6.14.2) इस श्रुति के माध्यम से यह समझा जाता है की आचार्य के द्वारा ही ब्रह्म का अनुभव होता है अचार्य के बिना कोई मार्गदर्शक नहीं होता है।

आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति। (छा.उ.4.9.3)

इस श्रुति से यह समझा जाता है कि आचार्य के द्वारा ही विदित साधिष्ट साधुतमत्व प्राप्त होता है।

स्वयं तर्क द्वारा ब्रह्मज्ञान का अन्वेषण नहीं करे इस प्रकार का निषेध भी श्रुतियों में प्राप्त होता है।

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ। (कठ.उ.1.2.9)

अर्थात् यह तर्क के द्वारा अपनी बुद्धि के द्वारा प्राप्तीय ब्रह्म नहीं होता है। तार्किक व्यक्ति अपनी बुद्धि से कुछ भी कल्पना कर सकता है। इसलिए जो यह आगमप्रभूत मति है वह आगम को समझने वाले आचार्य के द्वारा ही प्राप्त होती है जिससे ही सुविज्ञान होता है।

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्न 23.4

1. मुमुक्षु कब गुरु के पास जाता है?
2. गुरु किस कारण से विधिवत् उपासना के लिए उपदेश देता है?
3. गुरु के समीप में जाकर के अधिकारी क्या करता है?
4. लब्धाधिकार मुमुक्षु को किस प्रकार से ब्रह्म का अन्वेषण करना चाहिए?
5. गुरु के लाभ का क्या हेतु होता है?
6. आचार्य पुरुष वेद इस श्रुति का अर्थ लिखिए?

23.10) श्रवण

वेदान्त सार में कहा गया है कि छः प्रकार के अशेष वेदान्त के अद्वितीय वस्तु का तात्पर्यनिधरिण श्रवण कहलाता है। और मनन से तात्पर्य है कि अद्वितीयवस्तु का वेदान्त के अनुसार अनवरत चिन्तन करना, तथा विजातीय देहादिप्रत्ययरहित अद्वितीय वस्तु का सजातीय प्रवाह निदिध्यासन होता है।

श्रवणं शब्दजं ज्ञानमुपपत्त्यानुचिन्तनम्।
मतिर्निरन्तरा चिन्ता निदिध्यासनमुच्यते॥

धर्मराजध्वरीन्द्र के मत में भी वेदान्तपरिभाषा के अद्वैतवेदान्तप्रकरण ग्रन्थ में भी ब्रह्मसाक्षात्कार के हेतु के रूप में श्रवण मनन तथा निदिध्यासन को कहा गया है। वहाँ पर श्रवण का विषय कहा जाता है।

श्रवणं नाम वेदान्तानाम् अद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणानुकूला मानसी क्रिया इति।

श्रवण केवल कानों के द्वारा वेदान्त के वाक्यों का श्रवण नहीं है। अपितु अशेषवेदान्तवाक्यों के द्वारा अद्वैत ब्रह्म में निश्चय सम्पदान है। वेदान्तसार में भी श्रवण के विषय में कहा है।

"श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैः अशेषवेदान्तानाम् अद्वितीयवस्तुनि तात्पर्यावधारणम्"। श्रवण ही ब्रह्मरूपी आत्मा में तत्वमसि वाक्य का उस शब्दपर्यायलोचन के द्वारा तात्पर्यागम होता है।

इत्थं वाक्यैः तदर्थानुसन्धानं श्रवणं भवेत्।
युक्त्या सम्भावितत्वानुसंधानं मननं तु तत्॥ (प.द.1.53)

तात्पर्य शब्दार्थः

अब कहते है की तात्पर्यनिर्णायक लिङ्ग क्या होते हैं?

जिस के द्वारा अर्थ का निर्धारण किया जाए वह लिङ्ग कहलाता है। तात्पर्यनिर्णय के लिए जिस लिङ्ग का प्रयोग होता है वह तात्पर्यनिर्णायक लिङ्ग कहलाता है। तात्पर्य किसे कहते हैं। तत् अर्थ है वह, वह जिससे परे होता है उसे तत्पर कहते हैं। तत्पर का ही भाव तात्पर्य कहलाता है। इसमें ष्यञ् प्रत्यय है। शब्द या वाक्य जो अर्थ परक होता है वह तात्पर्य कहलाता है। तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वम्

ध्यान दें:

एव तात्पर्यम्। इस प्रकार से यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। अद्वैतमत में अद्वितीयब्रह्म में ही अशेषवेदान्त का तात्पर्य है। आकाङ्क्षा योग्यता तथा सन्निधि ये तीनों शाब्दबोध तात्पर्य के प्रति हेतु हैं। वेदान्त मत में तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वम् ही तात्पर्यम् इस प्रकार से अर्थ किया गया है। शब्द के उस प्रकार के सामर्थ्यवश ही भोजन के प्रकरण में 'सैन्धवम् आनय' यहाँ पर सैन्धव शब्द का लवण का बोध होता है। अब कहते है कि सैन्धवशब्द का अश्वबोधसामर्थ्य होने पर भी उसने लवण का ही बोध क्यों करवाया। तो कहतें है कि भोजनप्रकरण में सैन्धवशब्द से अश्वार्थ की प्रतीति नहीं हो। इस प्रकार से यहाँ पर सैन्धव का अर्थ लवण ही लिया गया है। अब कहते हैं कि अगर सैन्धव का अर्थ इच्छावश यदि अश्व करना हो तो तोभी यह अश्व की प्रतीति नहीं करवाएगा। उत्तर देते हुए कहते हैं कि इसके द्वारा इच्छा ही तात्पर्यत्व के रूप में अभिहित नहीं हो तो ऐसा भी नहीं है उससे इतर प्रतीतिजननेच्छा से अनुच्चारितत्व होने पर भी तत्प्रतीति जनन योग्यत्व का तात्पर्यत्व से विविक्षितत्व से उसका वही अर्थ होता है। लौकिक वाक्यों में तो तात्पर्य का अर्थ प्रकारणादि समाझा जाता है। इसलिए वाक्यपदीय में कहा है-

वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद्देशकालतः।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलम्॥ इति।

अर्थ वाक्य, प्रकरण, औचित्य, तथा देश काल के भेद से शब्दों का अर्थ अलग अलग होता है। इसलिए इन सभी विषयों का विचार करके ही किन्हीं शब्दों के तात्पर्य को समझना चाहिए।

वैदिकों के वाक्यों का तो किन्हीं के मत में अधिकरणमुख से तथा किन्हीं के मत में उपक्रमादि के द्वारा तात्पर्य का निर्णय किया जाता है।

अधिकरण का तात्पर्य है- विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, सङ्गत्यात्मक तथा पञ्चलिङ्गक।

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
सङ्गतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्॥ इति।

23.10.1) तात्पर्यनिर्णायक छः लिङ्ग

प्रकृत उपक्रमादि के द्वारा तात्पर्य का निर्णय किया जाता है इस प्रकार से उपक्रमादि का सामान्यपरिचय दिया जा रहा है-

उपक्रमादि तात्पर्य निर्णाय कलिङ्ग प्रतिपादक श्लोक यह है-

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥ इति।

1)उपक्रम उपसंहार, 2)अभ्यास, 3)अपूर्वता, 4)फल, 5)अर्थवाद, 6)उपपत्ति इस प्रकार से ये छः तात्पर्यग्राहकलिङ्ग होते हैं।

अब इन उपक्रमादि लिङ्गों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है

23.10.2) उपक्रम तथा उपसंहार

प्रकरण प्रतिपाद्य अर्थ का प्रकरण के आदि में तथा अन्त में उपपादन तथा उपक्रम तथा उपसंहार होते है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् में छठे अध्याय में आदि में 'एकमेवाद्वितीयम्' तथा अन्त में 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इस प्रकार से अद्वितीय वस्तु का प्रतिपादन किया गया है। अपक्रम का आरम्भ में तथा उपसंहार पर समाप्ति पर वर्णन किया जाता है।

ध्यान दें:

23.10.3) अभ्यास

प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु का उसके बीच बीच में बार बार प्रतिपादन अभ्यास कहलाता है। जैसे छान्दोग्योपनिषद में अद्वितीयवस्तु का मध्य में 'तत्वमसि' इस प्रकार से नौ बार प्रतिपादन किया गया है। अभ्यास का अर्थ है आवृत्ति, अर्थात् बार-बार कहना।

23.10.4) अपूर्वता

प्रकरण प्रतिपाद्य के अर्थ का प्रमाणान्तर से अविषयीकरण करना अपूर्वत कहलाती है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् में अद्वितीय वस्तु का प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा अविषयीकरण किया गया है। जो विषय आगम प्रमाण के द्वारा जाना जाता है। वह अन्य किसी भी प्रमाण के द्वारा यदि नहीं जाना जाता है तो वह विषय प्रमाणान्तर विषय कहलाता है।

23.10.5) फल

प्रकरणप्रतिपाद्य आत्मज्ञान का तथा उसके अनुष्ठान का वहाँ-वहाँ सुनाई देने वाला प्रयोजन फल होता है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् में-

'आचार्यवान् पुरुषो वेद, तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्येश (छा.उ. 6.14.2) इस प्रकार से अद्वितीयवस्तु का ज्ञान तथा उसकी प्राप्ति प्रयोजन होता है।

23.10.6) अर्थवाद

प्रकरणप्रतिपाद्य विषय की जहाँ जहाँ पर प्रशंसा की जाती है वह अर्थवाद कहलाता है। जैसे छान्दोग्योपनिषद में 'उत तमादेशमप्राक्ष्य:', येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम् (छा.उ.6.1.3) इति इस प्रकार से अद्वितीय वस्तु की प्रशंसा की जाती है।

23.10.7) उपपत्ति

उपपत्ति युक्ति को कहते हैं। प्रकरणप्रतिपाद्य के अर्थ साधन में जहाँ जहाँ पर श्रूयमाण युक्त होती है वह उपपत्ति कहलाती है। जैसे- यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् इत्यादि में अद्वितीयवस्तु के साधन में विकार के वाचारम्भवमात्रत्व में युक्ति सुनी जाती है।

इस प्रकार से छान्दोग्योपनिषद के छठे अध्याय का तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्म होता है यह सुस्पष्ट हो चुका है। इसी प्रकार से अन्य शास्त्रों में भी तथा अन्य ग्रन्थों में भी देखना चाहिए। इस प्रकार से वेदान्तों के अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्यावधारण ही श्रवण के रूप में विस्तार से कहा है।

श्रवण से ही साक्षात्कार

यहाँ पर जो मत प्रस्तुत किया जा रहा है उसे एक ही मत समझना है। आत्मसाक्षात्कार के प्रति कुछ प्रतिबन्ध होते है। वे असम्भावना तथा विपरीत भावना होते हैं। जिस अधिकारी के युक्तसाधानों के अनुष्ठान से ये प्रतिबन्ध दूर हो जाते हैं वह निवृत्तप्रतिबन्धक अधिकारी उत्तमाधिकारी होता है। उसकी महावाक्यों के श्रवण से ही अद्वैत् आत्मसाक्षात्कार की सिद्धि हो जाती है। और गुरुमुख से वेदान्तों के

ध्यान दें:

तात्पर्यनिर्धारणरूप श्रवण अभिन्न विचार ही आत्मसाक्षात्कार में हेतु होता है। विचार ही आत्मा तथा अनात्मा के बन्धन तथा मोक्ष के स्वरूप का शास्त्रानुसार चिन्तन करके निर्णय करता है।

मनन तथा निदिध्यासन प्रतिबन्ध की निवृत्ति के लिए अनुष्ठेय होते हैं। मनन तथा निधिध्यासन की संशय तथा विपर्यय की निवृत्ति में उपयोगित्व होता है। असम्भावना प्रमाणगत तथा प्रमेयगत होता है। प्रमाणगत असम्भावना श्रवण निवृत्त होती है। प्रमेयगत असम्भावना मनन से निवृत्त होती है। विपरीत भावना तो निदिध्यासन से निवृत्त होती है।

प्रमाणगत असम्भावना

प्रमाण रूप में उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता इत्यादि ग्रन्थ होते हैं। उनमें असम्भावना होती है। अर्थात् उपनिषदों से तात्पर्य है उस विषय में संशय ही प्रमाणगत असम्भावना के रूप में होता है। वह कर्म में तथा ब्रह्म में इस प्रकार से दो प्रकार की होती है। भले ही पूर्वमीमांसा के अनुसार कर्म ही तात्पर्य होता है। आम्नाय का क्रियार्थ होता है। जिस वेदवाक्य का क्रियार्थत्व नहीं होता है। वह वेदवाक्य निरर्थक होता है। इसलिए जैमिनि मुनि के अनुसार अर्थवाद ही अभिप्रैत है। इस प्रकार से जैमिनि मुनि भी कर्म में वेदों के तात्पर्य का प्रतिपादन करते है तो फिर औरों की तो बात ही क्या है। इसलिए सभी वेदान्तों का ब्रह्म एक्य में ही तात्पर्य होता है। भले ही वेदान्त व्यवस्थापित किया गया है। फिर भी कोइ दुरितबलपीडित होता हुआ असमर्थ होता है। दुरित का परिणाम ही यह असम्भावना है। इसलिए दुरितनास के बाद ही यथाविधि वेदान्तों का श्रवण किया जाता है तो तात्पर्य का ग्रहण भी होता है। जिससे प्रमाणगत असम्भावना दूर होती है।

प्रमेयगत असम्भावना

श्रवण के द्वारा यह जाना जाता है की ब्रह्म में ही वेदान्तों का तात्पर्य है न कि कर्म में। फिर भी जो यह जीवब्रह्म का अभेद प्रतिपादित है वह अभेद वास्तविक भेद है अथवा नहीं इस प्रकार का संशय उत्पन्न होता है। यह संशय वेदान्त का जो विषय प्रमेय है वह जीवब्रह्मैक्य तथा तद्विषयक है। इसलिए इसे प्रमेयगता असम्भावना कहते है। यह ही प्रतिबन्धिका तथा दुरित की परिणामरूपा है। इसलिए दुरित के नाश के बाद यथाप्रविधिश्रुतवेदान्त का जो मनन किया जाता है उससे यह संशय दूर हो जाता है। इस प्रकार से प्रमेयगत सम्भावना को दूर करना चाहिए।

असम्भावना चित्त की ब्रह्मात्म परिभावना प्रचय निमित्ततदेकाग्रवृत्य योग्यता कहलाती है।

विपरीत भावना शरीराद्यध्याससंस्कारप्रचय होता है। शरीरादि में आत्मभावना तथा विपरीतभावना होती है। अनेकजन्मार्जितसंस्कारवश देहादि में आत्माध्यास होता है। जिससे अहंता तथा ममता का उदय होता है। मैं देह हूँ, मैं स्थूल हूँ, मैं काना हूँ, यह मेरा है। इत्यादि रूप के द्वारा वह तादात्म्याध्यास तथा विपरीत भावना कहलाती है। इस प्रकार से देहादि के सत्यत्वनिश्चय तथा जीव ब्रह्म में भेद निश्चय ही विपरीत भावना होती है। निदिध्यासन के द्वारा विपरीत भावना नष्ट होती है।

पाठगत प्रश्न 23.5

1. श्रवण क्या होता है?
2. तात्पर्य क्या होता है?

ध्यान दें:

3. तात्पर्यनिर्णायक लिङ्ग कितने होते हैं तथा वे कौन-कौन से हैं?

4. उपक्रम तथा उपसंहार क्या होते हैं तथा किसके अन्तर होते हैं?

5. अभ्यास क्या होता है तथा कहाँ होता है?

6. अपूर्वत् किसे कहते है तथा वह कहाँ होती है?

7. फल क्या है तथा वह कहाँ पर होता है?

8. अर्थवाद क्या होता है? तथा वह कहाँ पर होता है?

9. उपपत्ति क्या होती है? तथा वह कहाँ पर होती है?

10. तात्पर्यनिर्णायक छः लिङ्गो में यह अन्यतम है।

(क) विवेकः (ख) वैराग्यम् (ग) प्रयोजनम् (घ) उपपत्ति

11. तात्पर्यनिर्णायक छः लिङ्गो में यह अन्यतम है।

(क) विवेकः (ख) वैराग्यम् (ग) प्रयोजनम् (घ) फलम्

12. तात्पर्यनिर्णायक छः लिङ्गो में यह अन्यतम है।

(क) विवेकः (ख) वैराग्यम् (ग) प्रयोजनम् (घ) उपक्रम उपसंहार

13. तात्पर्यनिर्णायक छः लिङ्गो में यह अन्यतम है।

(क) श्रवणम् (ख) मननम् (ग) निदिध्यासनम् (घ) अपूर्वता

14. तात्पर्यनिर्णायक छ लिङ्गों में यह नहीं है।

(क) विवेकः (ख) फलम् (ग) अपूर्वता (घ) उपपत्तिः

15. तात्पर्यनिर्णायक छ लिङ्गों में यह नहीं है।

(क) वैराग्यम् (ख) फलम् (ग) अपूर्वता (घ) उपपत्ति

16. उपपत्ति किसके अन्तर्गत होती है ?

(क) अनुबन्धों के (ख) साधनचतुष्टय के

(ग) शमादिषट्क सम्पत्ति में (घ) तात्पर्यनिर्णाय लिङ्गों में

17. फल किसके अन्तर्गत होता है?

(क) अनुबन्धों के (ख) साधनचतुष्टय के

(ग) शमादिषट्क सम्पत्ति में (घ) तात्पर्यनिर्णय लिङ्गों में

18. विवेक किसके अन्तर्गत होता है?

(क) अनुबन्धों के (ख) साधनचतुष्टय के

(ग) शमादिषट्क सम्पत्ति में (घ) तात्पर्यनिर्णय लिङ्गों में

19. विषय किसके अन्तर्गत होता है?

(क) अनुबन्धों के (ख) साधनचतुष्टय के

ध्यान दें:

(ग) शमादिषट्क सम्पत्ति में (घ) तात्पर्यनिर्णय लिङ्गों में

20. दम किसके अन्तर्गत होता है?

(क) अनुबन्धों के (ख) साधनचतुष्टय के

(ग) शमादिषट्क सम्पत्ति में (घ) तात्पर्यनिर्णय लिङ्गों में

21. प्रायश्चित किसके अन्तर्गत होता है?

(क) चित्त के शोधकर्मों में (ख) साधनचतुष्टय में

(ग) शमादषट्क सम्पत्ति में (घ) तात्पर्यनिर्णय छः लिङ्गों में

23.11) मनन

मनन का लक्षण वेदान्तपरिभाषा में धर्मराजध्वरीन्द्र ने इस प्रकार से कहा है।

मननं नाम शब्दावधारिते अर्थे मानान्तरविरोधशङ्कायाम् तन्निराकरणानुकूलतर्कात्मकज्ञानजनको मानसो व्यापार इति।

श्रवण का जो अर्थ निश्चित होता है वहाँ पर प्रमाणान्तरों के द्वारा बहुत सारे विरोध उपस्थित हो जाते है। अन्य भी आक्षेपादि के द्वारा भ्रमित कर सकते हैं। जिससे अपने मन में विरुद्ध युक्तियाँ उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार से होने पर मनोवृत्तिविशेषण वेदान्तानुगुणयुक्तियों के द्वारा विरुद्धमतों का खण्डन करके अपने मत में दृढ़ता सम्पादित करना ही मनन कहलाता है। अध्यात्मोपनिषद् में भी यही कहा गया है।

युक्त्या सम्भवितत्त्वानुसन्धानं मननं तु तत्।

मनन तर्कात्मक होता है। लेकिन इसके द्वारा वेदसिद्धान्तविरोधी तर्क जानना चाहिए। न की वेदसिद्धान्त विरोधी तर्क। इसलिए भगवान भाष्यकार ने कहा है- **"श्रुत्यनुगृहीतः एव ह्यत्र तर्कोनुभवाङ्गत्वेन आश्रियते"** इति। मनु ने भी इस प्रकार से कहा है।

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ (मनुसंहिता 10.106)

अर्थ- जो ऋषियों के द्वारा धर्मोपदेश से वेदस्मृतादिशास्त्र अविरोधि तर्क के द्वारा अनुसन्धान करते हैं वह ही धर्म का यथार्थ स्वरूप समझ सकता है न की अन्य।

वेदान्तसारकार के द्वारा मनन के विषय में कहते हैं।

"मननं तु श्रुतस्य अद्वितीयवस्तुनः वेदान्तानुगुणयुक्तिभिः अनवरतम् अनुचिन्तनम्" इति।

इसलिए वेदान्त वाक्यों को सुनकर के अद्वैतब्रह्म में ही वेदान्तों का तात्पर्य समझकर के विरोधी युक्तियों का वेद सिद्धान्त विरोधी युक्तियों के द्वारा निराकरण करना ही मनन रूपी अर्थ फलित होता है।

अनुमानं वेदान्ताविरोधि, तदुपजीवि च इत्यपि द्रष्टव्यम। शब्दाविरोधिन्या तदुपजीविन्या च युक्त्या विवेचनं मननम। युक्तिश्च अर्थापत्तिरनुमानं वा। (ब्र.सू. भामती 1.1.2)

मनन में तर्क का उपयोग

असंभावनाभिभूतविषयत्व से विद्या उदिता भी प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं करती है। उसी प्रकार से इस संसार में देश काल में यह वस्तु सम्भव नहीं हैं इस प्रकार की दृढ़ भावना होती है। यदि वह कैसे भी

ध्यान दें:

दैववश उपलब्ध हो जाती है तो। तब स्वयं देखते हुए भी उसपर विश्वास नहीं होता है जब तक उसके सम्भव का अनुसरण नहीं करते हैं। उससे सम्यक् ज्ञान होने पर भी अप्रतिष्ठित अनवाप्त ही होता है। उसके द्वारा तत्स्वरूप प्रतिष्ठा के लिए तर्क सहायता करता है। इसलिए प्रमाणों का अनुग्राहक तर्क कहलाता है। इस प्रकार तर्कविदों ने कहा है। (पञ्चपादिका प्रथमवर्णकम्)

मनन के द्वारा प्रमेय गत असम्भावना का निवारण होता है।

23.12) निदिध्यासन

श्रवण तथा मनन के बाद निदिध्यासन किया जाता है। उसका लक्षण वेदान्तपरिभाषा में इस प्रकार से किया गया है।

निदिध्यासनं नाम अनादिदुर्वासनया विषयेषु आकृष्यमाणचित्तस्य विषयेभ्यः अपकृष्य आत्मविषयक-स्थैर्यानुकूलो मानसो व्यापारः इति।

वेदान्तसार में निदिध्यासन के विषय में इस प्रकार से कहा गया है।

"विजातीयदेहादिप्रत्ययरहित-अद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहः निदिध्यासनम्" इति।

अशेष वेदान्तों का तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्म में ही श्रवण के द्वारा निश्चित होता है। उससे प्रमाणगत असम्भावना निकल जाती है। मनन के द्वारा प्रमेयगत असम्भावना दूर होती है। फिर भी अनादिकाल से कोई दुर्वासना अन्तःकरण में विद्यमान होती है। वहाँ पर मैं देह, मैरा यह इस प्रकार की अहंता तथा ममता रूपी भावना मूल होती है। लेकिन श्रवण मनन के द्वारा निश्चित होने पर जो 'श्रुति के द्वारा तथा उसके प्रतिपादकत्व से आत्मा देहादि से व्यतिरिक्त होती है ' इत्यादि युक्तियों के द्वारा उसमें बताया गया है। तब 'मैं देह हूँ' इस प्रकार के विजातीय प्रत्यय को त्यागकरके 'मै आत्मा हूँ ' इस प्रकार के अद्वितीय सजातीयप्रत्यय के प्रवाह निदिध्यासपद वाच्य होता है। चित्त विषयों में आकृष्ट होता है। इस प्रकार से विषयों में आकृष्यमाण चित्त जिस मनोवृत्तिविशेषण के द्वारा विषयों से खींचा जाता है तथा आत्मविषयों में स्थिरता सम्पादित की जाती है वह ही ब्रह्मसाक्षात्कार में साक्षात्कारण होता है। इसलिए कहा गया है "निदिध्यासन ही ब्रह्मसाक्षात्कार में साक्षात्कारण होता है" इस प्रकार से।

जब मन स्थिर होता है अर्थात् मन में देहादि प्रत्ययों का आविर्भाव नहीं होता है। तब स्थिर शान्त एकाग्र मन में अविच्छिन्नतैलधारा के समान अद्वितीय ब्रह्मज्ञान का सतत प्रवाह होता है वह ही निदिध्यासन कहलाता है। इसलिए कहा गया है-

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्याङसनमुच्यते।। इति।

अर्थात्- श्रवण तथा मनन के द्वारा जब अर्थ निः सन्दिग्ध होता है तब उस निः सन्दिग्ध वस्तु में मन की एकाग्रता ही निदिध्यासन कहलाती है।

इस प्रकार से श्रवण मनन निदिध्यासन आदि ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति कारण होते है। अतः कहा गया है-

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येयम् एते दर्शनहेतवः।। इति।

इसका सार यह है कि-

ध्यान दें:

आनन्दरूपब्रह्म की प्राप्ति ही मोक्ष कहलाती है। और वह ज्ञान मात्र के द्वारा साध्य होता है। ज्ञान जीवब्रह्मैक्यगोचरापरोक्षसात्काररूप ही होता है। वह तत्वमसि इस प्रकार के महावाक्यों के अधीन होता है। अथवा श्रवणादिसंस्कृतमनोनिबन्ध होता है। मोक्ष सर्वथा उपासनात्मक क्रियासाध्य नहीं होता है। और नहीं कर्मसाध्य।

पाठगत प्रश्न 23.6

1. मनन क्या होता है? तथा मनन के द्वारा किसकी निवृत्ति होती है?
2. निदिध्यासन क्या होता है? उसके द्वारा किसकी निवृत्ति होती है।
3. प्रमाणगता असम्भावना के द्वारा निवर्तक क्या होता है?

   (क) श्रवणम् (ख) मननम् (ग) निदिध्यासनम् (घ) विवेक:
4. प्रमेयगतासम्भावना का निवर्तक क्या होता है?

   (क) श्रवण (ख) मनन (ग) निदिध्यासन (घ) विवेक
5. विपरीत भावना का निवर्तक क्या होता है?

   (क) श्रवण (ख) मनन (ग) निदिध्यासन (घ) विवेक
6. चित्त के मल का नाशक क्या होता है?

   (क) श्रवण (ख) मनन (ग) निदिध्यासन (घ) निष्कामकर्मयोग
7. चित्त विक्षेप का शामक क्या होता है?

   (क) श्रवण (ख) मनन (ग) निदिध्यासन (घ) उपासना

23.13) गीताभाष्य

मोक्ष परमनि:श्रेयस् कहलाता है। उसका साधन क्या है इस विषय में अनेक पूर्व पक्ष है। बहु युक्तिजाल भी विस्तीर्ण होता है। प्राय: सभी विषय का साधक बाधक युक्तियों के द्वारा परीक्षण करके भगवान भाष्यकार शङ्कराचार्य जी ने गीता के अन्तिम अध्याय में कहा है। उसका ही यहाँ पर उपस्थापन किया जा रहा है।

गीताभाष्य

इस गीता शास्त्र में परमनि:श्रेयस का साधन ज्ञान है अथवा कर्म या दोनों। इस प्रकार का संशय होता है। 'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' (भ. गी. 13.12) 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' (भ. गी. 18. 55) इत्यादि वाक्य केवल ज्ञान से नि:श्रेयस की प्राप्ति दिखाते है। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (भ. गी. 2.47) 'कुरु कर्मैव' (भ. गी. 4.15) इत्यादि वाक्य कर्म की आवश्यक्ताओं को दर्शाते है। इस प्रकार से ज्ञान तथा कर्म के कर्तव्योपदेश से समुच्चित एक नि:श्रेयस का हेतु कौन है यहाँ पर संशय उत्पन्न होता है। क्या यहाँ पर मीमांसा फलित होती है। निश्चित रूप से यह इन अन्यतम परमनि:श्रेयससाधनत्व अवधारण होता है। इसलिए इनकी विस्तीर्ण मीमांसा की गई है।

कैवल्यफलसायित्व से भेदप्रत्ययनिवर्तकत्व के द्वारा आत्मज्ञान का तो केवल नि:श्रेयसहेतुत्व होता

ध्यान दें:

है। क्रिया कारक फल भेद बुद्धि अविद्या के द्वारा आत्मा में नित्य प्रवृत्त होती है मेरा कर्म, मैं कर्ता, उस फल के लिए यह करूँगा। इस प्रकार की यह अविद्या अनादि काल से प्रवृत्त होती हुई आ रही है। इस विद्या का निवर्तक 'यह मैं हूँ केवल अकर्ता हूँ अक्रिय तथा अकल युक्त हूँ मेरे अलावा कोई नहीं है।' इस प्रकार से यह रूप ही आत्म विषय ज्ञान का उत्पद्यमान कर्मप्रवृत्तिहेतुभूता भेदबुद्धि से निवर्तकत्व से होता है। इस प्रकार से शब्दपक्षव्य अर्थ यह है कि न केवल कर्मों से तथा न ज्ञान तथा कर्मोंसे नि: श्रेयस की प्राप्ति होती है। इस प्रकार से दोनों पक्षों का निवारण होता है। अकारत्यत्व से नि:श्रेयस की कर्मसाधनत्व अनुपप्ति होती है। नित्य वस्तु ज्ञान के द्वारा तथा कर्म के द्वारा प्राप्त की जाती है। और अविद्यानिवर्तकत्व होने पर दृष्टकैवल्यफलावसानत्व से, केवल ज्ञान भी अनर्थक नहीं होता है। अविद्यातमोनिवर्तक ज्ञान का दृष्टकैवल्यफलावसनात्व रज्ज्वादिविषय में सर्पाद्यज्ञानतमोनिवर्तकप्रदीप प्रकाशफल के समान होता है। विवृत्त सर्पादिविकल्पपरज्जुकैवल्यावसना ही प्रकाशफल होता है। उसी प्रकार से ज्ञान होता है। दृष्टार्थों की च्छिदिक्रया अग्निमन्थनादियों व्यापृतकर्त्रादिकारकों की द्वैधीभावाग्निदर्शन फल से अन्यफल में अर्थ कर्मान्तर में जो व्यापारानुपपत्ति जैसे होती है। वैसे ही दृष्टार्थज्ञाननिष्ठाक्रिया में व्यापृत ज्ञात्रादिकार की आत्मकैवल्यफल से कर्मान्तर में प्रवृत्ति अनुपपन्न होती है,इस प्रकार से ज्ञाननिष्ठा-कर्मसंहिता उपपादित नहीं होती है। यदि भुज्यग्निहोत्रादिक्रिया के समान हो तो भी नहीं। कैवल्यफल ज्ञान में क्रियाफलार्थित्वानुपपत्ति होती है। कैवल्यफल में ही ज्ञानप्राप्ति होने पर सर्वत: सम्प्लुतोदकफल में कूपतटाकादिक्रियाफलार्थित्व अभाव से समान ही फलान्तर तत्साधनभूता क्रिया में अर्थित्व की अनुपपत्ति होती है। जिस प्रकार से राज्यप्राप्तिरूपी कर्मफल में व्यापृतक्षेत्रमाप्राप्तिफल में व्यापार उपपादित तथा वह विषय ही अर्थित्व होता नहीं है। उसी प्रकार से कर्म से भी नि:श्रेयस साधनत्व नहीं होता है। और दोनों समुच्चित ज्ञान कर्म के द्वारा भी नहीं। अविद्यानिवर्तकत्व के द्वारा विरोध से ज्ञान कैवल्यफल को कर्म की सहायता की अपेक्षा नहीं होती है। तम तमस का निवर्तक नहीं होता है। इसलिए केवल ज्ञान ही नि:श्रेयसाधन नहीं होता है। नित्याकरण में प्रत्यवायप्राप्ति से कैवल्य का ही नित्यत्व होता है। अगर केवल यह कहें की केवल ज्ञान से कैवल्य की प्राप्ति हो जाए तो वह भी असत् है क्योंकि नित्यादि कर्मो को श्रुति के अनुसार नहीं करने पर नरकादि प्राप्ति लक्षण होता है। तो फिर कहते हैं की कर्मों से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी तो मोक्ष मिलेगा ही नहीं।

तब उत्तर देते हुए कहते हैं की मोक्ष के नित्यत्व होने के कारण यहाँ पर यह दोष नहीं है। नित्यकर्मों के अनुष्ठान से प्रत्यवाय की अप्राप्ति,तथा प्रतिषिद्ध के अकरण से अनिष्टशरीर की अनुपपत्ति, काम्यों को छोड़ने से इष्टशरीर की अनुपपप्ति, वर्तमान शरीर आरम्भक कर्मों को फलोपगों का क्षय होने पर पतित इस शरीर के पतित होने पर देहान्तर उपपत्ति और कारणाभाव से आत्मक के रागादि के अकरण में स्वरूपावस्थान ही कैवल्य अर्थात् अयत्नसिद्ध कहलाता है। अनेक जन्मान्तर कृत स्वर्गनरकादिप्राप्तिफल वाले अनारब्ध कार्यों का अतिक्रमण करके उपभोग अनुपपत्ति से यदि क्षय का अभाव होता है तो ऐसा भी नहीं। क्योंकि नित्यकर्मानुष्ठानायासदु:खोपभोग की तत्फलोपत्ति होती है। प्रायश्चित्त के लिए तथा पूर्व के उपात्तों को दूर करने के लिए नित्यकर्म किए जाते हैं।

आरब्ध कर्मों के उपभोग के द्वारा ही क्षीणत्व होने से अपूर्व कर्मों के अनारम्भ में अयत्नसिद्ध कैवल्य की प्राप्ति हो जाए तो ऐसा भी नहीं है। क्योंकि श्रुतियों में कहा है 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे. उ. 3.क्र) इस प्रकार से उस विद्या के उसको जाने बिना और कोई मार्ग हैं की नहीं इस प्रकार से श्रुति ने कहा है। इस प्रकार से 'ज्ञानात्कैवल्यप्राप्ति:' इत्यादि पुराणवचनों की, अनारब्ध पुण्यों को कर्मों की क्षय अनुपपत्ति भी होती है।

जिस प्रकार से पूर्वपात्त दुरित्तों के अनारब्धफल सम्भव होते हैं वैसे ही पुण्यों के भी अनारब्ध फल सम्भव होना चाहिए। उनकी तो देहान्तर किए बिना ही क्षयानुपपत्ति तथा मोक्षामुपपत्ति होती है। धर्म के

ध्यान दें:

हेतु रागद्वेषमोहादि के अन्य जगह आत्मज्ञान से उच्छेदानुपपत्ति होने से धर्माधर्मोच्छेदानुपपत्ति होती है। नित्य कर्मों की पुण्यफलत्वश्रुतियों की 'वर्ण आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः' (गौ. ध. सू. 2.2.29) इत्यादि स्मृतियों से कर्मक्षयानुपपत्ति होती हैं और जो यह कहते हैं कि नित्यादिकर्म दु:खरूपत्व से पूर्वदुरितकर्मों को फल ही है, उनका स्वरूप व्यतिरेक के कारण अश्रुतत्व से तथा जीवनादिनिमित्त के विधान से अन्य फल नहीं होता है। अप्रवृत्त कर्मों के फल प्रदान में असम्भव होने से दु:खफलविशेषों की अनुपत्ति नहीं होनी चाहिए। जो यह कहा गया है की पूर्वजन्मकृतदुरित कर्मों का फल नित्यकर्म अनुष्ठान अनायदुख के रूप में भोगा जाता है तो वह भी असत् है। क्योंकि मरण काल में फल देने के लिए अनङ्कुरीभूत कर्मों के अगले जन्म में अन्यकर्म आरब्ध होने पर वे उपभुज्य नहीं होते हैं इस प्रकार की उपपत्ति होती है। नहीं तो स्वर्गफलोपभोग के लिए अग्निहोत्रादि कर्मों के आरम्भ करने पर नरकफलोपभोगं की अनुपपत्ति नहीं हो। उस दुरित की दु:ख के विशेषफलत्व अनुपत्ति से अनेक दुरुतों में सम्भव भिन्नदु:खसाधन फलों में नित्यकर्मानुष्ठानायासदु:खमात्र फलों में कल्प्यमान में द्वन्द्व आदि रोगादि का बाध की कल्पना नहीं कर सकते है, नित्यकर्मानुष्ठानायासदु:ख से होने वाले पूर्वोपात्तदुरित फल शिरस पत्थर तोड़ने वाले दु:ख नहीं होते हैं। इसलिए कहते है की नित्यकर्मानुष्ठानायासदु:ख पूर्वकृतदुरुतकर्मफल ही होता है। कैसे। अप्रसूत फल का पूर्वकृत दु:ख का क्षय उपपद्य नहीं होता है। वहाँ पर प्रसूतफल कर्म का फल नित्यकर्मानुष्ठानायसदु:ख कहा गया है। वहाँ पर आप अप्रसूत फल का अर्थ नहीं कर सकते है।

इस प्रकार से यदि आप सब कुछ पूर्वकृत दुरित को प्रसूतफल ही मानते है। तो उससे नित्य कर्मानुष्ठानायास दु:ख ही फल है इस प्रकार वहाँ पर विशेषण अयुक्त है। नित्यकर्मविद्यानर्थक्यप्रसङ्ग, उपभोग के द्वारा ही प्रसूतफल के दुरुत कर्म की क्षयोपपत्ति होती है। लेकिन श्रुत नित्यकर्म का दु:ख तो फिर फल हुआ, और वह नित्यकर्मानुष्ठानायास से ही व्योमादि के समान दिखाई देता है उससे अन्य की कल्पना अनुपपत्ति होती है। जीवनादि निमित्त में विधान से नित्यकर्मों के प्रायश्चित्त के समान पूर्वकृ तदुरित फलत्व की अनुपपत्ति होती है। जिस पाप कर्म के जो निमित्त जो प्रायश्चित्त विहित है वह प्रायश्चित्त उस पाप का फल नहीं होता है। इसलिए उसी पाप के निमित्त का प्रायश्चित्त दु:ख ही फल होता है, जीवनादिनिमित्त होने पर भी नित्यकर्मानुष्ठानायासदु:ख जीवनादिनिमित्त के ही फलों को नित्य प्रायश्चित्त तथा नैमित्तिकत्वाविशेष से उत्पन्न करता है। कुछ लोग अन्य प्रकार से मानते है वे कहते है की नित्य काम्य अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान अनायासदु:ख के तुल्य होने से नित्यानुष्ठानासायदु:ख ही पूर्वकृत दुरित का फल होता है, न की काम्यानुष्ठानायासदु:ख होता है इस प्रकार से विशेष नहीं होने पर भी पूर्वकृत दुरितों का फल तो उत्पन्न होती ही है। और होने पर नित्य के फल श्रवण से और उनका विधान अन्यथा अनुपपत्ति से नित्यानुष्ठानायासदु:ख पूर्वकृतदुरितफल के अर्थापत्ति की कल्पना अनुपपन्न होती है, इस प्रकार से विधान के अन्यथा अनुपपत्ति के अनुष्ठानायासदु:खव्यतिरिक्तफलत्व अनुमान नित्य होता है। लेकिन यह विरुद्ध भी कहा जाता है। नित्यकर्म के द्वारा अनुष्ठीयमान से अन्य कर्म का फल भोगा जाता है, इस प्रकार से मानने पर ही वह उपभोग नित्यकर्म का फल होता है तथा नित्यकर्म का फलाभाव इसके विरुद्ध कहा जाता है। कहीं पर तो काम्य अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान करने पर नित्यकर्मों का भी अग्निहोत्रादि तन्त्र के द्वारा अनुष्ठान हो जाता है। तब आयासदु:ख के द्वारा ही काम्याग्निहोत्रादिफल तत्तन्त्रत्व से उपक्षीण होते है। इसलिए काम्याग्निहोत्रादि का फल अन्य स्वर्गादि तदनुष्ठानायासदु:ख भी भिन्न ही होता है। लेकिन वह नहीं दृष्ट विरोध के कारण नहीं होता है, काम्यानुष्ठानायासदु:ख से केवलनित्यानुष्ठानायसुद:ख भिन्न दिखाई नहीं देते है। लेकिन कहीं पर अन्य अविहितम प्रतिषिद्ध कर्म तत्कालफलवाले तथा शास्त्र प्रेरितप्रतिषिद्ध तत्काल फलवाले नहीं होते है। तह स्वर्गादि में भी अदृष्टफलशासन के द्वारा उद्यम नहीं होता है। अग्निहोत्रादि के ही कर्मस्वरूपाविशेष में नित्यों का अनुष्ठानायासदु:मात्र से उपक्षय, काम्यों का स्वर्गादि महाफलत्व अंगीकार करने पर इनकी कर्तव्यताधिक्य के असत् होने से ये कभी भी उपपद्य हो सकते है। इसलिए अविद्यापूर्वक कर्म के होने से ही शुभ तथा

ध्यान दें:

अशुभ का क्षयकारण विशेष होता अशेषत होने से नित्याकर्मों का अनुष्ठान नहीं होता है।

सभी कर्म अविद्या काम बीज ही होते हैं। और उपपादि विद्वत विषय कर्म विद्वत विषय सर्वकर्मसंन्यासपूर्विकाज्ञाननिष्ठा- 'उभौ तौ न विजानीत:' (भ. गी. 2.19) 'वेदाविनाशिनं नित्यम्' (भ. गी. 2.21) 'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' (भ. गी. 3.3) 'अज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्' (भ. गी. 3। 26) 'तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते' (भ. गी. 3.28) 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते' (भ. गी. 5.13) 'नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (भ. गी. 5.8), अर्थात् अज्ञ: करोमि इति ; आरुरुक्षो: कर्म कारणम्, आरूढस्य योगस्थस्य शम एव कारणम् ; उदारा: त्रयोऽपि अज्ञा:, 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (भ. गी. 7.18) 'अज्ञा: कर्मिण: गतागतं कामकामा: लभन्ते' ; अनन्याश्चिन्तयन्तो मां नित्ययुक्ता: यथोक्तम् आत्मानम् आकाशकल्पम् उपासते ; 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते', अर्थात् अज्ञानि कर्मी भगवान को प्राप्त नहीं करतें है। अपितु भगवत्कर्म करने वाले जो युक्त होते हैं वे भी कर्मि अज्ञ होते है वे उत्तरोत्तरहीनफलत्यागावसानसाधना वाले तथा अनिर्देश्याक्षरोपासक होते है 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' (भ. गी. 12.13) इस प्रकार से इस अध्याय में परिसमाप्ति तक कही गई साधना क्षेत्राध्यायद्यध्याय में जो ज्ञान साधना कही गई है। सर्वकर्म संन्यासियों के अधिष्ठानादि पाँच कर्म हेतु होते हैं आम एकत्व कर्तृत्व ज्ञान वालों की पर ज्ञाननिष्ठा में वर्तमान भगवत तत्त्व विदों के अनिष्टादिकर्मफलत्रय परमहंसपरिव्राजकों के ही लब्धभगवत्स्वरूपात्मैकशरणों के नहीं होते हैं, अगर होते हैं तो केवल अन्य अज्ञानी कर्म संन्यासियों के होते हैं। यह ही गीताशास्त्रोक्तकर्त्तव्यार्थ का विभाग है। अविद्यापूर्वक सभी के कर्म असिद्ध होते हैं तो ब्रह्महत्यादि के समान ऐसा भी नहीं है। भले ही शास्त्र में नित्यकर्म कहे गये हैं। फिर भी वे अविद्या के समान ही होते है। जैस प्रतिषेध शास्त्रों को समझने पर भी ब्रह्महत्यादि लक्षण कर्म अनर्थकारण अविद्याकामादिदोष के समान होते हैं। नहीं प्रवत्ति की अनुपपत्ति होती है। वैसे नित्य नैमित्तिक काम्य भी होते है। देहव्यतिरिक्त आत्मा के अज्ञात होने पर प्रवृत्ति नित्यादि कर्मों में अनुपपन्न हो चलनात्मक कर्म की तथा अनात्मक कर्तृक की ' मैं करता हूँ' इस प्रकार की प्रवृत्ति के दर्शन के कारण ऐसा भी नहीं होता है। देहादिसङ्गात में अहं प्रत्यय गौण तथा मिथ्या नहीं हो, तो उस कार्य में गौंणत्व की उपपत्ति के कारण ऐसा भी नहीं है। आत्मीय देहादिसंघात में अहं प्रत्यय गौंण होता है। आत्मीय पुत्र में 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (तै. आ. एका. 2.11) इति, लोके च 'मम प्राण एव अयं गौ:' इस प्रकार से यह मिथ्याप्रत्यय नहीं होता है। मिथ्या प्रत्यय तो स्थाणुपुरुषों में अगृह्यमाण विशेषणों में होता है। गौण प्रत्यय की मुख्यकार्यार्थता अधिकरणस्ति अर्थत्व से तथा लुप्तोपमा शब्द के कारण नहीं होती है। जैसे 'सिंहो देवदत्त: 'अग्निर्माणवक:' इत्यादि में सिंह के समान अग्नि के समान क्रूरता पिङ्गलता आदि सामान्य धर्मत्व से देवदत्तत्व माणवकाधिकरण स्तुतियार्थ ही होता है, न की सिंह के कार्य को तथा अग्नि के कार्यों को गौण शब्द प्रत्यय निमित्त रूप में कुछ साधित होता है मिथ्याप्रत्यय कार्य तो अनर्थ का अनुभव करवाते है। गौण प्रत्यय विषय को जो जानता है वह 'नैष सिंह: दैवदत्त:' तथा न 'नायमग्निमाणवक:' इस प्रकार से मानता है तथा गौण देहादिसङ्घात आत्मा के द्वारा किया कर्म मुख्य रूप से अहं प्रत्यय युक्त आत्मा के द्वारा किया होता है। न कि गौंणसिहा अग्नि के द्वारा किया गया कर्म मुख्यसिंहाग्नियों के द्वारा किया गया होता है। न क्रूरता से तथा पैङ्गल्य से मुख्यसिंह तथा अग्नि के स्तुत्यर्थत्व के कारण तथा उपक्षीणत्व के कारण कोई कार्य करते है। जिनका वर्णन किया गया है वो तो जानते हैं की न तो मैं आग हूँ और न ही मैं सिहं हूँ।

जिस प्रकार से यह कहा गया है की स्मृति इच्छा प्रयत्न कर्म हेतुओं के द्वारा आत्म कर्म करती है, उनके मिथ्या प्रत्यय पूर्वकत्व होने से ऐसा नहीं है। मिथ्या प्रत्यय निमित्तेष्टा निष्टानुभूत क्रिया फल जनित संस्कार पूर्वक ही स्मृतिच्छयाप्रयत्नादि होते हैं। जैसे इस जन्म में देहादिसङ्गाताभिमानरागद्वेषादि करने पर धर्म तथा अधर्म तत्फलानुभव, तथा अतीत में अतीत जन्म में अनादिविद्याकृत संसार अतीत अनागत

ध्यान दें:

अनुमेय होता है। वह सर्व कर्म संन्यास सहित ज्ञाननिष्ठा के द्वारा आत्यन्तिक संसारों पर इस प्रकार से सिद्ध होता है। अविद्यात्मकत्व देहाभिमान का उसकी निवृत्ति में देहानुपपत्तिसे संसारानुपपत्ति होती है। देहादिसङ्घात में आत्माभिमान अविद्यात्मक होता है। जिस प्रकार से लोक में 'गवादिभ्योऽन्योहम् मत्तश्चान्ये गवादय: इस प्रकार से जानता हुआ अपने को मैं मानता है। नहीं जानता हुआ तो स्थाणु में पुरुषविज्ञान के समान अविवेक से देहादिसङ्गात को मैं मानता हूँ।

'आत्मा वै पुत्र नामासि' (तै. आ. एका. 2। 11) इस प्रकार से पुत्र मैं अहं का सम्बन्ध जन्यजनकसम्बन्धनिमित्त गौण होता है। गौण आत्मा से भोजनादि तथा प्रमार्थ कार्य नहीं किए जा सकते है। जैसे गौंणसिंहाग्नि से मुख्यसिंहाग्निवत् कार्य।

अदृष्टविषयप्रेरक प्रमाण से आत्मकर्तव्य गौण देहेन्द्रिय आत्मा के द्वार किए जाते है तो ऐसा भी नहीं है क्योंकि उनका कार्य तो अविद्या के द्वारा किया जाता है। आत्मा में गौण देह इन्द्रियाँ आदि भी नहीं होती हैं।

अविवेकी बालकों के द्वारा अज्ञान काल में यह देखा जाता है कि मैं बड़ा हूँ, मैं छोटा हूँ, मैं गोरा हूँ, इस प्रकार से देहादिसङ्घात में अहं प्रत्यय होता है। विवेकियों का तो 'अन्योऽहं देहादिसङ्घात्' मैं देहादिसङ्घों से अलग हूँ इस प्रकार से देह आदि में उनका अहं प्रत्यय नहीं होता है। इस प्रकार से मिथ्याप्रत्यय के अभाव में तत्कृत गौण ही होता है।

अलग से गृह्यमाण विशषसामान्य में सिंहदेवदत्त अग्निमाणवक के समान गौण प्रत्यय अथवा शब्द प्रयोग होता है। न की अगृह्यमाण विशेषमानन्य में। क्योंकि यह कहा गया है 'श्रुतिप्राणाण्यात् ' इसप्रकार से लेकिन उस प्रमाण के अदृष्टविषयत्व से वैसा भी नहीं होता है। प्रत्यक्षादि प्रमाण की अनुपलब्धि होने पर विषय में अग्निहोत्रादि साध्य सम्बन्ध में ही श्रुति का प्रमाण होता है। प्रत्यक्ष आदि में अदृष्टदर्शनार्थविषयत्वात् प्रामाण्य का भाव नहीं होता है। इसलिए दृष्टमिथ्याज्ञाननिमित्त अहं प्रत्यय के देहादिसंघात में गौणत्व कल्पित नहीं कर सकते हैं।

कर्म विधि श्रुति के समान ब्रह्म विद्या श्रुति भी अप्राप्य प्रसङ्ग वाली हो तो ऐसा भी बाधक प्रत्यय अनुपपत्ति के कारण नहीं है। जैस ब्रह्मविद्यविधिश्रुति के द्वारा आत्मा में अवगत होने पर देहादिसङ्गात में अहं प्रत्यय बाधित होता है। तथा आत्मा की आत्मा में ही गति को कभी भी कोई भी बाधित नहीं कर सकता है। क्योंकि उसकी फलव्यतिरेक से युक्त गति होती है जैसे अग्नि की ऊष्णता तथा प्रकाश। पूर्वप्रवृत्ति निरोध से उत्तरोत्तर अपूर्व प्रवृत्ति जनन का प्रत्यगात्माभिमुख्य के द्वारा तथा प्रवृत्युत्पादनार्थत्व से कर्मविधि श्रुति का अप्रमाण्य भी नहीं कहा जा सकता है। मिथ्यात्व होने पर भी उपाय की उपमेय सत्यता के द्वार सत्यत्व ही होना चाहिए जैसे अर्थवाद विधि विशेषणों की, लोक में भी बलोन्तमत्तादियों की पापी आदि में पापयित्व होने पर चूडावर्धानादिवचन होते हैं। प्रकारान्तर स्थानों के साक्षात्कारण से प्रामाण्य सिद्ध होता है। प्रागात्मज्ञा से देहाभिमान निमित्त प्रत्यक्षादि प्रामाण्य के समान। जैसे मानते हैं कि स्वयम् अव्यावृत भी आत्मा संनिधि करती है। वह ही मुख्य कर्तृत्व होता है आत्मा का। जैसा राजा युद्ध करते हुए योद्धाओं में युद्ध करते हुओं के बीच में स्वयं युद्ध नहीं करता हुआ भी संन्निधि मात्र से ही जीतता है तथा पराजित होता है। सेनापति उस समय कहता है यहाँ पर क्रियाफल का सम्बन्ध राजा का तथा सेनापति का देखा गया है। जैस ऋत्वकि का कर्म यजमान का तथा देहादि का कर्म आत्मा का होता है फल के आत्मगामित्व से। जिस प्रकार से राजा युद्ध में योद्धाओं को धन देने में तथा जय-पराजय के भोग में स्वयं ही मुख्य कर्तृत्व होता है, यजमान का भी दक्षिणादानादि में मुख्यकर्तृत्व होता है। इसलिए जो अव्यापृत का कर्तृत्वोपचार है वह गौण की समझा जाता है। इसलिए कहा जाता है कि देहादि के व्यापार से अव्यापृत आत्मा भी कर्ता तथा भोक्ता होता है। भ्रान्ति निमित्त तो सभी उपपादित होता है। न च देहाद्यात्म प्रत्यय

ध्यान दें:

भ्रान्ति सन्तान विच्छेदेषु सुषुप्ति समाध्यादिषु कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यनर्थ उपलभ्यते। तस्मात् भ्रान्तिप्रत्ययनिमित्त एवायं संसारभ्रमो न तु परमार्थ इति सम्यग्दर्शनाद् अत्यन्त एवोपरम इति सिद्ध धर्म (गी.भा.18.66)

पाठ सार

साधन के तीन पाठ हैं। वहाँ पर प्रथम पाठ में साधना का सामान्य स्वरूप बताया गया है। द्वितीयपाठ में उपासना विषय साधनक बाधक युक्तियाँ तथा द्वितीय पाठ में ही उपासना तक ही विषय को सम्पूर्ण किया गया है।

इस तीसरे पाठ में अधिकारी का जो सम्बन्ध है उसका अवशिष्ट भाग ही आदि में उपस्थापित किया गया है। वह अंश ही साधनचतुष्टय है। नित्य अनित्य वस्तु विवेक यहाँ पर विवेक पदार्थ है। इहामुत्रफलभोगविराग वैराग्यपद के द्वारा वाच्य है। शम दम उपरति तितिक्षा श्रद्धा तथा समाधान यह छः सम्पत्तियाँ बताई गई हैं। मुमुक्षत्व मोक्षेच्छा होती है। इसप्रकार से विवेक वैराग्य शमादिषट् सम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व और साधन चतुष्टय को समझना चाहिए। इनका इस पाठ में क्रमशः विस्तारपूर्वक वर्णन है। तथा अधिकारी अनुबन्ध का उपसंहार दिया गया है।

उसके बाद विषयम्बन्ध तथा प्रयोजन ये तीन अनुबन्ध उपवर्णित है। इस प्रकार से वेदज्ञ निर्मल एकाग्र साधनचतुष्टय सम्पन्न ही अधिकारी बन्धन को नहीं सहता हुआ गुरु के पास विधिवत् जाता है। वहाँ पर गुरु उसको वेदान्त का श्रवण कराते है। इसके बाद श्रवण मनन तथा निदिध्यासन का अधिकारी अनुष्ठान करता है। यदि वह पूर्णयुक्त अधिकारी होता है तो उसे उसी क्षण ही ब्रह्मज्ञान हो जाता है। नहीं तो पूर्वसाधनों का फिर से अनुष्ठान करना होता है। इसलिए विविदिषा तथा विद्वत् सन्यास के भेद से सन्यास दो प्रकार का होता है।

आपने क्या सीखा

- साधन चतुष्टय के बारे में,
- विषय प्रयोजन में अनुबंधों को जाना
- अधिकारी को कब गुरु के पास जाना चाहिए जाना।
- श्रवण भजन निब्दिय निदिध्यासन को जाना,
- श्रवण तात्पर्य में लिङ्गों को जाना

पाठान्त प्रश्न

1. वेदान्त में अधिकारी के विवेकी को उपस्थापित कीजिए।
2. वेदान्त में अधिकारी के वैराग्य का प्रतिपादन कीजिए।
3. शम का परिचय दीजिए।
4. दम का विवरण दीजिए।
5. उपरित को प्रकट कीजिए।

ध्यान दें:

6. श्रद्धा को स्पष्ट कीजिए।
7. समाधान क्या होता है? लिखिए।
8. मुमुक्षुत्व का वर्णन कीजिए।
9. साधनचतुष्टय में कार्यकारणभाव को बताइये।
10. वेदान्त के विषय को स्पष्ट कीजिए।
11. अनुबन्धों में सम्बन्ध को उपस्थापित कीजिए।
12. वेदान्त के प्रयोजन को बताइए।
13. गुरुपसदन को लिखिए।
14. गुरु के लक्षणों को लिखिए।
15. श्रवण का वर्णन कीजिए।
16. तात्पर्य निर्णायक लिङ्गों की व्याख्या कीजिए।
17. मनन का वर्णन कीजिए।
18. निदिध्यासन को प्रकट कीजिए।
19. श्रवणादि के प्रतिबन्धक क्या क्या होते हैं तथा उनकी निवृत्ति किस प्रकार से होती है।
20. मनन में तर्क की उपयोगिता लिखिए।
21. मनन में प्रयुज्यमान उपपत्ति की क्या विशेषता है।
22. संशय तथा विपर्यय का प्रतिपादन कीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 23.1

1. नित्यानित्यवस्तु विवेक से ब्रह्म ही नित्य वस्तु है उससे भिन्न सभी अनित्य है इस प्रकार विवेचन वेदान्त में अधिकारी का विवेक होता है।
2. कर्मजन्य सभी भोगों को अनित्यत्व से दृष्टानुश्रविकभोगों से हमेशा के लिए के निवृत्ति वैराग्य होता है।
3. स्वर्ग को प्राप्त करने पर भी जब पुण्यों का क्षय होता है तब जन्म ग्रहण करना चाहिए। इसलिए गीता में कहा है क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। इसलिए स्वर्गफल भी अनित्य है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 23.2

1. शम दम उपरति तितिक्षा समाधान तथा श्रद्धा ये छः षट् सम्पत्तियां है। साधन चतुष्टय में यह तीसरा साधन है।
2. आत्मभाव के अनुरूप सम्पत्ति जो होती है वो सम्पत्ति कहलाती है। अनुरूप अर्थ योग्य होता है। आत्मभाव स्वयं का भाव होता है।

ध्यान दें:

3. शम से तात्पर्य है श्रवणा दिव्यतिरिक्त विषयों से मन का निग्रह। मन का शम किया जाता है। साधन चतुष्टय में अन्यतम साधन है शमादिषट्क सम्पत्ति होती है। उस सम्पत्ति में सबसे पहले शम होता है।

4. दम से तात्पर्य है बाह्येन्द्रियों को उनसे अतिरिक्त विषयों से हटाना अर्थात् बाह्येन्द्रियों का दमन करना। साधनचतुष्टय में अन्यतम साधन है शमादिष्टसम्पत्ति। उस सम्पत्ति में द्वितीय भाग दम होता है।

5. निवर्तित बाह्येन्द्रियों का तथा मन का श्रवणादि व्यतिरिक्त विषयों से उपरण करवाना ही उपरति होती है। यह इसका एक अर्थ है तथा विहित कर्मों को विधि के द्वारा परित्याग करना यह दूसरा अर्थ है अर्थात् श्रवणादि व्यतिरिक्ति विषयों से उपरति करना। साधन चतुष्टय में अन्यतमसाधन शमादिषट्क सम्पत्ति है। उस सम्पत्ति में यह तीसरी उपरति है।

6. तितिक्षा शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता होती है। तितिक्षा के विषय में शीतोष्णादि द्वन्द्व बाह्य द्वन्द्व होते हैं। तथा मानापमानादिद्वन्द्व आभ्यन्तर द्वन्द्व होते हैं। साधन चतुष्टय में अन्यतम साधन शमादिषट्क सम्पत्ति है तथा उस सम्पत्ति में चौथी तितिक्षा है।

7. गुरुपदिष्ट वेदान्त वाक्यों में विश्वास ही श्रद्धा है। तथा श्रद्धा का विषय ही गुरुपदिष्ट वेदान्त वाक्य है। साधन चतुष्टय में अन्यतम साधन शमादिष्ट सम्पत्ति है तथा उस सम्पत्ति में पञ्चमी श्रद्धा होती है।

8. निगृहीत मन का श्रवणादि में तथा तदनुगुण विषय में समाधि समाधान है। आत्म विषय में श्रवण मनन तथा निदिध्यासन में उसके अनुगुणविषय गुरु शुश्रुषा आदि में अवस्थान ही समाधान होता है। साधन चतुष्टय में अन्यतम साधन शमादिषट्सम्पत्ति है तथा उस सम्पत्ति में अन्तिम समाधान है।

9. मोक्तुम् इच्छा मुमुक्षा कहलाती है। संसारबन्धान् से अर्थात् सूक्ष्म अहंकार से लेकर के स्थूलदेहपर्यन्त अज्ञानकल्पित बन्धसमूहों से मुमुक्षा होती है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 23.3

1. वेदान्त के चार अनुबन्ध है। उनमें अन्यतम अनुबन्ध विषय है। वेदान्त का विषय ही जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य है शुद्धचैतन्य प्रमेय होता है। क्योंकि यह ही वहाँ पर वेदान्त का तात्पर्य होता है।

2. वेदान्त के चार अनुबन्ध है। उनमें अन्यतम सम्बन्ध है। प्रमेय प्रमाण का सम्बन्ध तथा बोध्यबोधक भाव सम्बन्ध। विषय ही प्रमेय है। बोधक प्रमाण उपनिषद् है।

3. वेदान्त शास्त्र का प्रयोजन ही जीवब्रह्मैक्यरूपप्रमेयविषयक अज्ञान की निवृत्ति तथा स्वस्वरूपानन्दावाप्ति है। प्रयोजन की सिद्धि आत्मज्ञान के द्वारा होती है।

4.	(ग)	5.	(ग)	6.	(ग)
7.	(ग)	8.	(क)	9.	(क)
10.	(क)	11.	(ख)	12.	(ख)
13.	(ग)	14.	(ग)	15.	(ग)

ध्यान दें:

16. (क) 17. (ख) 18. (ग)

19. (क) 20. (ख)

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 23.4

1. उक्त लक्षण लक्षित अधिकारी जनन मरणात्मक चक्र की पीछा करके तद्गतव्याधियों का विचार करके संसार नल से संतप्त होकर के गुरु के पास जाता है।
2. गुरु करुणा के द्वारा विधिवत् उपासना के लिए उपदेश देता है।
3. गुरु के समीप जाकर के अधिकारी श्रवणादि अन्तरङ्ग साधन करता है।
4. लब्धाधिकार मुमुक्षु गुरु समीप जाकर के गुरुपदेशानुगुण ब्रह्मा का अन्वेषण करता है। शास्त्रविद् को भी स्वातन्त्र्य से नहीं करना चाहिए।
5. आचार्यवान् पुरुषो वेद (छा.उ. 6.14.2) इस श्रुति के द्वारा यह समझा जाता है कि जिसका आचार्य ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म को जानता है। आचार्य के बिना मार्गदर्शन नहीं होता है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 23.5

1. श्रवण से तात्पर्य है छः प्रकार के लिङ्गो का अद्वितीय वस्तु का तात्पर्यावधारण।
2. तत्प्रतीतिजनन योग्यत्व ही तात्पर्य होता है
3. तात्पर्य निर्णायक लिङ्ग छः है वे है- 1) उपक्रम तथा उपसंहार, 2) अभ्यास, 3) अपूर्वता, 4) फल, 5) अर्थवाद, 6) उपपत्ति चेति।
4. प्रकरण प्रतिपाद्य अर्थ का प्रकरण के आदि में तथा अन्त में उपपादन उपक्रम तथा उपसंहार कहलाता है। तात्पर्य निर्णायक लिङ्गों में यह छः लिङ्गों में अन्यतम होता है।
5. प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु का उसके बीच में बार-बार प्रतिपादन करना अभ्यास कहलाता है। तात्पर्यनिर्णायक छः लिङ्गों में यह अन्यतम होता है।
6. प्रकरणप्रतिपाद्य अर्थ का प्रमाणान्तर के द्वारा अविषयीकरण करना अपूर्वता होती है। तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गों में यह अन्यतम होता है।
7. प्रकरणप्रतिपाद्य आत्मज्ञान का तथा उसके अनुष्ठान का वहाँ श्रूयमाण प्रयोजन फल होता है। तात्पर्य निर्णायक छः लिङ्गों में यह अन्यतम होता है ।.
8. प्रकरण प्रतिपाद्य की जहाँ जहाँ पर प्रशंसा होती है वह अर्थवाद होता है। तात्पर्य निर्णायक छः लिङ्गों में यह अन्यतम होता है।
9. प्रकरण प्रतिपाद्यार्थ साधन में वहाँ-वहाँ श्रूयमाण युक्ति उपपत्ति होती है। तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गों में यह अन्यतम होती है।

10.	(घ)	11.	(घ)	12.	(घ)
13.	(घ)	14.	(क)	15.	(क)
16.	(घ)	17.	(घ)	18.	(ख)
19.	(क)	20.	(ग)	21.	(क)

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 23.6

1. मनन ही श्रुत अद्वितीय वस्तु की वेदान्तगुण युक्तियों के द्वारा अनवरत अनुचिन्तन होता है। यह अन्तरङ्ग साधनों का अन्तर होता है। मनन के द्वारा प्रमेयगता सम्भावना की निवृत्ति होती है ।
2. विजीतीयदेहादिप्रत्ययरहित अद्वितीयवस्तुसजीतीयप्रत्ययप्रवाह निदिध्यासन होता है। उसके द्वारा देहादि विपरीत भावनाओं का निवारण होता है।

3.	(क)	4.	(ख)
5.	(ग)	6.	(घ)
7.	(घ)		

24

समाधि स्वरूप

ध्यान दें:

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार प्रकार के पुरुषार्थों में मोक्ष ही परम पुरुषार्थ होता है। दु:ख की आत्यन्तिक निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति ही मोक्ष कहलाती है। यह मोक्ष बद्धजीव के स्वस्वरूप के अज्ञान के नाश के द्वारा होता है। स्वस्वरूप अज्ञान का नाश अखण्डाकार चित्त वृत्ति से होता है। अखण्डाकारचित्तवृत्ति निदिध्यासन के द्वारा सम्भव होती है। श्रवण के द्वारा शास्त्रगुरुवाक्य आदि का ब्रह्म में तात्पर्य समझकर के मनन के द्वारा ब्रह्मविषयक विरुद्ध युक्तियों का खण्डन करके ब्रह्मविषय में असन्दिग्ध अविपर्यस्त बुद्धि होती है। उस प्रकार के ब्रह्म में मन की स्थिति सम्पादन करना ही निदिध्यासन होता है। यह निदिध्यासन ही ब्रह्मसाक्षात्कार में कारण होता है। शास्त्रों में इस प्रकार से कहा भी है। "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" इस प्रकार से। अत: वेदान्त अचार्यों के द्वारा निदिध्यासन महान यत्न के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है। निदिध्यासन ही समाधि है। निदिध्यासन की आध्यावस्था में सविकल्प समाधि होती है। पक्वावस्था में निर्विकल्प समाधि होती है। निर्विकल्प समाधि ही निदिध्यासन की पराकाष्ठा होती है। निर्वकल्प समाधि होने पर अखण्डाकार चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है। वह चित्तवृति जीव के स्वरूप विषयक अज्ञान का नाश करती है। और स्वयं भी नष्ट हो जाती है। उससे जीव कर्मसंसारबन्धन से मुक्त हो जाता है। इसलिए हमारे द्वारा इस प्रबन्ध में समाधि का स्वरूप समाधि की आवश्यकता तथा समाधि के प्रकार इत्यादि विषयों का आलोचन किया जा रहा है।

उद्देश्य

इस पाठ को पढ़कर आप सक्षम होंगे;

- मोक्ष के उपाय कौन-से हैं तथा उनका स्वरूप क्या होता है? जानने में;
- निदिध्यासन का विशेषस्वरूप क्या होता है? जानने में;
- निधिध्यासन तथा समाधि में अभेद जानने में;
- समाधि की आवश्यकता जानने में;
- समाधि के दो भेदों को जानने में;
- चित्तवृत्ति का अज्ञाननाशकत्व जानने में;

ध्यान दें:

- अखण्डाकार चित्तवृत्ति का स्वरूप तथा अज्ञान नाश के प्रकारों को जानने में;
- ज्ञेयों का वृत्ति विषयत्व तथा फल विषयत्व ज्ञान जानने में;

24.1) भूमिका

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:" इस प्रकार से अद्वैतवेदान्तसिद्धान है। ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूप है। अन्त: करणोपहित ब्रह्म ही जीव कहलाता है। तथा अन्त: करणरूप उपाधि के नाश होने पर जीवत्व का भी नाश होता है। जीवत्मनाश होने पर कर्तृत भोक्तृत्वादि रूप से उत्पन्न दु:खादियों का भी नाश हो जाता है। यह आत्यन्तिक दु:खनाश ही मोक्ष कहलाता है।इस प्रकार से मोक्ष की प्राप्ति के लिए कुछ उपाय उपनिषदों में बताए गए है- बृहदारण्योकोपनिषद् में इस प्रकार से कहा गया है- "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:" इस प्रकार से। स्वस्वरूप ज्ञाननाश के लिए मुमुक्षुओं के द्वारा श्रवण मनन तथा निदिध्यासन का आचरण करना चाहिए। उनमें श्रवण से तात्पर्य है "वेदान्त रूप से कहलाने वाले अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्यावधारणानुकूल मानसी क्रिया"। सभी वेदान्त वाक्य अद्वैत ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते है। इसलिए तात्पर्यावधारण के लिए श्रवण रूपी मानसिक क्रिया विहित है। मनन शब्द अवधारणा के अर्थ में मानान्तरविरोधशङ्का में तन्निराकरणानुकूलतर्कात्मकज्ञान जनकमानसव्यापार: होता है। गुरुशास्त्र वाक्यों का ब्रह्म में तात्पर्य समझकर के ब्रह्मविषय में समापतित विरोधियुक्तियों के खण्डन के लिए विहित मानसी क्रिया मनन होती है। मनन के द्वारा शास्त्र के द्वारा निर्धारित अर्थ में दृढ मति होती है। श्रवण तथा मनन के द्वारा दृढनिश्चित अर्थ में उससे भिन्नविषयों से मन का स्थैर्य ही निदिध्यासन कहलाता है। इसलिए वेदान्त परिभाषा में कहा गया है। "निदिध्यासन अनादि दुर्वासना के द्वारा विषयों में आकृष्यमाण चित्त का विषयों से अपकर्षण करके आत्म विषयकस्थैर्य के अनुकूल मानस व्यापर करना निदिध्यासन होता है" इस प्रकार से श्रवण मनन तथा निदिध्यासनों के अनुष्ठान से मुक्ति होती है। इस प्रकार का वेदान्तियों का सिद्धान्त है। निदिध्यासन ही समाधि है। निदिध्यासन तथा समाधि के स्वरूप के विज्ञान के बिना उन दोनों के ऐक्य में अनेक्य प्रतिपादन नहीं कर सकते है। इसलिए सबसे पहले निदिध्यासन के स्वरूप का आलोचन किया जा रहा है।

24.2) निदिध्यासन स्वरूप

निदिध्यासन के स्वरूप में वेदान्तसार में कहा है। "विजाती देहादिप्रत्ययरहित अद्वितीयसजातीयप्रत्ययप्रवाह निदिध्यासन होता है" जाग्रत अवस्था में विविध विषयों का ज्ञान हमें होता है। अज्ञान नाश से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। चित्तवृत्ति अज्ञान का नाश करती है। इसलिए ज्ञानस्थल में अवश्य ही चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है। जैसे घटज्ञान के बाद पटज्ञान, तथा पट के ज्ञान के बाद में दण्ड का ज्ञान इस प्रकार से विविध ज्ञानों की उत्पत्ति से जाग्रतावस्था में चित्त की वृत्तियाँ हर क्षण अलग अलग होती रहती हैं। उससे चित्त की स्थिरता सम्भव नहीं होती है। यदि एक घट का ही निरन्तर ज्ञान हो तब निरन्तर घटविषयी चित्तवृत्ति होती है। उससे चित्त की स्थिरता सम्भव होती है। जब निरन्तर एकजातीय ही चित्त की वृत्ति होती है। तब चित्त विविध विषयों में नहीं जाता है, इस हेतु से चित्त स्थिर कहलाता है।

निदिध्यासन मोक्ष जनक होता है। इसलिए घटपटादिविषयों में निरन्तरचित्तवृत्ति का प्रवाह निदिध्यासन होता है। "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति", "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इत्यादि श्रुतियों में यह जाना जाता है कि उपनिषद् प्रतिपादित ब्रह्म के ज्ञान से ही मुक्ति होती है। इसलिए ब्रह्मविषयी निरन्तरचित्तवृत्ति ही निदिध्यासन कहलाती है। सभी इन्द्रियों के द्वार ही ब्रह्म का ज्ञान सम्भव होता है। जैसे

ध्यान दें:

आँखों से यह घट है। इस प्रकार से घट का ज्ञान होता है। उस ज्ञान में घट की सत्ता का ज्ञान होता है। घट ज्ञान के बाद किसी को कोई सन्देह नहीं होता है की घट है अथवा नहीं। वह सत्ता ही ब्रह्म की ही सत्ता होती है। ब्रह्म में अखिल प्रपञ्च के आरोप से ब्रह्म अधिष्ठान तथा प्रपञ्च आरोप्य होता है। आरोपस्थल में अधिष्ठान का अंश आरोप्यज्ञान में भासित होता है। यह नियम है। जैसे शुक्ति रजत भ्रम स्थल में यह रजत है इस प्रकार से शुक्ति में विद्यमान (सन्निकृष्टता) रजतज्ञान में रजत के अभेद से जानी जाती है। वैसे ही घट ज्ञान स्थल में ब्रह्म की स्वरूप भूता सत्ता ही घट के साथ अभिन्नता से जानी जाती है। इसलिए आँखों के सत्ताग्रहण से ब्रह्म को जाना जाता है यह स्पष्ट हो गया है।

लेकिन इन प्रापञ्चिकवस्तुओं के ज्ञानस्थल मे न केवल अद्वितीय ब्रह्म को जाना जाता है अपितु विजातीय घटपटादि के साथ तादात्म्य से ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार से देहात्म बुद्धि स्थल में देह के साथ अभेद से आत्म का ज्ञान होता है। लेकिन विजातीयदेह घटादि के द्वारा तादात्म्य से भासमान ब्रह्म के ज्ञान से मुक्ति सम्भव नहीं होती है। उन देहघटादि से जब अलग ही ब्रह्मवस्तु का ज्ञान होता है। तब स्वस्वरूप के ज्ञान से मोक्ष होता है। इसलिए विजातीय वस्तुओं के द्वारा तादात्म्य के द्वारा भासमान ब्रह्म के विषय में निरन्तरचित्तवृत्ति निदिध्यासन होता है। लेकिन विजातीयों देहादि प्रत्ययों से रहित अद्वितीयब्रह्म के विषय में निरन्तर चित्तवृत्ति होती है तो निदिध्यासन सम्भव होता है। इसलिए देहादि के भदे से विद्यमान अद्वैत ब्रह्म के विषय में निरन्तर चित्तवृत्ति ही निदिध्यासन होता है इस प्रकार से वेदान्तसार कर्ता सदानन्द का अभिप्राय स्पष्ट होता है। आत्मविषयक स्थैर्य के अनुकूल मानस व्यापार ही निदिध्यासन होता है इस प्रकार से वेदान्त परिभाषाकार ने ख्यापित किया है। वेदान्त परिभाषाकार के द्वारा प्रतिपादित अर्थ का ही विस्तार वेदान्तसार में देखा गया है। विद्यारण्यस्वामी ने पञ्चदशी ग्रन्थ में निदिध्यासन का लक्षण इस श्लोक में कहा है

"ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते॥'' इति।

श्रवण तथा मनन के द्वारा निःसन्दिग्ध ब्रह्म विषय में स्थापित चित्त का यदेकतानत्व एकाकार वृत्तिप्रवाह ही निदिध्यासन होता है। यह इस श्लोक का अर्थ है। जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं हो जाता तबतक निदिध्यासन का अनुष्ठान करना चाहिए। इस प्रकार से जितने काल तक ब्रह्म में श्रुतियों का तात्पर्यनिर्धारण नहीं हो तब तक श्रवण तथा जब तक असन्दिग्ध अविपर्यय बुद्धि का उदय नहीं हो तबतक मनन करना चाहिए। **"आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"** इत्यादि श्रुतियों में एकबार श्रवण एकबार मनन तथा एकबार निदिध्यासन का उपदेश नहीं दिया है। इस प्रकार की श्रुतियों को अनेक बार देखने से यह स्पष्ट होता है कि श्रवण मनन निदिध्यासनादि की आवृत्ति जबतक ब्रह्म साक्षात्कार नहीं हो जाए तबतक करनी चाहिए। जिस प्रकार से धान को कूटने से चावल मिलते हैं तो जब तक चावल धान से बाहर नहीं आ जाते है तब तक उनको कूटा ही जाता है। उसी प्रकार से जबतक ब्रह्मज्ञान नहीं हो जाता तब तक नहीं होता है तब श्रवणादि की आवृत्ति करते रहना चाहिए। इसलिए भगवान बादरायण ने कहा है **'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'** इति।

पाठगत प्रश्न 24.1

1. परम पुरुषार्थ क्या होता है?
2. मोक्ष किस कहते हैं?
3. मोक्ष के उपाय कौन-कौन से हैं?

ध्यान दें:

4. अखण्ड चित्तवृत्ति के लिए क्या करना चाहिए?
5. जीव की उपाधि क्या होती है?
6. मोक्षसाधन निर्देशिक श्रुति कौन-सी है?
7. श्रवण किसे कहते हैं?
8. मनन किसे कहते हैं?
9. निदिध्यासन किसे कहते हैं?
10. चित्तवृत्ति क्या करती है?
11. लौकिक ज्ञानस्थल में ब्रह्म किस प्रकार से जाना जाता है?
12. श्रवणादि की आवृत्ति कितनी बार करनी चाहिए।

24.3) समाधि की आवश्यकता विचार

अब यह प्रश्न होता उत्पन्न होता है कि श्रवण तथा मनन के बाद निदिध्यासन को कहने से निदिध्यासन का ही ब्रह्मज्ञान में विधान होने से समाधि का अवसर कहाँ पर उत्पन्न होता है? यदि निदिध्यासन के भेद से समाधि का का उपन्यास होता है तो द्रष्टव्यादि श्रुति का अपलाप होगा। इसलिए यहाँ पर कहते हैं कि समाधि निदिध्यासन से व्यतिरिक्त नहीं है जिससे श्रुति का विरोध हो। निदिध्यासन ही समाधि है। इसलिए वेदान्तसार में निदिध्यासन के स्वरूप को कहने के अनन्तर ही समाधिस्वरूप को बिना कहे ही साक्षात्समाधि को दो प्रकार से कहा है। निदिध्यासन ही यदि समाधि नहीं हो तो निदिध्यासन के बाद सङ्गति निर्देश के बिना साक्षात् समाधि के आलोचन का अप्रसङ्ग हो जाता है। लेकिन निदिध्यासन तथा समाधि में भेद के अभाव से वहाँ पर अप्रासङ्गिक अपन्यास आशङ्कनीय है।

विद्यारण्य स्वामी ने तो निदिध्यासन का लक्षण कहकर के उससे भिन्न समाधि का लक्षण कहा है। समाधि का लक्षण इसप्रकार से है। -

“ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम्।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते॥'' इति।

श्लोक का यह अर्थ है कि ध्याता ध्यान का परित्याग करके जब चित्त ध्येयगत ही होता है तब ध्येय में निरवच्छिन्नता से निवातदी के समान रुकता हैं वह ही समाधि कहलाती है। यहाँ पर समाधि पद के द्वारा निर्विकल्पसमाधि ही उपदिष्ट है। शङ्कराचार्य जी नें भी विवेकचूडामणि में निदिध्यास के भेद के द्वारा समाधि को कहा है। इसलिए विवेकचूडामणि में कहा है-

“श्रुतेः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि।
निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम्॥'' इति।

यहाँ पर इस श्लोक का अर्थ है की श्रवण से सौ गुना मनन होता है। तथा मनन से लक्ष गुना निदिध्यासन होता है। तथा निदिध्यासन से अनन्तगुणा निर्विकल्प समाधि होती है। लेकिन निर्विकल्प समाधि ही मोक्ष है इस प्रकार से मोक्ष के प्रति कारण भगवान शङ्कराचार्य ने प्रतिपादित किया है।

“अज्ञानहृदयग्रन्थेर्निःशेषविलयस्तदा।
समाधिनाऽविकल्पेन तदाद्वैतात्मदर्शनम्॥'' इति।

ध्यान दें:

इसका यह अर्थ है की जब निर्विकल्प अद्वैत की आत्मा का ज्ञान होता है तब ही अज्ञानरूपहृदयग्रन्थी का निःशेष विलय होता है।

इस प्रकार से विद्यारण्य स्वामी के वाक्य से तथा शाङ्करवाक्य से यह सिद्ध होता है कि समाधि निर्विकल्पसमाधि कहलाती है। इस समाधि के उदय होने पर अज्ञान नाश से मुक्ति सम्भव होती है। "निदिध्यासनशीलस्य बाह्यप्रत्यय ईक्ष्यते " इत्यादिविवेकचूडामणि के वचन से यह जाना जाता है कि यहाँ पर निदिध्यासन पद के द्वारा साधारणतया सविकल्प समाधि ही उपदिष्ट है। अब कहते हैं की निदिध्यासन तथा समाधि में जो अभेद होता हैं तो इन दोनों का उपदेश विद्यारण्य स्वामी के द्वारा तथा शङ्काराचार्य के द्वारा एक ही साथ क्यों नहीं दिया गया है। तब कहतें हैं की समाधि तो निदिध्यासविशेष ही होती है। विशेष सामान्य से अलग होता है। इसलिए निर्विकल्प समाधि का गोबलीवर्दन्याये के द्वारा तथा वसिष्ठब्राह्मणन्याय के द्वारा अलग से उपदेश विहित है। निदिध्यासन की पक्वावस्था ही निर्विकल्प समाधि है। इसलिए पञ्चदशी के टीकाकार रामकृष्ण ने कहा है। "तस्यैव निदिध्यासनस्य परिपाकदशारूपं समाधिमाह"। जिस प्रकार से आम के पक जाने पर भी वह पनस नहीं कहलाता है उसी प्रकार से निदिध्यासन की पक्वावस्था भी निदिध्यासन के अन्तर्गत ही आती है। इसलिए समाधि के द्वार ब्रह्म के लाभ में समाधि का ब्रह्मज्ञान तक आवृत्ति के विधान से श्रुतियों का विरोध नहीं है। निर्विकल्प समाधि से ही अज्ञान के नाश का प्रतिपादन किया जाता है। इसलिए निर्विकल्प समाधि ही वहाँ पर द्वारभूत सविकल्प समाधि का स्वरूप आलोचित किया गया है।

24.4) समाधि के दो प्रकार

समाधि के दो प्रकार होते है। सविकल्प तथा निर्विकल्प। दोनों प्रकार की समाधि के लक्षण में वेदान्तसार टीका सुबोधिनी में नृसिंहसरस्वतीस्वामी के द्वारा कहा गया है – "व्युत्थान-निरोधसंस्कारयोः अभिभवप्रादुर्भावे सति चित्तस्य एकाग्रतापरिणामः समाधिः" चित्त के दो धर्म होते हैं प्रत्यय तथा संस्कार प्रत्ययरूप चित्त का उत्थान ही व्युत्थान कहलाता है वह प्रत्ययात्मक होता है। चित्त की निरुद्धावस्था के अलावा क्षिप्त-मूढ-विक्षिप्त तथा एकाग्रावस्था व्युत्थानरूप ही होती है। एकाग्रवस्था में उत्पन्न सविकल्पक भी निर्विकल्पक की दृष्टि से व्युत्थानरूप ही होता है। उस व्युत्थान का संस्कार ही व्युत्थानसंस्कार कहलाता है। चित्त के निरोध के अभ्यास से उत्पन्न संस्कार निरोध संस्कार होता है। व्युत्थानसंस्कार का ही निरोधसंस्कार के द्वारा अभिभव होता है, न की प्रत्यय के द्वारा संस्कार का अभिभव सम्भव है। इस प्रकार से चित्त के व्युत्थानसंस्कार का अभिभव होने पर निरोधसंस्कार का प्रादुर्भाव होने पर चित्त की एकाग्र स्थिति होती है वह ही समाधि कहलाती है। इस प्रकार से चित्त का ज्ञेयात्म निश्चचलावस्थान समाधि का तात्पर्य रामतीर्थाचार्य के द्वारा अभिप्रेत है।

सविकल्पक समाधि ही योग प्रोक्त सम्प्रज्ञात समाधि होती है। तथा निर्विकल्पकसमाधि ही असम्प्रज्ञात समाधि होती है। लेकिन योग प्रोक्त असम्प्रज्ञात में तथा वेदान्त प्रतिपादित निर्विकल्प समाधि में कुछ भेद होते हैं। उनका आगे आलोचन किया जाएगा। अभी सविकल्पक तथा निर्वकल्पक समाधि के स्वरूप का आलोचन किया जा रहा है।

पाठगत प्रश्न 24.2

1. विद्यारण्य स्वामी के द्वारा समाधि का लक्षण किस प्रकार से विहित है?
2. व्युत्थानावस्था किसे कहते है?

ध्यान दें:

3. व्युत्थान संस्कार का अभिभव कैसे होता है?
4. सविकल्पकसमाधि का योगदर्शन में क्या नाम है?
5. समाधि के कितने प्रकार हैं तथा वे कौन-कौन से हैं?

24.5) सविकल्पक समाधि

विकल्प भेद को कहते है। जहाँ समाधि में विकल्प भान सत्य होने पर चित्तज्ञेयब्रह्मविषय में एकाग्र होता है वह सविकल्प समाधि होती है। यह घट है इस प्रकार से घट का ज्ञान होता है। इस ज्ञान में घट ज्ञेय होता है। अहं ज्ञाता होता है। इस प्रकार से ज्ञान स्थल में यह तीन पुट हमेशा होते हैं। सविकल्प समाधि में यह त्रिपुटी रहती है। ज्ञेयाकारविरवच्छिन्नचित्तवृत्तियाँ होती है। इसलिए वेदान्त सार में सविकल्पसमाधि के विषय में कहा गया है कि "तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षया अद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारिताया: चित्तवृत्ते: अवस्थानम्" अर्थात् सविकल्प ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलय की अपेक्षा से अद्वितीय वस्तु में तदाकार आकारित चित्तवृत्ति का अवस्थान होता है। तब मिट्टी के पदार्थ आदि का भान होने पर भी मृत् भान के समान ही द्वैतभान होने पर अद्वैतवस्तु भासित होती है। जहाँ पर समाधि में ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूप विकल्प भासित होते हैं। उनमें लय नहीं होती है। अन्य मतानुसार अद्वितीयब्रह्मविषयिणी निरवच्छिन्न चित्तवृत्ति के उत्पन्न होने पर वह सविकल्पक समाधि कहलाती है।

अब कहते हैं की समाधि तो सकलभेद निरासपूर्वक अद्वैतब्रह्मवस्तुसाक्षात्कार के लिए प्रवर्तित होती है। लेकिन सविकल्पकसमाधि में ज्ञातृज्ञानादिभेददर्शन से अद्वैत वस्तु किस प्रकार से भासित होती है। तो कहते है कि सविकल्पक समाधि में ज्ञातृज्ञानभेद का ज्ञान होने पर भी अद्वैत ब्रह्म ही भासित होता है। जैसे सुवर्णकुण्डलादि का ज्ञान होने पर उसके उपादान सुवर्ण का भी ज्ञान होता है। जैस मिट्टी के सकोरे आदि का ज्ञान होने पर भी उसकी उपादानभूत मिट्टी का भी भान होता है। उसी प्रकार से ज्ञातृज्ञानादि के ब्रह्म विवर्तत्व से वाचारम्भणमात्रत्व से ज्ञातृज्ञानादिभान होने पर भी अद्वैतवस्तु ब्रह्म का भान ही भासित होता है। **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म", "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्"** इत्यादि श्रुतियों के सभी विषयों में आत्मानुभव होने पर दग्धपटन्याय से प्रपञ्चभान सत्य होने पर भी अद्वैतवस्तु भासित होती है। इसलिए शङ्कराचार्य जी ने उपदेशसाहस्री में कहा है

"दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्तमोम्॥" इति।

इसका यह अर्थ हैं कि दृष्ट स्वरूप गगन के तुल्य श्रेष्ठ, एकरूप से प्रकाशमान, जन्मरहित, सकलोपाधि शून्य, कूटस्थ असङ्ग, सर्वव्यापी, सदा विमुक्त जो अद्वय वस्तु है वह अहं इस प्रकार से कहलाती है इसलिए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है

"वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:।" इति च।

सविकल्प समाधि में त्रिपुटी होती है। अद्वैत ब्रह्माकाराकारिता चित्तवृत्ति होती है। यह ही समाधि योगशास्त्र में सम्प्रज्ञातसमाधि इस प्रकार से कही गई है। जिस में तत्व का अच्छी तरह से ज्ञान होता है। वह सम्प्रज्ञात समाधि होती है। इस समाधि में ज्ञेयतत्व अच्छी प्रकार से बुद्धि में आरूढ़ होता है। इसलिए यह अभिधान कहलाती है।

24.6) निर्विकल्पक समाधि

सर्वविकल्प का लय होने पर ज्ञेयाकार चित्तवृत्ति जब होती है वह ही निर्वविकल्पक समाधि

ध्यान दें:

कहलाती है। इसलिए वेदान्तसार में सदान्दयोगीन्द्र के द्वारा कहा गया है- "निर्विकल्पक: तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षया अद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारिताया: चित्तवृत्ते: अतितराम् एकीभावेन अवस्थानम्" अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञातृज्ञानलयादि कि अपेक्षा से अद्वितीयवस्तु में तदाकाराकारिता से चित्तवृत्ति के एक होने को अवस्थान कहते हैं। इसलिए इस समाधि में ज्ञातृज्ञानज्ञेयादि भेद बुद्धि का लय हो जाता है। तथा अखण्डाकारिता चित्तवृत्ति ही रुकती है। निर्विकल्पकसमाधि में चित्तवृत्तित्वसत्व होने पर भी उसका अवभास नहीं होता है। अद्वितीयब्रह्मवस्तुमात्र मे अवभासित होता है। जैसे जल तथा नमक के मिश्रण होने पर उन दोनों में भेद ग्रहण किया जाता है। जलमात्र गृहीत होता है। उसी प्रकार से निर्विकल्पकसमाधि में अद्वितीयब्रह्माकाराकारिता चित्तवृत्ति का अवभासन नहीं होता है। केवल अद्वितीय ब्रह्म ही अवभासित होता है।

योग दर्शन में प्रतिपादित असम्प्रज्ञात समाधि से निर्विकल्पसमाधि मे कुछ वैलक्षण्य है। जिस प्रकार से असम्प्रज्ञातसमाधि में चित्तवृत्तियों का तिरोभाव होता है तथा संस्कार मात्र ही अवशिष्ट रहते है। निर्विकल्पक समाधि में तो सभी चित्तवृत्तयों का तिरोभाव नहीं होता है। अखण्डाकार ब्रह्मविषयिणी चित्तवृत्ति अज्ञायमान होती हुई अवतिष्ठित होती है। इस प्रकार से इन दोनों में भेद होता है। अत: पञ्चदशीकार विद्यारण्य स्वामी नें कहा है

"वृत्तयस्तु तदानीमज्ञाता अप्यात्मगोचरा:।
स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थितात्॥'' इति।

इतने समय तक समाहित हुआ हूँ इत्यादि में समाहितोत्थित समाधि में अज्ञात के द्वारा वृत्ति सद्भाव का अनुमान किया जाता है।

निर्विकल्पक समाधि में तथा सुषुप्ति मूर्छादि में भी भेद होता है। सुषुप्ति में चित्तवृत्ति का अभाव होता है। समाधि में भी वैसे ही होता है। लेकिन सुषुप्ति में चित्तवृत्तियाँ नहीं होती है। निर्वकल्पसमाधि में तो चित्तवृत्तियाँ होती हैं लेकिन उनका भान नहीं होता है। इस प्रकार से समाधि तथा सुषुप्ति में भेद होता है। अत: वेदान्तसार में कहा गया है।

"ततश्च तस्य सुषुप्तेश्च अभेदशङ्का न भवति, उभयत्र वृत्त्यभाने समाने अपि तत्सद्भावासद्भावमात्रेण अनयो: भेदोपपत्ते:" इति।

पाठगत प्रश्न 24.3

1. समाधि का साधारण लक्षण क्या होता है?
2. त्रिपुटी किसे कहते है?
3. सविकल्पसमाधि क्या होती है?
4. विकल्प का भान होने पर किस प्रकार से सविकल्प समाधि में अद्वैत ब्रह्म भासित होता है?
5. ब्रह्म की सर्वात्मकद्योतिका श्रुतियाँ कौन-सी हैं?
6. निर्विकल्प समाधि कब होती है?
7. वेदान्तसार में निर्विकल्पक समाधि के स्वरूप के विषय में क्या कह गया है?
8. निर्विकल्पक समाधि में चित्त की वृत्तियाँ रुकती हैं अथवा नहीं?

ध्यान दें:

9. निर्वकल्पक समाधि में तथा असम्प्रज्ञात समाधि का क्या भेद होता है?

10. निर्विकल्पसमाधि में तथा सुषुप्ति में क्या भेद होता है?

11. समाधि में वृत्ति के स्थितिविषय में विद्यारण्य स्वामी ने क्या कहा है?

24.7) अखण्डाकारचित्तवृत्ति तथा अज्ञान का नाश

शुद्धब्रह्म ब्रह्म अज्ञान का नाश नहीं करता है। चित्तवृत्ति उपहित चैतन्य ही अज्ञान का नाश करता है। चित्तवृत्ति से तात्पर्य है चित्त का विषायाकार परिणाम। इसलिए घटज्ञानस्थलमें चक्षु इन्द्रिय के साथ घट का सम्बन्ध होता है। तब चक्षु इन्द्रियों के द्वारा मन घट के साथ संयुक्त होता है। उसके द्वारा मन घटाकार के रूप में परिणित होता है। मन का यह परिणाम ही वृत्ति कहलाता है। जैसे तडाग से नहरों में प्रवेश करता है तथा नहरों में प्रविष्ट होकर के नहर के आकार में परिणित हो जाता है। उसी प्रकार से मन चक्षु इन्द्रिय के द्वारा विषयदेश को जाता है। तथा विषयाकार हो जाता है। जिस विषय में चित्तवृत्तियाँ होती हैं वह उस विषय के अज्ञान का नाश करती हैं। यदि घटाकार चित्तवृत्ति होती है तो वह घटविषयक अज्ञान का नाश करती है तथा घट को प्रकाशित करती है। जब पटाकार चित्तवृत्ति होती है तो वह पट विषयक अज्ञान का नाश करती है तथा पट को प्रकाशित करती है। जिन वस्तुओं का आकार नहीं होता है उन विषयों में संलग्न चित्त की किस प्रकार तदाकारिता हो यह प्रश्न होने पर कहते हैं की जो अन्त: करणवृत्ति जिस विषयक अज्ञान का नाश करती है वह अन्त:करण वृत्ति ही तदाकार होती है इस प्रकार से समझना चाहिए। जिस प्रकार जो अन्त:करणवृत्ति घट विषयक अज्ञान का नाश करती है वह घटाकार हो जाती है। जो अन्त: करण वृत्ति पटविषयक अज्ञान का नाश करती है वह पटाकार हो जाती है। इस प्रकार से अन्य स्थानों पर भी समझना चाहिए। तडाग केदार आदि के उदाहरण तो बालकों के बोध के लिए हैं।

घटादि ब्रह्म में अध्यस्त होते है। घट में अज्ञान नहीं रुकता है। घट ही अज्ञान का कार्य या अज्ञान ही है। अज्ञान तो हमेशा ब्रह्म में ही रुकता है। घट ब्रह्म में अध्यस्त होता है। घटावच्छिन्न ब्रह्म में ही अज्ञान होता है। घट प्रकाशित नहीं होता है तो कहते है कि घटावच्छिन्न चैतन्य में अज्ञान है इस प्रकार से प्रतीत होता है। उस अज्ञान का विषय घट होता है। घटाकार अन्त:करणवृत्ति तबतक उस घटावच्छिन्न ब्रह्म में विद्यमान अज्ञान का नाश कर देती है। अज्ञान के आवरण के नाश से घटावच्छिन्न चैत्यन प्रकाशित होता है। चैतन्य ही प्रकाश स्वरूप होता है तथा सदा प्रकाशमान भी होता है। जैस जलती हुई लालटेन का शीशा अधिक गंदा होने पर उसका प्रकाश नहीं होता है लेकिन उसके मालिन्य को हटा देने पर उसका प्रकाश दिखाई देने लगता है। उसी प्रकार से हमेशा प्रकाशमान चैतन्य में अज्ञानावरणकारण से उसका प्रकाश नहीं जाना जाता है। लेकिन अन्त:करणवृत्ति रूपी अज्ञान का नाश होने पर फिर वह चेतन्य प्रकाशित हो जाता है। जब अज्ञान के द्वारा अनावृत्त घटावच्छिन्न चेतन्य प्रकाशित होता है तब घटावच्छिन्न चैतन्य में विद्यमान घट भी प्रकाशित होता है। संसार में यह दिखाई भी देता है की जब दीपक का प्रकाश होता है तब उसके पास में स्थित वस्तुएँ भी प्रकाशित होने लग जाती हैं। अत:घटाकार अन्त: करणवृत्ति घटावच्छिन्न चैतन्य के आवरक घटविषयक अज्ञान को दूर करती है। उसके द्वारा घटावच्छिन्न चैतन्य प्रकाशित होता है। उस चैतन्य के द्वारा विषयीकृत घट भी प्रकाशमान घटावच्छिन्नचेतन्य में अध्यस्तत्व से प्रकाशित होता है। इसलिए ब्रह्मभिन्न घटादि चित्तवृत्ति को विषय होते हैं। अज्ञान नाश के द्वारा अनावृत्त चेतन्य का विषय होता है। अनावृत्त चेतन्य शास्त्रों में फल शब्द के द्वारा कह जाता है। इसलिए घटादि वृत्तिविषय और फलविषय होते है। इसलि पञ्चदशीकार विद्यारण्य आचार्य के द्वारा कह गया है

"बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेव व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्॥'' इति।

ध्यान दें:

इस प्रकार से जीव का स्वरूप ब्रह्म के अज्ञान के द्वारा आवृत्त होता है। इसलिए ही जीव अपनी नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपता को नहीं जानते है। ब्रह्मविषयक अज्ञान के नाश के लिए ब्रह्मविषयिणी चित्तवृत्ति अपेक्षित है। वह चित्तवृत्ति निर्विकल्पसमाधि में उत्पन्न होती है। इसी चित्तवृत्ति को शास्त्रों में अखण्डाकार चित्तवृत्ति कहा है। ब्रह्मनिरवय, अवयवविशिष्ट अवयवों के उपचयापचय से वृद्धि नाश होता है। इसलिए ब्रह्म अखण्ड होता है। इसलिए वह ब्रह्माकारचित्तवृत्ति तथा अखण्डाकारचित्तवृत्ति भी कहलाती है। इस प्रकार से निर्वकल्पसमाधि में जब ब्रह्माकार चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है। तब ब्रह्मविषयक अज्ञान का नाश हो जाता है। स्वयंप्रकाश ब्रह्म आवरण नाश से प्रकाशित होता है। ब्रह्म के प्रकाश के लिए अज्ञाननाश मात्र अपेक्षित होता है। इसलिए ब्रह्म चित्तवृत्ति ही विषय होते होते है। ब्रह्म के स्वप्रकाशत्व स ब्रह्म फलविषय होता है। इसलिए पञ्चदशी में विद्यारण्य स्वामी ने कहा है

"फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्।''
"ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।'' इति च।

इस प्रकार से निर्विकल्पसमाधि में अखण्डाकार चित्तवृत्ति के उदय होने से ब्रह्मविषयक अज्ञान का नाश हो जाता है। अखण्डाकार चित्तवृत्ति भी अज्ञान के कार्यत्व से विनष्ट हो जाती है। तब जीव नित्य शुद्ध मुक्त स्वभाव वाला स्वरूप भूत ब्रह्म ही होता है। जैसे घटनाश होने पर घटकाश महाकाश हो जाता है उसी प्रकार से

पाठगत प्रश्न 24.3

1. किस प्रकार से चैतन्य अज्ञान का नाश करता है?
2. चित्तवृत्ति किसे कहते हैं?
3. चित्त की विषयाकारिता क्या होती है?

पाठ सार

"आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इत्यादि श्रुतियों में श्रवण मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार का उपदेश दिया गया है। श्रवण अर्थात् सभी उपनिषदों का ब्रह्म में ही तात्पर्य होता है। इसलिए ब्रह्म अवधारणनुकूल मानसी क्रिया होती है। मनन ब्रह्मविषय में समापतितिविरुद्धयुक्तियों के खण्डानानुकूला मानसी क्रिया होती है। इस प्रकार से श्रवण तथा मनन के द्वारा दृढनिश्चित ब्रह्म में तद्भिन्नविषयों से अपकृष्ट मन का स्थैर्य ही निदिध्यासन होता है। निदिध्यासन के द्वारा अखण्डाकार चित्तवृत्तियों के उदय से ब्रह्मविषयक अज्ञान का नाश होता है। तथा जीव स्वस्वरूप ज्ञान से छूट जाता है।

निदिध्यासन ही समाधि होती है। निदिध्यासन की प्राथमिकी अवस्था तो सविकल्पक समाधि होती है तथा उसकी पराकाष्ठा ही निर्विकल्पकसमाधि होती है। सविकल्पक समाधि ही योगदर्शन में कही गई सम्प्रज्ञात समाधि होती है। निर्वकल्पकसमाधि योगदर्शन में कही गई असम्प्रज्ञात समाधि है। सविकल्पक समाधि ही ज्ञातृज्ञानादिविकल्पक समाधि में ज्ञातृज्ञानरूप त्रिपुटी होती है। ब्रह्माकार अबाधितनिरवच्छिन्न चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है। निर्वकल्पक समाधि में सभी विकल्पों का लय होने के कारण ब्रह्म में तदाकारकारिता चित्तवृत्ति का एकीभाव से अवस्थान होता है। निर्विकल्पक समाधि में ही अखण्डाकारा चित्तवृत्ति होती है। लेकिन उसकी वृत्ति का अवभास नहीं होता है। योगदर्शन प्रोक्त असम्प्रज्ञात समाधि के

ध्यान दें:

तथा निर्विकल्पकसमाधि के यह दो ही भेद हैं की असम्प्रज्ञात समाधि में चित्तवृत्ति की स्थिति अङ्गीकार नहीं गई है। निर्विकल्पक समाधि में तो चित्तवृत्ति होती ही है।

घटादि का प्रकाश घटाकार अन्तः करण वृत्ति के द्वारा घटविषयकज्ञान के नाश होने पर सम्भव होता है। घटविषयक अज्ञान ही घटावच्छिन्न चैतन्य में होता है। आँखों का घट के साथ संयोग होने पर अन्तः करण के साथ घट सम्बन्धवश घटाकारान्तः करणवृत्ति उत्पन्न होती है। वह अन्तः करणवृत्ति ही घटावच्छिन्नचैतन्य के आवरक अज्ञान का नाश करती है। उससे घटावच्छिन्न चौत्यन्य प्रकाशित होता है। प्रकाशमान चैतन्य स्वयं में अध्यस्त घट को भी प्रकाशित करता है। इसलिए जैसे घट अन्तः करणवृत्ति का विषय होता है तथा अनावृत्त प्रकाशमान चैतन्य का भी विषय होता है। इस प्रकार से घट वृत्तिविषय तथा फल विषय होता है। स्वरूपभूतचैतन्य ब्रह्म में विद्यमान अज्ञान के नाश के लिए अखण्डाकारचित्तवृत्ति अपेक्षित होती है। अज्ञान का नाश होने पर ब्रह्म का प्रकाश स्वयं ही होता है। ब्रह्म के स्वप्रकाशत्व से। इसलिए ब्रह्मवृत्तिविषय होता है। लेकिन फल विषय नहीं होता है।

निर्विकल्प समाधि में अखण्डाकार चित्तवृत्ति का उदय होने पर अज्ञान बन्धन के नाश से जीव मुक्त हो जाता है। जीव तब अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। प्रारब्धकर्म में विद्यमान होने पर मुक्त भी जीव भी शरीर नाश पर्यन्त शरीर में निर्लिप्तता के द्वारा विद्यमान होता है। और वह अवस्था जीवन्मुक्ति कहलाती है। प्रारब्धकर्म का नाश होने पर शरीरनाश से विदेह मुक्ति सम्भव होती है।

आपने क्या सीखा

- मोक्ष के उपाय, उनका स्वरूप
- निद्धिध्यासन का स्वरूप, समाधि के अङ्ग
- समाधि की आवश्यकता,
- चित्तवृत्तियों का अज्ञान नाशकत्व
- अखण्डाकार चित्तवृत्ति का स्वरूप

पाठान्त प्रश्न

1. निदिध्यासन तथा मूर्छा में क्या भेद होते हैं?
2. सविकल्पकसमाधि का तथा निर्विकल्पकसमाधि का निदिध्यासन में किस प्रकार से अन्तर्भान होता है?
3. सम्प्रज्ञात पद का क्या अर्थ है?
4. अखण्डाकार वृत्ति के उदय होने पर क्या होता है?
5. जीवन्मुक्ति किसे कहते हैं।
6. जीव की विदेहमुक्ति कब होती है?
7. ब्रह्म का वृत्तिविषयत्व किसलिए अपेक्षित है?
8. ब्रह्म का सर्वव्यापकत्वद्योतक भगवद्गीता में क्या वाक्य है?

ध्यान दें:

9. सविकल्पक समाधि किस चित्तभूमि में उत्पन्न होती है?

10. निर्विकल्पकसमाधि किस चित्त भूमि में उत्पन्न होती है?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 24.1

1. मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है।

2. आत्यन्तिक दु:ख की निवृत्ति तथा परमान्द की प्राप्ति मोक्ष कहलाती है।

3. श्रवण मनन तथा निद्धिध्यासन ही मोक्ष के उपाय होते हैं।

4. अखण्डाकार चित्तवृत्ति जीव के स्वस्वरूपविषयक अज्ञान का नाश करती है।

5. अन्त: करण ही जीव की उपाधि होता है।

6. “आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:” इति।

7. वेदान्तों के अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्यावधारणानुकूला मानसी क्रिया होती है।

8. शब्दावधारि अर्थ में मानान्तर विरोधशङ्का में उसके निराकरणानुकूलतर्कात्मक आत्मज्ञान जनक मानस व्यापार मनन होता है।

9. अनादिदुर्वासनाओं से विषयों में आकृष्यमाण चित्त को उनके विषयों से हटाकर आत्मविषयक स्थैर्य के अनुकूल जो मानस व्यापार होता है वह निदिध्यासन कहलाता है।

10. चित्तवृत्ति अज्ञान का नाश करती है।

11. लौकिकज्ञानस्थल में घटपटादि के साथ तादात्म्य से ब्रह्म ज्ञात होता है।

12. जबतक ब्रह्मज्ञान नहीं हो तब तक श्रवणादि की आवृत्ति करनी चाहिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 24.2

1. ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम्।

   निवातदीपवच्चितं समाधिरभिधीयते।। इति।

2. क्षिप्तमूढ विक्षिप्त अवस्था ही चित्त की व्युत्थानावस्था है।

3. निरोधसंस्कार के द्वारा व्यत्धान संस्कार का अभिभव होता है।

4. सम्प्रज्ञात समाधि।

5. समाधि दो प्रकार की होती है। सविकल्पक समाधि तथा निर्विकल्प समाधि

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 24.3

1. व्युत्थान तथा निरोध संस्कार में अभिभव का प्रादुर्भाव होने पर चित्त की एकाग्रता का परिणाम समाधि होती है।

ध्यान दें:

2. ज्ञाता ज्ञान तथा ज्ञेय इन तीनों का समूह त्रिपुटी कहलाता है।

3. जिसमें ज्ञातृज्ञानादिविकल्प लय की अपेक्षा से अद्वितीयवस्तु में तदाकारकारिता चित्तवृत्ति का अवस्थान होता है वह सविकल्पक समाधि कहलाती है।

4. जैस सुवर्णकुण्डलादि का ज्ञान होने पर उनके उपादान सुवर्ण का भी ज्ञान हो जाता है। जैसे मिट्टी के हाथी का ज्ञान होने पर उसके उपादान भूत मिट्टी का भी ज्ञान हो जाता है। उसी प्रकार से ज्ञातृज्ञानादियों का भी ब्रह्मविवर्तत्व से वाचारम्भमणमात्रत्व से ज्ञातृज्ञानादि भान होने पर भी अद्वैत ब्रह्मवस्तु के समान भासित होता है।

5. ऐतदात्म्यमिदं सर्वं', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि।

6. सर्वविकल्प के लय होने पर जब ब्रह्माकार चित्तवृत्ति होती है तब निर्विकल्पसमाधि होती है।

7. निर्विकल्पक ज्ञातृज्ञानादि विकल्पों के लय की अपेक्षा से अद्वितीयवस्तु में तदाकारकारिता का चित्तवृत्ति का एकीभाव से से अवस्थान होता है।

8. असम्प्रज्ञात समाधि में चित्तवृत्तियों का तिरोभाव नहीं होता है। वहाँ केवल संस्कार मात्र ही अवशिष्ट होता है। और निर्वकल्पकसमाधि में भी सभी चित्तवृत्तियों का तिरोभाव होता है तथा अखण्डाकार ब्रह्मविषयणी चित्तवृत्ति का तिरोभाव होता है। अखण्डाकार ब्रह्मविषयणी चित्तवृत्ति अज्ञायमान होने पर अवतिष्ठित होती है इस प्रकार से इन दोनों में भेद होता है।

9. वृत्तयस्तु तदानीमज्ञाता अप्यात्मगोचरा:।

स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थितात्।। इति।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 24.4

1. चित्तवृत्त्युपहित चैतन्य अज्ञान का नाश करता है।

2. चित्त का विषयाकार परिणाम ही चित्तवृत्ति होता है।

3. जो अन्तकरण वृत्ति जिस विषयक अज्ञान का नाश करती है। वह अन्त:करणवृत्ति तद्विषयाकार हो जाती है।

4. ब्रह्मभिन्न विषयों का वृत्तिविषयत्व तथा फल विषयत्व अपेक्षित होता है।

5. ब्रह्म के प्रकाश के लिए वृत्तिविषयत्व मात्र अपेक्षित नहीं होता है। ब्रह्म के स्वप्रकाशत्व से फलविषयत्व नहीं होता है।

पाठ-25

समाधि के अङ्ग तथा विघ्न

25

समाधि के अङ्ग तथा विघ्न

ध्यान दें:

निर्विकल्पक समाधि में अखण्डाकार चित्तवृत्ति का उदय होने पर अज्ञान का नाश हो जाता है। जैसे कतकरेणु जलस्थ मल का नाश करके स्वयं का भी लय हो जाता है। वैसे ही अखण्डाकार चित्तवृत्ति अज्ञान का नाश करके स्वयं भी अज्ञानकार्यत्व से नष्ट हो जाती है।निर्विकल्पक समाधि के उदय होने से अज्ञान का नाश होने पर मोक्ष सम्भव होता है। केवल श्रवण मननों के द्वारा ही निर्वकल्प समाधि सम्भव नहीं होती है। निर्विकल्पक समाधि के लिए कोई योग्यता अपेक्षित होती है। वह आठ अङ्गों के आचरण से सम्भव होती है। निर्विकल्पक समाधि के ये आठ अङ्ग हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान तथा समाधि 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' इस प्रकार से प्राज्ञों का वचन है। निर्विकल्पकसमाधि के भी बहुत से विघ्न है । वे है लय विक्षेप कषाय तथा रसास्वाद। इस पाठ में निर्विकल्पक समाधि के अङ्गों का भेद सहित आलोचन किया जाएगा। समाधि के विघ्नों के स्वरूप भी आलोचित होंगे।

उद्देश्य

इस पाठ को पढ़कर आप सक्षम होंगे;

- निर्विकल्पक समाधि के अङ्गों को जानने में;
- अद्वैतवेदान्तमत में तथा पतञ्जलि के मत में उनका किस प्रकार का स्वरूप है जान पाने में;
- उन अङ्गों में योगी लोग फल की सिद्धि में किस प्रकार का लाभ प्राप्त करेंगे जान पाने में;
- निर्विकल्पक समाधि के विघ्न कौन-कौन से हैं? जानने में;
- किस प्रकार से योगी लोगों को विघ्नों से अपनी रक्षा करनी चाहिए। जानने में;
- धारणा ध्यान तथा समाधियों के भेदों को जानने में;

पाठ-25

समाधि के अङ्ग तथा विघ्न

ध्यान दें:

25.1) निर्विकल्पक समाधि के अङ्ग

निर्विकल्पक समाधि के आठ अङ्ग होते हैं। वेदान्तसार में सदान्द योगीन्द्र नें कहा है- अस्य अङ्गानि यम, नियमासन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधय:" इस प्रकार से तथा महर्षि पतञ्जलि नें भी योगसूत्र में आठ अङ्ग बताए है- "यम, नियमासन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधयोऽष्टावङ्गानि, अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि इस प्रकार से ये आठ अङ्ग होते हैं। इनका स्वरूप नीचे आलोचित किया जाएगा।

25.1.1) यम

यम के स्वरूप के विषय में वेदान्तसार में कहा गया है- "तत्र अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा:" अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये पाँच यम कहलाते है। सामान्यत: अहिंसा मन वाणी तथा काया के द्वारा दूसरों को पीड़ा नहीं पहुँचाना है। सत्य से तात्पर्य है यथार्थ भाषण, अस्तेय से तात्पर्य चोरी नहीं करना, ब्रह्मचर्य से तात्पर्य है अष्टाङ्ग मैथुनों का त्याग करना, अपरिग्रह से तात्पर्य संचयन न करना है। समाधि के अनुष्ठान के लिए अनुपयुक्त वस्तुओं का असंग्रह। अहिंसा आदि के विषय में विस्तार से आलोचन पाञ्चजल्य योग सूत्र में वर्णित है उसके अनुसार अहिंसादि का निरूपण किया जा रहा है।

अहिंसा

यमों में अहिंसा से तात्पर्य है सभी भूतों का अपीडन तथा उनकी प्राणवियोगानुकूल चेष्टा का अभाव। सत्यादि अन्य यम, नियम, अहिंसा के ही मूल है। सत्य आदि अन्य यम अहिंसा के ही मूल होते है। अहिंसा की सिद्धि सत्यादि के द्वारा ही सम्भव होती है। इस हेतु से सत्य आदि भी प्रतिपादित किए गए हैं। अहिंसा का वैशद्य सत्यादि के द्वारा ही होता है। भारतीय शास्त्रों में भी यम के महाफलों की प्रशंसा की गई है। श्रुति में इस प्रकार से कह गया है -"मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि" महाभारत में इस प्रकार से कहा गया है "अहिंसा परमो धर्म:" इति श्रीमद्भगवद्गीता में दैवी सम्पदा के निरूपण के प्रसङ्ग में 'अहिंसा सत्यम क्रोध' इत्यादि श्लोक में अहिंसा की आलोचन की गयी है। हिंसा मात्र को ही हेय बताया है। यज्ञ में विधीयमान हिंसा भी पाप को जन्म देती है। इस प्रकार सांख्य शास्त्रज्ञों का मत है। लेकिन कुछ स्थानों पर हिंसा होने पर भी साधारण मानवों को दोष नहीं होता है इस प्रकार से स्मृतिकार के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। उसी प्रकार से यदि गुरु बाल वृद्ध तथा ब्राह्मण आदि कोई भी यदि आततायी होते हैं तो उनको मारने में पाप नहीं लगता है।

"अग्निदौ गरदश्चौव शस्त्रपाणिर्धनापह:।
क्षेत्रदाराहश्चौव षडते आततायिन:॥" (आपटे कोष)

इस परिभाषा के अनुसार वह व्यक्ति जो दूसरों के प्राण लेने के लिए स्वभाव से सदा उत्सुक रहता है तथा इसका प्रयास किया करता है, वो आततायी होता है। आततायी छ: प्रकार के माने गए हैं। यथा- (1) आग लगाने वाला, (2) विष देने वाला, (3) हत्या करने वाला, (4) धन लूटने वाला, (5) स्त्री का अपहरण करने वाला, तथा (6) खेत या भूमि का अपहरण करने वाला। इस प्रकार अनिष्ट करने वाला आततायी होता है अनिष्ट चाहे कैसा भी या किसी भी प्रकार का क्यों न हो। उसे मारने में पाप

ध्यान दें:

नहीं लगता है।

योगियों को तो हमेशा हिंसा रहित ही होना चाहिए। आततायी हिंसक पशुओं के सामने भी वे हिंसा का प्रदर्शन नहीं करते हैं, कुछ हिंसा कभी कभी प्रकट करते है। योगियों की अहिंसा में प्रतिष्ठा होने पर हिंस्रपशु भी उनके सामने हिंसा प्रकटी नहीं करते हैं। पतंजलि ने इस प्रकार से कहा है- "अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः"

सत्य

सत्य यथार्थ भाषण को कहते है। जिस प्रकार से देखा सुना उसी प्रकार से उसका कथन तथा चिन्तन सत्य कहलाता है। श्रुतियों ने इस प्रकार से उपदेश दिया है- "सत्यं वद" सत्य का महात्म्य मुण्डकोपिनिषद में इस प्रकार से बताया गया है-

"सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाऽक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्॥'' इति।

योगी की सत्य में प्रतिष्ठा होती है तो वह क्रियाफल का दाता होता है। उसके आशीर्वाद से लोगों को स्वर्गादि का लाभ सम्भव हो जाता है। इसलिए योगसूत्र में कहा गया है- **"सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्"** इति।

अस्तेयम्

स्तेय से तात्पर्य है शास्त्रविधि को छोड़कर के दूसरों का धन लेना अथवा दूसरों के धन को हरण करने की अभिलाषा। उसका अभाव अस्तेय कहा जाता है। अस्तेय के निषेध के लिए साक्षात् श्रुति उपदेश देती है।

"ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीयात् मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥'' इति।

दूसरों के धन में लोभ नहीं करना चाहिए। यदि योगी अस्तेय प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है तो सङ्कल्पमात्र से उसे सभी रत्नों का लाभ भी मिलता है। इसलिए पतञ्चलि ने कहा है - **"अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्"** इति।

ब्रह्मचर्यम्

ब्रह्मचर्य से तात्पर्य है गुप्तेन्द्रिय उपस्थ का संयम। और वह अष्टाङ्गमैथुन के त्याग से होता है। अष्टाङ्ग मैथुन को दक्ष संहिता मे इस प्रकार से निरूपित किया है।

"स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गूह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च॥'' इति।

ये मैथुन के आठ अङ्ग होते हैं। ब्रह्मचर्य इनके विपरीत ही होता है। मैथुन का त्याग मन कर्म तथा वचन से होना चाहिए। इसलिए शास्त्रों में ब्रह्मचर्य के विषय में कहा है।

"कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥'' इति।

ध्यान दें:

ब्रह्मचर्य में योगी की प्रतिष्ठा होती है तो उसे वीर्यलाभ होता है। जिससे शरीर मे इन्द्रियों में तथा मन में निरतिशय सामर्थ्य उत्पन्न होता है। योगी को अणिमादि सिद्धियाँ भी सुलभता से प्राप्त हो जाती है। स्वयं सिद्ध हुआ योगी ही शिष्यों में ज्ञानोत्पन्न करने में ब्रह्मचर्य के बल से समर्थ होता है।

अपरिग्रह:

समाधि के अनुष्ठान के लिए अपेक्षित द्रव्यों के अतिरिक्त अपेक्षित द्रव्यों का असंग्रह ही अपरिग्रह होता है। अपरिग्रह ही विषयों में वैराग्य करवाता है। विषयों के अर्जन करनें में बहुत कष्ट होता है। इसलिए विषय के अर्जन मे दोष होता है। धन कष्ट से कमाया जाता है। चोर चुरालेगा इस प्रकार से उसकी रक्षा में दोष होता है। विषयों का भोग होने पर शीघ्र ही विषय का क्षय हो जाता है। यह क्षय भी एक दोष होता है। विषय को भोगने के उपरान्त पुन: उसे भोगने के लिए इच्छा बलवान हो जाती है। तब विषय का अलाभ होने पर महान कष्ट होता है। यह ही विषय का सङ्ग दोष होता है। एक विषय का भोग होने पर अपर के विषय से ईर्ष्या होने लगती है यह विषय का हिंसा दोष होता है। विषयों में इन दोषों को देखकर के योगी को विषयों का परित्याग कर देना चाहिए। योगी यदि अपरिग्रह में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है तो उसका अतीत वर्तमान तथा भविष्यों के जन्म का ज्ञान सम्भव हो जाता है। इसलिए पतञ्जलि ने कहा है- **"अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोध:"** इति।

25.1.2) नियम

नियम पाँच होते हैं शौच सन्तोष तप स्वाध्याय तथा ईश्वर प्राणिधान इनका विस्तार से आलोचन नीचे दिया जा रहा हैं

शौचम्

शौच शुचिता तथा पवित्रता को कहते है। वह शौच दो प्रकार का होता है। बाह्य तथा आभ्यन्तर। बाह्यशौच मिट्टी जल आदि के द्वारा बाह्यशरीर के मल को दूर करने से तथा पवित्र भोजन करने से होता है। आभ्यन्तर शौच मद मान असूया आदि चित्त के मलों के प्रक्षालन से होता है। इसलिए दक्ष संहिता में कहा गया है

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम्।। इति।

योगियों के लिए शौच अत्यन्त अपेक्षित होता है शौच के बिना कोई आध्यात्मिक सिद्धि नहीं होती है। काम, मद, मान आदि में लिप्त चित्त का शास्त्र प्रतिपादन विषयों में स्थैर्य सम्भव नहीं होता है। योगियों की बाह्य शौच से स्वशरीर में घृणा तथा परशरीर के स्पर्श की अनिच्छा उत्पन्न होती है। आभ्यन्तर शौच के द्वारा चित्तशुद्धि, चित्तशुद्धि में मन की प्रसन्नता, मन की प्रसन्नता से चित्त की एकाग्रता उससे इन्द्रयों पर निग्रह और इन्द्रिय जय आत्मदर्शन योग्यता योगी को प्राप्त होती है।

सन्तोष

जो प्राप्त हो जाए उसमे ही खुश रहना तथा सन्तोष करना। जिन विषयों के द्वारा योगी का जीवन सरलता से चल सके उन विषयों के द्वारा ही योगी को जीवन धारण करना चाहिए। उससे अधिक द्रव्य

ग्रहण करने की योगी की अभिलाषा नहीं होनी चाहिए। कामों के उपभोग के द्वारा काम उपशान्त नहीं होते है। जैसा की कहा गया है-

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥ इति।

तृष्णा के क्षय के द्वारा जो सुख प्राप्त होता है वह सुख इहलौकिक तथा पारलौकिक वस्तुओं के भोगों के द्वारा भी प्राप्त नहीं होता है। इसलिए सन्तोष ही सुख का मूल होता है। योगियों का चित्त में सन्तोष होने पर उन्हे निरतिशय आनन्द की प्राप्ति होती है। इसलिए पतञ्जलि ने कहा है- सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः इति।

तप

कामों का नाश का नाम ही तप है। महानारायण उपदनिषद् में कहा है कि- "मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः" इति। पातञ्जल्य योगदर्शन में तो शीतोष्ण, भूख, प्यास, सुख, दुःख इत्यादि द्वन्द्वों को सहना तथा कृच्छ चान्द्रायणादि व्रत, तप, शब्द के द्वारा कहे गये हैं। तप से मल का क्षय होता है। तप से कल्मषों का नाश होता है। तप के द्वारा मल के क्षय होने पर योगी लोग अणिमादिकायसिद्धियों को तथा दूरश्रवणादि इन्द्रियसिद्धियों को प्राप्त कर लेते हैं।

स्वाध्यायः

स्वाध्याय से तात्पर्य है प्रणव का जप तथा उपनिषदादि ग्रन्थों की आवृत्ति। उपनिषदों में कहा भी गया है- **"ओमित्येव ध्यायथ आत्मानम्"** इति।

स्वाध्याय के द्वारा इष्टदेवता के दर्शन भी योगियों को सम्भव होते हैं- सूत्रितं च **"स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोग"** इति।

ईश्वरप्रणिधानम्

मनसोपचार ईश्वर की पूजा ही ईश्वरप्रणिधान होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा भी गया है - **"तं ह देवात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये"** ईश्वर में सर्वकर्मफल समर्पण ही ईश्वरप्रणिधान कहलाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्री कृष्ण ने कहा है

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोति ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ इति।

ईश्वर प्रणिधान के द्वारा सिद्ध योगी हमेशा स्वरूपस्थ होता हुआ संशयविपर्ययादि रहित होकर के अविद्यासंस्कारादि के क्षय का अनुभव करता है। उसके बाद क्रम से नित्यमुक्त होता हुआ ब्रह्मस्वाद का अनुभव करता है। ईश्वरप्रणिधान के द्वारा आत्मज्ञान होता है। तथा व्याधि युक्त आन्तरिक दोषों का नाश होता है।

25.1.3) आसन

आसन से तात्पर्य है की, हाथ पैर आदि के द्वार की जाने वाली पद्म स्वस्ति आदि मुद्राएँ। लोक में पद्मासन स्वस्तिक आसन आदि प्रसिद्ध आसन है। जिस अवस्था में स्थिरता के साथ बहुत देर तक

ध्यान दें:

रुका जा सकता है वह आसन कहलाता है। पतञ्जलि ने इस प्रकार से कहा है - "स्थिरसुखम् आसनम्" इति। सभी प्रकार के बाह्यप्रयत्नों को छोड़कर के बिना कम्पन किए बैठने के द्वारा आकाशादि अनंत विषयों में मन के समाधान से के द्वारा आसनसिद्धि होती है। आसनसिद्धि होने पर शीतोष्णादि द्वन्द्वों के द्वारा योगी अभिभूत नहीं होता है।

25.1.4) प्राणायाम

रेचक, पूरक, कुम्भक इत्यादि के द्वारा प्राण के निग्रह का उपाय प्राणायाम कहलाता है। प्राणायाम आसनसिद्ध होने पर ही होता है। श्वास तथा प्रच्छ्वास की गति का विच्छेद ही प्राणायाम होता है। बाह्य वायु का अन्दर ग्रहण करना श्वास कहलाता है। तथा अन्तःस्थ वायु को बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है।रेचक से तात्पर्य है प्राणवायु को बाँए नासापुट से अथवा दक्षिण नासापुट से धीरे धीरे बाहर निकालना तथा पूरक प्राणायाम से तात्पर्य है बाँए नासा पुट से अथवा दक्षिण नासापुट से श्वास को धीरे धीरे अन्दर ग्रहण करना। कुम्भक में श्वास को रोकना होता है। ये दो प्रकार का होता है आन्तरिक कुम्भक तथा बाह्य कुम्भक। आतन्तरिक कुम्भक श्वास को अन्दर ग्रहण करके रोका जाता है तथा बाह्य कुम्भक में श्वास को बाहर निकाल कर रोका जाता है। इस प्रकार से प्राणवायु के निरोध का प्राणायाम कहते है। प्राणायाम के अभ्यास के द्वारा ज्ञान के आवरण क्लेश कर्म अधर्म आदि का क्षय होता है। अतः पतञ्जलि ने कहा भी है **"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्"** इति।

25.1.5) प्रत्याहार

इन्दियों का अपने विषयों से प्रत्यावर्तन ही प्रत्याहार कहलाता है। अर्थात् श्रोत्रादि इन्द्रियों का अपने शब्दादि विषयों से प्रत्यावर्तन प्रत्याहार होता है। श्रुति में इस प्रकार से कहा गया है - **"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः"** इति। वैषयिक आनन्द का त्याग करने पर ही निरतिशयान्द ब्रह्मरूप का लाभ सम्भव होता है। इसलिए मुमुक्षु के लिए प्रत्याहार उपेक्षित होता है। योगसूत्र में प्रत्याहार के स्वरूप के विषय में कहा गया है "स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार" इति। चित्त का निरोध होता है तो चित्त के साथ इन्द्रियों का भी निरोध सम्भव होता है। अपने विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध के अभाव में इन्द्रियाँ चित्त के समान निरुद्ध हो जाती है। योगीयों के प्रत्याहार की सिद्धि होने पर इन्द्रियाँ उनके वशीभूत हो जाती हैं।

25.1.6) धारणा

वेदान्तसार में धारण के स्वरूप के विषय में इस प्रकार से कहा है। **"अद्वितीयवस्तुनि अन्तरिन्द्रियधारणं धारणा"** इति। अर्थात् अद्वितीयवस्तु ब्रह्म में अन्तरिन्द्रिय चित्त का स्थापन करना ही धारण कहलाती है। योगसूत्र में पतञ्जलि ने कहा है- **"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा"** इति। इसका अर्थ है की नाभिचक्र,हृदय, आदिस्थानों में देवमूर्ति का चिन्तन करके उसमें चित्त को स्थित करना ही धारणा है।

25.1.7) ध्यान

ध्यान से तात्पर्य है कि अद्वितीयवस्तु ब्रह्म में बार बार अन्तरिन्द्रियवृत्ति का प्रवाह। धारणा कुशलता के अभाव में चित्त के पूर्णरूप से स्थित नहीं

होने पर ब्रह्म विषय में जो विचलित चित्तवृत्ति होती है वह ध्यान कहलाता है। पतञ्जलि के मत में चित्त को स्थिर करने के लिए अन्य विषयों से चित्त को बार बार हटा कर के एक ही स्थान में स्थित ध्यान कहलाता है। योगसूत्र में इस प्रकार से उन्होंने इस प्रकार से कहा है- **"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्"** इति।

25.1.8) समाधि

निर्वकल्पक समाधि के अङ्ग रूप में कही गई यह सविकल्पक समाधि ही है। योग सूत्र में ध्यान ही ध्येयाकार में भासित होता है वर्तमान चित्तवृत्ति का जैसे स्थैर्य होता है तब वह समाधि कहलाती है। योगमतानुसार यह सम्प्रज्ञातसमाधि से भिन्न साधन रूप समाधि है। इसलिए कहा गया है- **"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः"** इति।

इस प्रकार से ये निर्विकल्पक समाधि के अङ्ग होते है। ये सिद्ध होने पर निर्विकल्पक समाधि सम्भव होती है।

पाठगत प्रश्न 25.1

1. निर्विकल्पकक समाधि के आठ अंग कौन-कौन से हैं?
2. यम किसे कहते हैं?
3. अहिंसा किसे कहते हैं?
4. अहिंसा का प्रतिपादन करने वाला श्रुतिवाक्य क्या है?
5. आततायी कौन-कौन होते हैं?
6. योगियों को अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर क्या सिद्धि मिलती है।
7. सत्य किसे कहते हैं?
8. सत्य का वर्णन करने वाला मुण्डक श्रुति का वाक्य कौन-सा है?
9. योगियों की सत्य में प्रतिष्ठा होने पर क्या होता है?
10. अस्तेय किसे कहते है?
11. अस्तेय प्रतिष्ठा होने पर क्या होता है?
12. ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं?
13. अष्टाङ्ग मैथुन क्या क्या होते हैं?
14. ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा होने पर योगियों को क्या लाभ होता है।
15. अपरिग्रह किसे कहते हैं?

ध्यान दें:

16. अपरिग्रह की स्थिरता होने पर क्या होता है?
17. नियम कितने हैं?
18. शौच कितने प्रकार के होते हैं तथा कौन-कौन से हैं?
19. बाह्य शौच किसे कहते हैं?
20. आभ्यान्तर शौच किसे कहते हैं?
21. शौच की प्रतिष्ठा होने पर योगी को क्या लाभ प्राप्त होता है?
22. सन्तोष किसे कहते हैं?
23. सन्तोष से क्या होता है?
24. तप किसे कहते हैं?
25. स्वाध्याय किसे कहते हैं?
26. ईश्वर प्रणिधान किसे कहते हैं?
27. आसन किसे कहते हैं?
28. आसन की सिद्धि होने पर क्या होता है?
29. प्राणायाम किसे कहते हैं?
30. प्राणायाम की प्रतिष्ठा होने पर क्या होता है?
31. प्रत्याहार का स्वरूप क्या होता है?
32. धारणा किसे कहते हैं?
33. ध्यान किसे कहते हैं?
34. निर्विकल्पकक समाधि की अङ्गभूत समाधि क्या है?

25.2) समाधि के विघ्न

निर्विकल्पकक समाधि के चार विघ्न होते है। पूर्वोक्त अङ्गों का आचरण करने पर भी विघ्नवश निर्विकल्पकक समाधि सम्भव नहीं होती है। ये विघ्न है लय, विक्षेप, कषाय तथा रसास्वाद। वेदान्तसार में सादनन्द योगीन्द्र ने कहा है – "एवम् अस्य अङ्गिन: निर्विकल्पककस्य लय-विक्षेप-कषाय-रसास्वादलक्षणा: चत्वार: विघ्ना: सम्भवन्ति" इति। इनका स्वरूप का नीचे आलोचन किया जा रहा है।

लय

वेदान्तसार में कहा है– "लय: तावत् अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्ते: निद्रा" यह लय दो प्रकार के होते है। बहुत समय तक अष्टाङ्ग सहित निर्विकल्पक समाधि के अभ्यास की कुशलता से प्रत्यगभिन्न परमान्द ब्रह्म में चित्तवृत्ति का लय यह प्रथम प्रकार है। जब आलस्य एक कारण बाह्यशब्दादि विषयों का ग्रहण नहीं होता है। तथा प्रत्यक्ष आत्मस्वरूप एक ज्ञान भी नहीं होता है। तब चित्तवृत्ति की स्तब्ध ीभावरूपा जो निद्रा वृत्ति होती है वह ही लय कहलाती है। इस प्रकार से दूसरे प्रकार का लय ही

निर्विकल्पककसमाधि का विघ्न होता है उसके त्याग के लिए वेदान्तसार में उसके स्वरूप का आलोचन किया गया है।

विक्षेप:

अखण्डवस्तु का आलम्बन नहीं होने से चित्तवृत्ति का अन्य आलम्बन हो जाना विक्षेप कहलाता है। अखण्डवस्तु ब्रह्म के ग्रहण के लिए अन्तर्मुखता के द्वारा प्रवृत्त चित्त वृत्ति का ब्रह्मवस्तु में अवलम्बन नहीं होने से बाह्यवस्तु ग्रहण में प्रवृत्ति होकर के विक्षेप होता है। संस्कार ही प्रबल होते है। इसलिए पूर्वार्जित संस्कारवश कभी चित्त का विक्षेप हो जाता है। इसलिए योगी को सावधान रहना चाहिए।

कषाय:

लय तथा विक्षेप का अभाव होने पर चित्तवृत्ति की रागादिवासना के द्वारा स्तब्धीभाव होने से अखण्डवस्तु का अनवलम्ब ही कषाय कहलाता है। ये रागादि तीन प्रकार के बाह्य तथा आभ्यान्तर वासना रूप होते हैं। बाह्य पुत्रादिविषय राग होते है। तथा आभ्यन्तर मनोराज्यादि होते हैं। वासनामय राग संस्कारूप होते हैं। अनादिकाल से बाह्याभ्यन्तर रागों के अनुभव से उत्पन्न संस्कारों के द्वारा कलुषित चित्त कभी श्रवणादि के अभ्यास द्वारा अन्तर्मुखी होता हुआ भी ब्रह्म के ग्रहण में असमर्थ तथा स्तब्ध हो जाता है। जैस कोई साधारण व्यक्ति राजदर्श के लिए अपने घर से निकल कर के राजमन्दिर में प्रविष्ट होता हुआ भी द्वार पाल के द्वारा रोक दिया जाता है उसी प्रकार से बाह्यविषयों को त्यागकर के अखण्डवस्तु के ग्रहण के लिए प्रवृत्त चित्त के रागादिसंस्कारों को उद्बोधकारण से स्तब्धीभाव उस ब्रह्मवस्तु के अग्रहण से वह कषाय इस प्रकार से कहलाता है।

रसास्वाद:

रसास्वाद में अखण्डवस्तु के अनवलम्बन से भी चित्तवृत्ति का सामाराध्य के समय में सविकल्पानन्द का रसास्वादन होने लग जाता है। सविकल्पक समाधि में भी योगी आनन्द का अनुभव करता है। उसी आनन्द को ब्रह्मानन्द मानने वाले योगी कभी भी ब्रह्म स्वरूप का लाभ ग्रहण नहीं कर पाते है। यहाँ पर यह उदाहरण है की- किसी निधि के ग्रहण के लिए यदि कोई प्रवृत्त होता है और वह उस निधि के रक्षक भूतप्रेतादि से बचकर के आनन्द का अनुभव करता है लेकिन उसी आनन्द का परमान्द मानकर के वह कभी भी निधि के पास नहीं पहुँचता है। जिससे उसे कभी कभी निधि की प्राप्ति नहीं होती है। उसी प्रकर से योगी भी सविकल्पानन्द के रसास्वाद के द्वारा मोहित होकर उसी में ही रह जाता है। अत: योगीयों को उस आनन्द को छोड़कर के निर्वकल्पकसमाधि के लाभ के लिए निरन्तर प्रयास करना चाहिए।

अत: गौडपादकारिका में कहा गया है

"लये सम्बोधयेत् चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः।
सकषायं विजानीयात् शमप्राप्तं न चालयेत्।
नास्वादयेत रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत।।'' इति।

जब चित्तवृत्ति का निद्रारूपी लय होता है तब मुमुक्षु को उसके निवारण के लिए जाड्यादि का परित्याग करके चित्त को सम्बोधित करना चाहिए। जब चित्त विक्षेप युक्त होता है। तब विषयवैराग्यादि के द्वारा चित्त का शमन करना चाहिए। तथा चित्त को फिर से अन्तर्मुखी करना चाहिए। जब चित्त

ध्यान दें:

रागादिकषायसहित होता है। तब विचार करके रागादि का त्याग करना चाहिए। क्योंकि रागादि बाह्यविषयक होते हैं वे अखण्डवस्तु की प्राप्ति में सहायक नहीं होते है। जब तक रागादि के द्वारा कलुषित चित्त रागादिवासनाक्षय सहित नहीं हो तब तक उसको अपने स्थान से विचलित नहीं करना चाहिए। वासनाओं के क्षय के बाद में चित्त स्वयं ही अखण्डवस्तु विषयक हो जाता है। जब चित्त सविकल्पकानन्द के स्वाद में रत होता है। तब वहाँ पर वैराग्य को धारण करना चाहिए। वहाँ पर योगी को रस का आस्वादन नहीं करना चाहिए। तथा विषादिकदु:खादि से रहित होकर के प्रज्ञा के द्वारा युक्त होना चाहिए। इस प्रकार से योगी स्थितप्रज्ञ कहलाता है। अत: भगवद्गीता में कहा गया है-

"प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।'' इति।

25.2) अङ्गभूत धारणा, ध्यान तथा समाधीयों के भेद

विषयों से निवर्तित करके अद्वितीय वस्तु में चित्त की स्थापना करना ही धारणा होती है। धारणा के सत्य होने पर ही ध्यान सम्भव होता है। धारणा की कुशलता के अभाव में ब्रह्मविषयी चित्तवृत्ति विच्छिन्न होकर धीरे धीरे एकाग्र जब होती है तब वह ध्यान कहलाता है। ध्यान में तेल की धारा के समान निरन्तर सजातीय चित्तवृत्ति नहीं होती है। वह ही ध्यान जब पराकाष्ठा पर पहुँचता है तब ब्रह्मविषयिणी अव्यवहिता चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है। वह अवस्था ही सविकल्पक समाधि कहलाती है। सविकल्पक समाधि में विच्छिद् चित्तवृत्ति नहीं होती है। ध्यान धारण तथा समाधि ये पतंजलि के योग शास्त्र में संयम पद के द्वारा कहे गये है। इसलिए उनका एक सूत्र है "त्रयमेकत्र संयम:" संयम होने पर समाधिजनिता प्रज्ञा का विकास होता है। योगसूत्र में कहा भी गया है-

तज्जयात् प्रज्ञालोक: इति।

पाठगत प्रश्न 25.2

1. निर्वकल्पक समाधि को विघ्न कौन-कौन से हैं?
2. लय किसे कहते हैं?
3. विक्षेप का स्वरूप क्या है?
4. कषाय किसे कहते हैं?
5. रसास्वादन किसे कहते हैं?
6. ध्यान तथा समाधि में क्या भेद है?

पाठ सार

इसपाठ में निर्वकल्पक समाधि के अङ्ग तथा विघ्नों का आलोचन किया गया है। निर्वकल्पकसमाधि में ज्ञातृज्ञानज्ञेयादि विकल्पों का लय होने पर अद्वितीयवस्तु ब्रह्म में तदाकारकारिता चित्तवृत्ति का निरन्तर एकीभाव से अवस्थान होता है। उस निर्वकल्पक समाधि के आठ अङ्ग होते है। वे हैं- यम, नियम,

ध्यान दें:

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान तथा समाधि। इनमें यम, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, तथा ब्रह्मचर्य के रूप में पाँच प्रकार का होता है। नियम भी शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान के रूप में पांच प्रकार होता है। आसन पद्मासनादि के सहायता से अधिक समय तक कम्पन रहित होकर बैठना होता है। प्राणायाम रेचक, पूरक तथा कुम्भक के माध्यम से प्राण का निग्रह उपाय होता है। इन्द्रियों का अपने विषयों से प्रत्यावर्तन ही प्रत्याहार कहलाता है। विषयान्तरों से प्रतिनिवृत्त चित्त का ब्रह्म में स्थापन ही धारण होती है। ध्यान ब्रह्म विषय में विचलित अन्तःकरण की वृत्ति होती है। सविकल्पकसमाधि ही यहाँ पर अङ्गभूत समाधि पद के द्वार बताई गई है।

निर्वकल्पक समाधि के ये चार विघ्न होते हैं- लय, विक्षेप, कषाय तथा रसास्वाद। अखण्डवस्तु के अलाभ से चित्तवृत्ति जाड्यभाव ही लय होता है। चित्तवृत्ति ब्रह्मालम्बन में असमर्थता के कारण जब अन्यविषयों का आलम्बन ग्रहण करती है वह विक्षेप कहलाता है। रागादि वासनाओं के द्वारा अनादिकाल विद्यमान चित्तवृत्ति का स्तब्धी भाव अखण्डवस्तु के अवलम्बन से कषाय होता है। सविकल्पसमाधि में ही आनन्द का रसास्वादन रसास्वाद कहलाता है। निर्वकल्पक समाधि में प्रतिष्ठा के लाभ के लिए योगी को इन विघ्नों से अपनी रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार से चारों विघ्नों से रहित चित्त वायु रहित स्थान में दीपक समान अचल सत् ब्रह्म रूप में जब स्थित होता हैं तब निर्विकल्पकक समाधि होती है। निर्विकल्पककसमाधि होने पर अज्ञाननाश से जीव जीवन्मुक्त हो जाता है। प्रारब्ध कर्म के क्षयान्तर शरीरपात से वह विदेह मुक्त हो जाता है।

आपने क्या सीखा

- निर्विकल्पक समाधि के अङ्गों को जाना,
- अद्वैत वेदान्त तथा पतञ्जलि के मत को जाना,
- योगी लोगफल सिद्धि में कौन-सा लाभ प्राप्त करेंगे यह जाना,
- निर्विकल्पक समाधि के विघ्नों को जाना,
- योगी लोग विघ्नों से कैसे रक्षा करते हैं, यह जाना,
- धारणा ध्यान समाधि रूप अष्टाङ्ग अंगों को योग से जाना,

पाठान्त प्रश्न

1. रेचक प्राणायाम क्या होता है?
2. पूरक प्राणायाम क्या होता है?
3. कुम्भक प्राणायाम किस प्रकार से होता है?
4. लय होने पर योगी को क्या करना चाहिए?
5. कषाय होने पर योगी को क्या करना चाहिए?
6. धारण ध्यान तथा समाधियों का एक स्थान पर किस प्रकार का अभिधान होता है?

पाठ-25

समाधि के अङ्ग तथा विघ्न

ध्यान दें:

7. संयम के जीतने पर क्या होता है?
8. स्थितप्रज्ञ का क्या लक्षण होता है?
9. राग किसे कहते हैं तथा वह कितने प्रकार का होता है?
10. योगी की तप में प्रतिष्ठा होने पर किस प्रकार का फल लाभ होता है?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 25.1

1. यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ये आठ अङ्ग होते हैं।
2. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये यम होते हैं।
3. अहिंसा से तात्पर्य है सभी भूतों को दु:ख नहीं पहुँचाना। तथा उनकी प्राणवियोगानुकूल चेष्टा का अभाव।
4. मा हिंस्यास्त सर्वभूतानि इस प्रकार से।
5. आग लगाने वाला, जहर देने वाला, धन का हरण करने वाला, भूमि का हरण करने वाल तथा पत्नी को हरने करने वाला, इस प्रकार से ये छ: आततायी कहलाते है।
6. हिंसक पशु भी हिंसा नहीं करते।
7. सत्य से तात्पर्य है यथार्थ भाषण।
8. सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विनतो देवयान:
9. योगियों की सत्य में प्रतिष्ठा हो जाने पर वे क्रियाफल के दाता हो जाते हैं। उनके आशीर्वाद से धर्मस्वर्गादि प्राप्त हो जाते है। पतंजलि योगसूत्र में लिखा भी है- सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।
10. अस्तेय से तात्पर्य है शास्त्रविधि का त्याग करके दूसरों के धन को लेना अथवा दूसरों के धन को हरण करने की अभिलाषा रखना। उसका अभाव ही अस्तेय कहलाता है।
11. अस्तेय की प्राप्ति होने पर संकल्पमात्र से योगी सभी प्रकार के रत्नों को प्राप्त कर सकता है।
12. अष्टाङ्गमैथुनों का त्याग के द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन हो पाता है। ब्रह्मचर्य गुप्तेन्द्रिय उपस्थ का संयम होता है।
13. स्मरण, कीर्तन, हँसी मजाक, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय तथा क्रियानिवृत्ति इस प्रकार से अष्टाङ्ग मैथुन होता है।
14. वीर्य लाभ होता है।
15. समाधि के अनुष्ठान के लिए जो द्रव्य अपेक्षित है। उससे अतिरिक्त द्रव्यों का त्याग ही अपरिग्रह कहलाता है।

16. अतीत अनागत तथा वर्तमान जन्म का ज्ञान होता है।
17. शौचसन्तोष तप स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान ये नियम होते हैं।
18. शौच दो प्रकार का होता है बाह्य तथा आभ्यन्तर
19. मिट्टी जलादि के द्वारा बाह्यशरीर मल को दूर करना तथा पवित्र भोजन का ग्रहण करना बाह्य शौच होता है।
20. मद मान असूया आदि अन्तः करण के मलों को दूर करना ही आन्तरिक शौच होता है।
21. शौच की प्रतिष्ठा होने पर योगी अपने शरीर से जुगुप्सा तथा दूसरों के शरीर से घृणा करने लगता है।
22. जो प्राप्त हो जाए उसी में ही सन्तुष्टि तथा प्राप्त नहीं होने पर अविषाद ही सन्तोष होता है।
23. सन्तोष से निरतिशय आनन्द का लाभ होता है।
24. तप से तात्पर्य हो कामनाओं का अनुपभोग।
25. स्वाध्याय प्रणव का जप तथा उपनिषदों की आवृत्ति है
26. मानस उपचारों के द्वारा ईश्वर का अर्चन ही ईश्वप्रणिधान कहलाता है।
27. हाथ पैर आदि के द्वारा पद्म स्वस्तकादि मुद्रा बनाकर उसमें स्थित रहना आसन कहलाता है।
28. आसन की सिद्धि होने पर योगियों को शितोष्णादि द्वन्द्व अभिभूत नहीं होते हैं।
29. रेचक पूरक तथा कुम्भक के द्वारा प्राण का निग्रह उपाय ही प्राणायाम कहलाता है।
30. प्राणायाम की प्रतिष्ठा होने पर ज्ञान के आवरण क्लेश कर्म धर्म आदि का क्षय होता है। इस प्रकार से पंतजलि ने कहा है- ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।
31. इन्द्रियों का अपने विषयों से प्रत्यावर्तन ही प्रत्याहार कहलाता है।
32. अद्वितीयवस्तु ब्रह्म में अन्तिरिन्द्रयधारण ही धारणा होती है।
33. अद्वितीय ब्रह्म में किञ्चित विचलित अन्तरिन्द्रिय का प्रवाह ही ध्यान कहलाता है।
34. सविकल्पक समाधि ही यहाँ पर अङ्गभूत समाधि होती है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 25.2

1. लय विक्षेप कषाय तथा रसास्वाद ये निर्वकल्पक समाधि के विघ्न होते है।
2. लय से तात्पर्य है अखण्डवस्तु के अनवलम्बन से चित्तवृत्ति की निद्रा।
3. अखण्डवस्तु के अनवलम्बन से चित्तवृत्ति का अन्य आलम्बन विक्षेप कहलाता है।

ध्यान दें:

4. लयविक्षेप का अभाव होने पर चित्तवृत्ति का रागादि वासना के द्वारा स्तब्धी भाव होना अखण्डवस्तु अनवलम्बन कषाय कहलाता है।

5. अखण्डवस्तु अवबलम्बन के द्वारा चित्तवृत्ति का सविकल्पक समाधि के आरम्भ समय में आनन्दास्वादन सविकल्पकानन्दस्वादन कहलाता है।

6. ध्यान में विचलित चित्तवृत्ति होती हैं तथा समाधि में अविचलित चित्तवृत्ति होती है।

26

मुक्ति

ध्यान दें:

स्वस्वरूप अज्ञान के नाश होने पर ब्रह्मस्वरूप साक्षात्कार से मुक्ति होती है। श्रुतियों में कहा भी गया है तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। वह मुक्ति दो प्रकार की होती है जीवन्मुक्ति तथा विदेह मुक्ति। अद्वैदवेदान्तदर्शन में जीवनमुक्ति तथा विदेहमुक्ति का विस्तार से आलोचन उपलब्ध होता है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं प्रारब्ध, क्रियमाण तथा सञ्चित। ब्रह्मज्ञान होने पर क्रियमाण तथा सञ्चित कर्मों का नाश हो जाता है। देहारम्भ के प्रारब्धकर्म नाश के अभाव से देह के नाश होने पर ही होते हैं। मुक्तज्ञानी की यह अवस्था ही जीवन्मुक्ति होती है। प्रारब्ध कर्मों का नाश होने पर देहनाश होने से विदेह मुक्ति भी हो जाती है। प्रस्तुत पाठ में इन दोनों मुक्तियों के स्वरूप साधन तथा प्रयोजन का आलोचन किया जाएगा। बहुत से अद्वैतदार्शनिकों के द्वारा दो जीवन्तमुक्ति स्वीकार ही नहीं की गई हैं। इसलिए इस पाठ में जीवन मुक्ति कि सिद्धि के लिए युक्तियों का उपस्थापन किया जाएगा। जीवन मुक्ति का लोक व्यवहार, कर्मों के द्वारा उसकी अस्पृष्टता इत्यादि विषय भी यहाँ पर आलोचित किए जाएँगे। दोनों प्रकार की मुक्ति सिद्धि होने पर प्रमाणों का भी यथा प्रयोजन उपस्थापन किया जाएगा।

उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन से निम्नलिखित विषयों का ज्ञान होगा;

- जीवन्मुक्ति के स्वरूप को समझने में;
- विदेह मुक्ति के स्वरूप को समझने में;
- जीवन मुक्ति की आवश्यकता है अथवा नहीं इस विषय को समझ पाने में;
- जीवन मुक्ति के साधन को समझ पाने में;
- जीवन मुक्ति का लोक व्यवहार समझने में सक्षम होंगे;
- जीवन मुक्ति का अज्ञान नाश कैसे होता है इस विषय को समझने में;
- विदेह मुक्ति की क्या स्थिति होनी चाहिए इस ज्ञान को समझने में;
- विदेह मुक्ति में प्रमाण
- विदहमुक्ति की आवश्यक्ता

पाठ-26

मुक्ति

ध्यान दें:

26.1) भूमिका

यहाँ सबसे पहले अद्वैतवेदान्त रीति के अनुसार जीवन्मुक्ति का आलोचन किया जाएगा।

जीवन मुक्ति क्या होती है, क्या इसके प्रमाण है, किस प्रकार से जीवन मुक्ति सिद्ध की जाए, इस का क्या प्रयोजन है। यहाँ पर कहते हैं कि जीवित पुरुष के कर्तृत्व भोक्तृत्व सुखदुः खादिलक्षण चित्तधर्म क्लेशरूपत्व से बन्ध होते हैं। ब्रह्मज्ञान होने पर इन बन्धनों का नाश होता है। जब प्रारब्धकर्मों के भोग के द्वारा क्षय के अभाव से जीव का शरीर अनुवर्तित होता है लेकिन ब्रह्मज्ञान के उदय होने से कर्तृत्वादि बन्ध दूर हो जाते है। तब जीवन्मुक्ति तथा मुक्त इस प्रकार से कहा जाता है।

वेदान्तसार में जीवन्मुक्ति के प्रतिपादनकाल में यह कहा गया है। **''जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृते अज्ञानतत्कार्यसञ्चित-कर्म -संशय-विपर्ययादीनाम् अपि बाधितत्वात् अखिलबन्धरहितः ब्रह्मनिष्ठः'' इति।**

अर्थात् स्वस्वरूप अखण्ड ब्रह्मज्ञान के द्वारा उस अज्ञान का बाध करके स्वस्वरूप अखण्डब्रह्म में साक्षात्कार करने पर अज्ञान तथा अज्ञान के कार्य कर्म संशय विपर्ययादि का भी नाश होने पर जो अखिलबन्धरहित ब्रह्मनिष्ठ होता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जीव का स्वरूप ही ब्रह्म होता है। जीव के स्वरूपभूत अखण्डब्रह्म का ज्ञान जब होता है तब स्वरूप अज्ञान तथा मूल अज्ञान का नाश हो जाता है। और स्वस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। अज्ञाननाश से उसके कार्य सञ्जितकर्म संशय तथा विपर्ययादि का भी नाश हो जाता है। जीव अखिलबन्धरहित होकर ब्रह्म में प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है।

26.2) जीवन्मुक्ति का प्रमाण

श्रुति ही जीवनमुक्त की सिद्धि में प्रमाण होती है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा भी गया है - तस्य तावदेव चिरं, यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये इति। श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में स्थितप्रज्ञ के विषय में भगवान ने विस्तार से बताया है। वे सभी वचन ही जीवन्मुक्ति में प्रमाण हैं

''ऐषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति॥'' इति॥

अर्थात्- हे पृथानन्दन ! यह ब्राह्मी स्थिति है। इसको प्राप्त होकर कभी कोई मोहित नहीं होता। इस स्थिति में यदि अन्तकाल में भी स्थित हो जाय, तो निर्वाण (शान्त) ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

आचार्य वसिष्ठ ने कहा है ''यथास्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च। अस्तं गतं स्थितं व्योम स जीवन्मुक्त उच्यते''॥इति॥

और विद्यारण्य स्वामी ने भी कहा है-

द्वैतावस्था सुस्थिता चेदद्वैते धीः स्थिरा भवेत्।
स्थैर्ये तस्याः पुमानेष जीवन्मुक्त इतीर्यते॥ इति॥

पाठगत प्रश्न 26.1

1. जीवनमुक्त कौन होता है?
2. मुक्ति कितने प्रकार की होती है?

ध्यान दें:

3. जीवन्मुक्ति सभी सम्प्रदायों के द्वारा अङ्गीकार की गई हैं अथवा नहीं।
4. जीवन्मुक्ति का प्रमाण क्या है?
5. वेदान्तसार के लेखक कौन है?
6. धी इसका क्या अर्थ है?
7. जीवन्मुक्ति के लक्षण क्या होते हैं?
8. पुनः संसार बन्धन होता है अथवा नहीं।

26.3) जीवन्मुक्तिस्वरूपविचार

श्रुति तथा स्मृति के वाक्यों में जीवन्मुक्ति के सद्भाव में बहुत से प्रमाण है। उन्हीं को कठवल्ली आदि में पढ़ा जाता है। विमुक्तश्च विमुच्यते। सभी से विनिर्मुक्त होकर के सर्वभूतस्थ परमात्मा का ध्यान करते हुए जीवितदशा में इस लोक में अविद्या काम कर्मादिप्रत्यक्ष बन्धनों से मुक्त होकर के देह में विद्यमान होते हुए भी जीव मुक्त हो जाता है। उसकी फिर देहान्तर प्राप्ति सम्भव नहीं होता है। और बृहदारण्यक में भी कहा गया है –

''यदा सर्वे प्रमुच्यते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते''॥ इति॥

जब जीव हृदय में स्थित सभी काम पुत्रलोकवित्तैषणा आदि लक्षणों से मुक्त होता हैं तब वह जीव कामवियोग से जीवित ही अमृतमय हो जाता है। शरीर में विद्यमान रहते हुए ही ब्रह्मभाव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। देहत्याग के बाद उसको लोकान्तर की प्राप्ति नहीं होती है। जिस लोक में ब्रह्मज्ञान होता है वहाँ पर ही उसका मोक्ष हो जाता है। इसलिए उसके बारे में ऐसा सुना जाता है "ब्रह्म समश्नुते " इस प्रकार से।

श्रुतियों के अन्दर भी "सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्म इव समना अमना इव " अर्थात् जीवन्मुक्त देह इन्द्रियादि में अभिमान के अभाव से भले ही वह आँख से देखता है फिर वह वस्तुतः नहीं देखता है।उसी प्रकार से सुनता हुआ भी नहीं सुनता है। मानता हुआ भी नहीं मानता है। इन्द्रिय युक्त होकर भी निरिन्द्रिय हो जाता है।

स्मृतियों में भी जीवनमुक्त, स्थितप्रज्ञ, गुणातीतादिनामों के द्वारा वहाँ-वहाँ उसका व्यवहार किया गया है। वसिष्ठ राम संवाद में जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति के विषय में आलोचना देखी गई है। जिसमें वशिष्ठ जी कहते हैं

''नृणां ज्ञानैकनिष्ठानामात्मज्ञानविचारिणाम्।
सा जीवन्मुक्ततोदेति विदेहोन्मुक्ततेव या''॥ इति॥

लौकिक वैदिक कर्मों का त्यागपूर्वक केवल ज्ञाननिष्ठा युक्त आत्मविचारपराणपुरुष ही जीवन्मुक्थावस्था को प्राप्त करते हैं। यह जीवन्मुक्तावस्था विदेहमुक्तावस्था की हेतु है। जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति इस प्रकार से दोनों अवस्थाओं में मुक्ति की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। लेकिन जीवन्मुक्त की इन्द्रियाँ तथा लौकिक दृष्टि होती है। तत्त्वदृष्टि से उसकी इन्द्रियाँ सम्भव नहीं होती हैं। विदेहमुक्ति होने पर तो देहनाश से उससे अधिष्ठित इन्द्रियों का भी नाश हो जाता है। आचार्य वसिष्ठ ने कहा है कि जीवन्मुक्त का जो देह इन्द्रियों के द्वारा जो व्यवहार किया जाता है वह लोक में होता है वह तत्वतः नहीं होता है। यह नामरूपात्मक जगत् उसके लिए नष्ट हो जाता है। लेकिन केवल प्रारब्ध कर्मवश वह देहनाश पर्यन्त जीवन को धारण करता

ध्यान दें:

है। और उसके लिए यह नामरूपात्मक जगत् केवल चित्स्वरूप से दिखाई देता है। प्रतीयमान गिरिनदी समुद्रादि भी सभी जीवन्मुक्त के लिए मिथ्या होते हैं। क्योंकि जीवन्मुक्त पुरुष की अज्ञान वृत्तियों के अभाव से उसे बाह्य जगत् सुषुप्ति के समान प्रतीत होता है। यहाँ पर यह कहतें हैं कि सुषुप्ति में तो अज्ञानवृत्तियों का तात्कालिक अभाव होता है। लेकिन जीवन्मुक्ति की अज्ञानवृत्तियाँ तो पूर्णरूप से नष्ट हो जाती है। इसलिए सुषुप्ति से युक्त पुरुष जीवन्मुक्त नहीं कहा गया है। अत: वसिष्ठ जी ने कहा है-

''यथास्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च।
अस्तं गतं स्थितं व्योम स जीवन्मुक्त उच्यते''।। इति।।

सुख दु:ख के द्वारा जिसका मन विषादपूर्ण नहीं होता है। जिसके मुख पर विषाद का चिन्ह् दिखाई नहीं देता है। यथा प्राप्त स्थिति ही जिसकी दिखाई देती है वह जीवन्मुक्त कहलाता है। अत: शास्त्रों में कहा है-

''नोदेति नास्तमायाति सुखदु:खैर्मुखप्रभा।
यथाप्राप्ते स्थितिर्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते''।। इति।।

शास्त्रों में कहा गया है की शुकदेव वामदेव जनक आदि महापुरुष जीवन्मुक्त थे। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये" इस श्रुति के अनुसार आचार्य के उपदेश से अविद्या बन्धन से मुक्त होकर के तत्वदर्शी व्यक्ति जब ब्रह्मस्वरूप को जानता है।तब वह शरीर त्याग नहीं करता है। देहारम्भक प्रारब्ध के उपभोग के द्वारा ही विदेहमुक्ति होती है। भले ही ब्रह्मसाक्षात्कार के द्वारा अज्ञान का नाश हो जाता है फिर भी प्रारब्ध के कार्यवश कुछ काल तक शरीर रुकता है। इसलिए वह जीवन्मुक्त कहलाता है। वैसे ही श्रुतियों में कहा है की नामुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। इसलिए भोग किए बिना कोट कल्पों में भी कर्मों का नाश नहीं होता है। यह स्मृति ही जीवन्मुक्तावस्था में प्रमाण होती है। इसलिए यदि जीवन्मुक्ति को अङ्गीकार न करें तो इस श्रुति की अनुपपत्ति हो जाएगी।

आचार्य सदान्दयोगीन्द्र ने कहा है कि ज्ञान के द्वारा पुण्यात्मा के अज्ञान का बाध होता है। लेकिन प्रारब्धकर्मवश फलभोगसमाप्ति नहीं होती है। इसलिए शरीर का धारण होता है। अत: सदानन्दयोगीन्द्र ने स्वस्वरूपभूत अखण्डब्रह्म के ज्ञान को ही अज्ञान का विनाशक कहा है। अब यह प्रश्न होता है कि किस प्रकार से स्वविरोधि अज्ञान का नाश होता है। जैसे दीपक अन्धकार का विनाशक होता है उसी प्रकार से ब्रह्मज्ञान भी अज्ञान का विनाशक होता है। अज्ञान अनादिकाल से विद्यामान होता है तो भी ब्रह्म के उदय होने से नष्ट हो जाता है। क्योकि युगयुगान्तरों से सञ्चित तथा अनादिकाल से सञ्चित अन्धकार भी जैसे दीपक के जलाने से दूर हो जाता है तथा दीपके हटाने पर फिर से अन्धकार आजाता है। उसी प्रकार से अखण्डब्रह्माकार चित्तवृत्ति में प्रतिबिम्बचिदाभास अज्ञान का विनाश करता है। सदानन्द के द्वारा अध्यारोपवाद पुरस्सर तत्वपदार्थों का शोधन करके तत्त्वमसि इस वाक्य के द्वारा अखण्डार्थ में अवबोधित अधिकारि की मैं नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त सत्यं स्वभाव परमान्द अनन्त अद्वितीय ब्रह्म हूँ इस प्रकार सी चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है। और वह चित्प्रतिबिम्ब सहित होकर के प्रत्यगभिन्न अज्ञान परब्रह्म को विषयीकृत करके तद्गत अज्ञान का बाध करती है। जिससे अज्ञान का नाश होने पर अज्ञान कार्यत्व से स्वयं भी नष्ट हो जाती है। जब पट कारण युक्त तन्तु को जलाने से पट रूपी कार्य का भी नाश हो जाता है। इस प्रकार से अखण्डाकार चित्तवृत्ति ही अज्ञान का नाश करती है। अज्ञान का नाश होने पर ज्ञान स्वयं प्रकाशित हो जाता है। तब दग्ध बीज जैसे फिर अङ्कुर को जन्म देने में समर्थ नहीं होता है वैसे ही ज्ञानाग्नि के द्वारा अज्ञान के भस्म होने से फिर पुरुष बन्धनों में नहीं बन्धता है। ज्ञान अज्ञान के सभी कार्यों का नाश करता है तो भी वह प्रारब्ध का नाश नहीं कर सकता है।

यहाँ पर तीन प्रकार के कर्म को जीतना चाहिए। वो हैं - प्रारब्ध कर्म,सञ्चित कर्म तथा क्रियमाण

कर्म। जो कर्म इस जन्म में फल देने के लिए आरम्भ होता है वह प्रारब्ध कर्म कहलाता है। जीव के प्रयाण काल में सञ्चित कर्मों फिर नूतनशरीरभोगादि के लिए उद्बुध होकर के शरीर का निर्माण करतें है। वे कर्म प्रारब्ध कर्म कहलाते है। प्रारब्ध से अतिरिक्त कर्म सञ्चित कर्म होते है। जो भविष्य काल में फल देंगे जन्मजन्मान्तरों से सञ्चित वह कर्म फल सञ्चित कर्म कहलाता है। ज्ञानाग्नि सभी कर्मों को भस्म करती है। इस प्रकार से श्रुतियों में बताया गया है। तथा सभी सञ्चित एवं क्रियमाण कर्म ब्रह्मज्ञान के द्वारा नष्ट होते हैं। इस प्रकार से भी श्रुतियों मे कहा है।

ध्यान दें:

लेकिन प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं होते है। इस जन्म में जो क्रियमाण कर्म फल प्रदान नहीं करते हैं अपितु भावी जन्म में फल प्रदान करने के लिए सञ्चित होते हैं वे कर्म क्रियमाण कर्म कहलाते हैं। इसलिए प्रारब्ध कर्म का तो भोग के द्वार ही क्षय होता है। जितने समय तक प्रारब्ध कर्मो का भोग होता है उतने समय तक तो शरीर धारण आवश्यक रहता ही है।

अब प्रश्न करते हैं कि अज्ञान का मूलोच्छेद ज्ञान के द्वारा होता है अथवा नहीं। यदि ज्ञान के अज्ञान का नाश होता है तो अज्ञानकार्य प्रारब्ध का भी नाश ज्ञान के द्वारा होना चाहिए यदि ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश नहीं होता है तो ब्रह्मज्ञान की व्यर्थापत्ति हो जाएगी। यहाँ पर अद्वैत वेदान्तियों के द्वारा कहा गया है कि ज्ञान अज्ञान का नाश का कारण तो है लेकिन जैसे मूलोच्छेदन के द्वारा वृक्ष का भी उच्छेद होता है उसी प्रकार से यहाँ पर अज्ञान का नाश होने पर भी उसी क्षण शरीर का नाश नहीं होता है। प्रारब्ध रूप प्रतिबन्धक का कारण सामग्री में होने पर भी कार्य उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए जब तक प्रारब्ध का भोगों का क्षय जब तक नहीं होता है तब तक शरीर रुकता है।

अब फिर प्रश्न उत्पन्न होता है की प्रारब्ध के ज्ञान विरोधी होने में क्या कारण है। सर्वकर्मनाशकत्व होने पर भी ज्ञान से प्रारब्ध का नाश क्यों नहीं होता है। तो वेदान्ताचार्यों के द्वारा कहा गया है कि दृष्टानुरोध के द्वारा ही यह स्वीकार करना चाहिए। यहाँ पर परामर्थत: जगत होता ही नहीं है। लेकिन लोक में दर्शनत्व के कारण शास्त्रों में कहा गया है और तो नैयायिक भी दर्शवश ही परमाणु को स्वीकार करतें है। इसी प्रकार से लोक में जीवन्मुक्त भी देखे जाते है। इसलिए ज्ञान के द्वारा ही प्रारब्ध का क्षय होता है। नहीं तो शरीर में विद्यमान के कभी भी विद्या का उदय नहीं हो। लेकिन शुकवामदेवादि मुक्तपुरुषत्व के द्वारा प्रसिद्ध शास्त्रों में उल्लिखित है।

अब कहते हैं कि यदि ब्रह्मविद्या मूल अविद्या की पूर्ण रूप से नष्ट कर देती है तो दाहकारण से विदुषों का देहादि में प्रतिभास होता है। तो कहते हैं की लोक में भी देखा जाता हैं कि विद्युत् जाती है तो भी कुछ क्षण तक पंखा चलता ही है। उसी प्रकार से रज्जु में सर्प बाधित होता है तो भयकम्पनादि उसी क्षण नहीं जाते है। उसी समय निवृत्त होने पर भी चक्र की भ्रम क्रिया निवृत्त नहीं होती है। उसी प्रकार से प्रकृति में भी जीवन्मुक्त दशा में अज्ञान नष्ट होता है तो अज्ञान के संस्कार नष्ट नहीं होते है। यह अविद्या का संस्कार ही जीव की परममुक्ति में बाधक होता है।

पाठगत प्रश्न 26.1

1. कर्म कितने प्रकार के होते हैं?
2. क्रियमाण कर्म कौन से होते हैं?
3. सञ्चित कर्म किसे कहते हैं?
4. प्रारब्ध किसे कहते हैं?

ध्यान दें:

5. ज्ञान के साथ किस कर्म का विरोध नहीं होता है?
6. प्रारब्ध कर्मों का क्षय किस प्रकार से होता है?
7. क्रियमाण कर्म का क्षय किस प्रकार से होता है?
8. सत्ता कितने प्रकार की होती है।
9. जगत की पारमार्थिक सत्ता होती है अथवा नहीं?
10. जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति में क्या हेतु है?

26.4) जीवन्मुक्त का आचरण

जीवन्मुक्त का स्वरूप कहकर के अब उसके आचरण के विषय में कहा जा रहा है। जिस प्रकार से जादुगर अपने जादु को जानता हुआ उसको सत्य को रूप में ग्रहण नहीं करता है।उसी प्रकार से जीवन्मुक्त जगत् प्रपञ्च को मिथ्या मानकर के उसको सत्य के रूप में नहीं देखता है। इसलिए ही जीवन्मुक्त फिर मांसशोणित आदि को पारमार्थिक रूप से ग्रहण नहीं करता है। और जीवन्मुक्त के भूख शोक मोह आदि ये धर्म तत्वत: नहीं होते हैं। भले ही लोक व्यवहार से लोग देखते हैं की जीवन्मुक्त पुरुष भी अज्ञानबद्ध पुरुषों के जैसे ही व्यवहार करते हैं फिर भी जादुगर के जादु के समान मिथ्या ही होता है। उसी प्रकार से श्रुतियों में उसे चक्षु युक्त होते हुए भी अचक्षुयुक्त तथा कर्ण युक्त होते हुए भी अकर्ण युक्त कहा है। और उपदेश साहस्री ग्रन्थ में भी कहा हैं कि

''सुषुप्तवत् जाग्रति यो न पश्यति पश्यन्नपि चाद्वयत्त्वत:।
कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च य: स आत्मविन्नान्यो इतीह निश्चय:''॥ इति।

जो पुरुष जाग्रत काल में भी सुषुप्त की तरह ही देखता है। लेकिन जीवन मुक्त अद्वैत का निश्चय हो जाता है। इसलिए भले ही वह द्वैत को देखता है फिर भी अद्वैत के द्वारा द्वैत के बाधवश वहां द्वैत को तत्वत: नहीं देखता है। अपरदृष्टि के द्वारा भलेही वह कार्य करता हुआ है लेकिन जीवन्मुक्त निष्क्रिय ही रहता है। इस प्रकार से यह सुनिश्चित होता है कि जीवन्मुक्त ही आत्मवान होता है न की अन्य।

जीवन्मुक्त की जैसे संसारदशा में अनुष्ठीयमान पूर्वाहारविहारादि जैसे अनुवृत्ति होती है। वैसे ही ब्रह्मज्ञान से पूर्व विद्यामान शुभवासनाओं की भी अनुवृत्ति होती है। तथा शुभ तथा अशुभ की प्राप्त में औदासीन्य होता है। भलेही जीवन्मुक्त पुरुष साधारण जन के समान आचरण करता है फिर भी उसमें अभिमान कहीं भी नहीं होता है। इसलिए तत्वज्ञान के बाद प्रपञ्च वस्तुओं के ऊपर उसका औदासीन्य होता है। दर्पण मे जैसे मुख प्रतिबिम्ब के मानापमानों के द्वारा कोई परिवर्तन नहीं होता है, उसी प्रकार से जीवन्मुक्त को भी जगत् के मिथ्यात्व के ज्ञान से हर्षविषादादि नहीं होते है। क्योंकि जीवन्मुक्त को हमेशा यह बोध होता है की प्रतीयमान जगत तो मिथ्या रूप से प्रातिभासिक है। न केवल जगत अपितु शास्त्र भी उसको मिथ्या रूप में ही दिखाई देते हैं। जिस प्रकार से दीपक मार्ग के अन्धकार का नाश करके पथिक को घर तक ले जाता है उसके बाद में उसका कार्य पूर्ण हो जाता है उसी प्रकार से शास्त्र अज्ञानी को मार्ग दिखाकर के आत्मज्ञान की और ले जाते हैं। उसके बाद में शास्त्र का उपादेय नष्ट हो जाता है। यहाँ पर यह प्रश्न होता है की स्वप्न में भी लोग प्रातिभासिक वस्तु को देखते हैं। इसलिए स्वप्नस्थ जीवन तथा मुक्ति में क्या भेद होता है। यहाँ पर यह समाधान है की स्वप्न में स्वप्नस्थ ज्ञान नहीं होता है। वह प्रातिभासिक वस्तु ही होती है। लेकिन जीवन्मुक्त तो यह जानता है की इस जगत में विद्यमान वस्तु प्रातिभासिक मिथ्यारूप में ही होती है।

ध्यान दें:

जीवन्मुक्त यदि प्रपञ्च को मिथ्यावत् जानता है तो जीवन्मुक्त की पापपुण्य में भी मिथ्यादृष्टि होनी चाहिए फिर तो जीवन्मुक्त में स्वच्छाचार प्रसङ्ग दोष भी आता है। जीवनमुक्त यदि स्वेच्छाचारी हो जाए तो साधारण मानवों से उसका कोई भेद ही नहीं हो। फिर जीवन्मुक्त लोकयात्र उच्छेदकरत्व अर्थात् कुमार्गी हो जाएगा। अब उत्तर देते हुए आचार्य सदानन्दयोगीन्द्र ने जीवन्मुक्ति के वर्णन के समय में यह कहा है की जीवन्मुक्त की शुभ वासनाओं की भी अनुवृत्ति होती है। लौकिक दृष्टि से तो यथेच्छाचरित्व जीवन्मुक्त हो सकता है। लेकिन वास्तविक दृष्टि से जीवन्मुक्त स्वयं का भोजन औरों को देता है। योग प्रभाव से आर्त को आरोग्य भी देता है। जीवन्मुक्त लोक संग्रह के लिए मुक्ति के बाद भी कर्म करता है इस प्रकार से गीता में कहा है। जीवन्मुक्त ज्ञान प्राप्त करके स्वेच्छाचारी नहीं होता है क्योंकि उसकी अशुभादि वासनाएँ तो साधनकाल में ही लुप्त हो जाती है। इसलिए शुभवासनाओं की ही अनुवृत्ति होती है। इसलिए ही वेदान्तगुरु सुरेश्वराचार्य नें कहा हैं कि-

''बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेच्छाचरणं यदि।
शूनां तत्त्वदृशां चौव को भेदोऽशुचिभक्षणे''॥ इति॥

आचार्य नें कहा है कि जो मुमुक्षु अद्वैतत्व का साक्षात्कार करके यदि वह यथेच्छाचारी होता है तो उसका साधारण व्यक्ति से क्या भेद होगा। यदि दोनों की कुभोजन में ही मति हो जाए तो तत्वदृष्टि से उनमें क्या भेद होगा।

आचार्य विद्यारण्य स्वामी ने तत्वदर्शियों को किस प्रकार से आचरण करना चाहिए उसका उपदेश दिया है। वह इस प्रकार से है

''विड्वराहादितुल्यत्वं मा काङ्क्षीस्ततत्त्वविद्भवान्।
सर्वधीदोषसंत्यागाल्लोकेः पूज्यस्व देववत्''॥ इति॥

इसका अर्थ यह हैं कि सभी प्रकार के उत्कृष्ट ज्ञान से युक्त तुम कामादि त्याग अशक्त्व के द्वारा सभी अधर्म अनुचित वस्तुओं की आकांक्षा मत करो। अपितु कामादिलक्षण और सम्पूर्णदोष के नाश के द्वार सभी लोगों के द्वारा देवता समान पूजित हो।

26.5) विदेहमुक्ति

जीवनमुक्ति के अनन्तर विदेह मुक्त का स्वरूप बताया जा रहा है। जीवन्मुक्त की ही विदेह मुक्ति होती है। जीवन्मुक्त के प्रारब्धकर्मों के उपभोग के द्वारा क्षय होने से देहनाश होने पर उसकी विदेहमुक्ति होती। सञ्चितादि कर्मों का तो पहले ही नाश हो जाता है। इसलिए जीवन्मुक्त के और भी कर्म फलों को भोगने के लिए अवशिष्ट नहीं होते है। इसलिए देहनाश से विदेहमुक्ति होती है। यह ही मुक्ति परममुक्ति कही जाती है। स्वस्वरूप का ब्रह्म के साथ एकीभाव हो जाता है। इस प्रकार से शास्त्रों में भी कहा है-

''जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव''॥ इति॥

जैसे वायु कभी चलने को त्यागकर के निश्चलरूप से अवितिष्ठित होती है। वैसे ही मुक्त आत्मा उपाधिकृत संसार का त्याग करके अपने स्वरूप में अवतिष्ठित होता है। तब आत्मा की कहीं भी गति नहीं होती है। इसलिए श्रुतियों में कहा है

''इहैव प्रविलीयन्ते कामाः'' इति ''अत्र ब्रह्म समश्नुते'' इति च।

विदेहमुक्ति की और भी स्थिति शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित की गई है

''विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति।

ध्यान दें:

न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः''॥ इति॥

विदेहमित्त्क का फिर आविर्भाव नहीं होता है। और विदेहमुक्त का अस्त भी नहीं होता है। विदेह मुक्त न तो सत्स्वरूप में विशिष्ट होता है और नहीं असत्स्वरूप में विशिष्ट होता है। और तो उसका कोई भी व्यवहार भी नहीं होता है। यह न तो समष्टिरूप होता है और न ही व्यष्टिरूप होता है।

जीवन्मुक्त का आत्मसाक्षात्कार भले ही हो जाता है। फिर उसको प्रबल प्रारब्ध वश उसकी अन्तिम मुक्ति नहीं होती है। इसलिए उसे विदेहमुक्ति की आवश्यकता होती है।

कर्म ही जीव के लोकान्तरगमन का कारण होता है। इसलिए कर्म के नाश से विदेहमुक्त का कहीं भी गमन नहीं होता है। वह यहाँ पर ही लीनता को प्राप्त कर लेता है। और सभी कर्मों के नाश के कारण उसका फिर दूसरा जन्म भी नहीं होता है। इस प्रकार से श्रुतियों में कहा है

''यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते''॥ इति॥

यहाँ पर ब्रह्मज्ञ की जो विदेह मुक्ति वर्णित है वह मुक्ति तो औपचारिक होती है। जैसे सांख्य में कहते हैं की पुरुष का बन्ध भी नहीं होता है तथा मुक्ति भी नहीं होती है। वस्तुतः यदि बन्ध होता तो कभी मुक्ति ही नहीं होती। उसी प्रकार से अद्वैतवादी भी बन्ध की सत्यता को स्वीकार नहीं करते हैं। इसलिए परमार्थभूत मुक्ति भी नहीं होती है। अतः मुक्ति तो औपचारिकी ही होती है। यदि मोक्ष उत्पन्न होता तो मोक्ष का भी नाश होना चाहिए कारण यह है कि जगत में जो वस्तु उत्पन्न होती हैं वह नष्ट भी होती है। इसलिए इससे तो मोक्ष में भी अनित्यता आ जाती है। इसलिए मोक्ष नहीं होता है। तथा बन्ध का करण भी नहीं है। अतः मोक्ष तथा बन्ध तो सापेक्ष होते है। गौडपादाचार्य ने माण्डूक्यकारिका में कहा है कि-

''न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता''॥ इति॥

अतः इसका निरोध भी नहीं है तथा जीव की उत्पत्ति भी नहीं है। जीव बद्ध होता है। अतः बन्ध का कारण भी नहीं है। और मुमुक्षु भी नहीं है। मोक्ष भी नहीं है। यह ही वास्तविक परमार्थता है। इसलिए परमार्थता अखण्डसच्चिदानन्द ब्रह्म ही सत्य है अन्य सब मिथ्या है।

अब फिर प्रश्न होता है कि यदि जीव चिरमुक्त होता है तो उस जीव का मोक्ष क्रियासाध्य नहीं होता है। इसलिए फिर मोक्ष में पुरुषार्थता की आवश्यकता क्या है। लोक में पुरुषों के द्वारा जिसे चाहा गया है वह पुरुषार्थ होता है। और अप्राप्त की प्राप्ति ही पुरुषार्थ होती है। वहाँ से ही पुरुष की प्रवृत्ति होती है। इसलिए पुरुष की प्रवृत्ति के अभाव से मोक्ष की पुरुषार्थता अङ्गीकार नहीं होना चाहिए। यहाँ पर यह समाधान बताया जाता है की न केवल अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति ही पुरुषार्थ होता है, अपितु प्राप्त की भी प्राप्ति पुरुषार्थ रूप में स्वीकार की जाती है। जैसे यह मेरा उपनेत्र है मेरे द्वारा भूल वश इसे कहीं पर रखकर यदि भुला दिया जाता है, और कोई मेरे से यह कहता है की तेरा उपनेत्र यहाँ पर है। उसके द्वारा मुझे उपनेत्र प्राप्त होता है। यहाँ पर मेरा उपनेत्र पहले से ही था। लेकिन मेरे द्वारा अज्ञानवश उसे भुला दिया गया। अज्ञान के नाश होने पर वह मुझे फिर से प्राप्त हो गया। यही प्राप्त की प्राप्ति होती है। इस प्रकार से जीव मुक्त ही होता है। लेकिन वह अज्ञान वश अपने स्वरूप को नहीं जानता है। जब उसे आत्मज्ञान हुआ तब ही उसके अज्ञान का नाश हुआ इस प्रकार से जीव ने अपना स्वरूप ही जाना।

और भगवान श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता में यह कहा है

''प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान्।

ध्यान दें:

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते''॥ इति॥

काम तीन प्रकार के होते है। बाह्य आन्तरिक तथा वासना मात्र रूप। उपार्जित मोदकादि बाह्य काम होते हैं। आशारूपी मोदकादि आन्तरिक तथा मार्ग में आये हुए तिनकों के समान अचानक आने वाले वासनारूप काम होते हैं। इन तीन प्रकार के कामों का नाश होने पर ही बुद्धि समाहित होती है। तब ही सभी काम परित्यक्त होते हैं। उसके द्वारा ही जीवन्मुक्ति होती है। तथा उससे प्रारब्ध के क्षय होने पर विदेहमुक्ति भी होती है।

कुछ दु:खों से रागादिनिमित्तजन्य रजोगुणरूप सन्तापात्मिका प्रतिकूलचित्तवृत्ति भी होती है उस प्रकार के दु:ख होने पर मैं पापी हूँ मैं दुरात्मा हूँ, इस प्रकार से अनुतापात्मिका तमोगुणविकारत्व के द्वारा भ्रान्तिरूप चित्वृत्ति का उद्वेग होता है। सुख में राजत्व तथा पुत्रालाभादिजन्य सात्त्विकी प्रीतिरूप अनुकूल चित्तवृत्ति होती है। उसमें सुख होने पर आगामी उस प्रकार के सुख के कारण पुण्य के अनुष्ठान के लिए उसप्रकार की सुखापेक्षारूपी तामसी वृत्ति इच्छा होती है। यहाँ पर सुख तथा दु:ख में पूर्वकर्म प्राप्तित्व से व्युत्थित चित्त के वृत्तिसम्भव से दोनों मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं। इसलिए उद्वेग तथा स्पृहा विवेकियों में सम्भव नहीं होती है। वैसे ही रागभय क्रोधादि भी विविकियों में नहीं होते हैं। इस प्रकार से लक्षणलक्षित स्थित मति युक्त व्यक्ति के ही प्रारब्ध के नाश होने पर विदेहमुक्त होती है। इस प्रकार से भगवान श्री कृष्ण ने कहा है-

''दु:खेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते''॥ इति॥

जीवन्मुक्त जब उसके सभी अङ्गों के विषयों की आत्मा में प्रतिष्ठा कर लेता है तब ही जीवन्मुक्त की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है। जैस कूर्म स्वयं ही अपने अङ्गों को अपनी देह में ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार से स्थित प्रज्ञ भी उसकी इन्द्रियों को वश में करता है। समाधि से उठे हुए पुरुष को उसकी इन्द्रियाँ उसके वश में होकर के रोकती है। क्योंकि समाधि में अज्ञानवृत्तियों का नाश हो जाता है। इसलिए भले ही इन्द्रियाँ लौकिक दृष्टि से कार्य करती है फिर भी वे तत्वत: कार्य नहीं करती हैं। इसलिए गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है-

''यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठता''॥ इति॥

और भी जब इन्द्रियों के द्वारा विषय से रागमोहादि वासानाओं का नाश हो जाता है। तब ही पुरुष मुक्त होता है। वह समाधि के अभ्यास बल से ही सम्भव होता है। समाधि के द्वारा चित्त की प्रसन्नता उत्पन्न होती है। उस प्रकार के समाहित चित्त जीवन्मुक्त के काल में प्रारब्ध के क्षय से विदेह मुक्ति होती है।

अब यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि मृत्यु के बाद भी इन्द्रियाँ कार्य नहीं करती है। तथा मृत्तक का लौकिक व्यवहार भी नहीं देखा जाता है। इसलिए मृत्यु तथा विदेहमुक्ति में क्या भिन्नता है।

यहाँ पर यह समझाना चाहिए की मृत्यु में इन्द्रियाँ सूक्ष्मशरीर के द्वारा नूतन शरीर में जाती हैं। तथा मरणशील के अज्ञान का नाश नहीं होता है। इस अज्ञान के कारण ही वह जीव फिर से शरीर धारण करता है। और उसका फिर से जन्ममरणादि होता है। इसलिए अज्ञानजन्य जो कार्य होते हैं। वे विदेहमुक्त सम्भव नहीं होते हैं।

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्न 26.3

1. विदेहमुक्ति के क्या लक्षण होते हैं?
2. विदेह मुक्ति किसकी होती है?
3. मृत्यु तथा विदेहमुक्ति में क्या भिन्नता है?
4. सभी की विदेह मुक्ति होती हैं अथवा नहीं?
5. विदेह मुक्ति के बाद जन्म होता है अथवा नहीं।
6. विदेहमुक्ति के बाद प्रारब्ध कर्मों का क्या होता है?
7. जीवन्मुक्त का यदि अज्ञान नहीं रुकता है तो विदेमुक्त का क्या नष्ट होता है।
8. क्या चार्वाक विदेह मुक्ति को स्वीकार करते हैं?
9. विदेहमुक्त का क्या प्रमाण है?
10. विदेहमुक्त के पुण्यफल होतें हैं अथवा नहीं।

पाठ सार

वेदान्त में कहे गये साधनचतुष्टय सम्पन्न मुमुक्षु प्रमाता पुरुष जीवन्मुक्ति की अवस्था में जाता है। जीवित रहते हुए पुरुष के कर्तृत्व भोक्तृत्व तथा सुखदु:खादि लक्षण जो चित्त के धर्म होते हैं वह क्लेश रूपत्व से बन्ध होता है। उसका निवारण जीवन मुक्ति होती है। जीवित रहते हुए ही जो मुक्त है वह जीवन्मुक्त कहलाता है। वेदान्तसार के प्रकरण ग्रन्थ में जीवनमुक्त का लक्षण विस्तार से बताया गया है। "यदा सर्वे प्रमुच्यते सचक्षु: अचक्षुरिव सकर्म अकर्म इव" इत्यादि श्रुतिवाक्य जीवन्मुक्त पुरुष के स्वरूप को प्रस्तुत करते है। 'सुषुप्तवज्जाग्रति यो नपश्यति ' इत्यादि श्रुतिवाक्यों के द्वारा जीवन्मुक्त का स्वभाव कहा गया है। जीवन्मुक्त पुरुष ही प्रारब्ध के नाश के बाद विदेह मुक्ति को प्राप्त करता है। प्रारब्धकर्मो के क्षय होने पर जीवन्मुक्त पुरुष के कोई भी कर्म फल भोगने के लिए नहीं रुकते है। उसके बाद उसकी विदेह मुक्ति हो जाती है। यह ही मुक्ति परममुक्ति होती है। विदेहमुक्ति होने पर जीव ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। इस विदेह मुक्ति की स्थिति शास्त्रों के द्वारा इस प्रकार से प्रतिपादित की गई है।

विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति।
न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतर:॥ इति॥

आपने क्या सीखा

- जीवन मुक्ति के स्वरूप
- विदेह मुक्ति के स्वरूप
- जीवन मुक्ति की आवश्यकता या अनावश्यकता के प्रसंग को जाना
- जीवन मुक्ति में साधन लोक व्यवहार
- जीवन मुक्ति से अज्ञान नाश

ध्यान दें:

- विदेहमुक्ति की स्थिति, विदेहमुक्ति में प्रमाण तथा आवश्यकता को जाना

पाठान्त प्रश्न

1. जीवन्मुक्त के लक्षणों की व्याख्या कीजिए।
2. विदेहमुक्त के लक्षणों की व्याख्या कीजिए।
3. जीवन्मुक्त के आचरण के विषय में लिखिए।
4. जीवन्मुक्ति तथा विदेह मुक्ति में क्या भेद होता है।
5. तीन प्रकार के कर्मों का विवरण लिखिए।
6. जीवन्मुक्ति का क्या प्रयोजन है आलोचित कीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 26.1

1. अखिलबन्धरहित आत्म ही जीवन्मुक्त के नाम से कही जाती है।
2. अद्वैतवेदान्त में मुक्ति दो प्रकार की होती है। जीवन्मुक्ति तथा विदेह मुक्ति।
3. जीवन्मुक्ति सभी सम्प्रदायों के द्वारा अङ्गीकार नहीं की गई है
4. रामकृष्णादि पुरुष भी जीवन्मुक्त ही थे, और शास्त्र प्रमाण भी है।
5. वेदान्तसार के लेखक सादनन्दयोगीन्द्र है।
6. धी पद के द्वारा यहाँ पर बुद्धि का ग्रहण होता है।
7. वेदान्तसार में कहा गया है कि जीवन्मुक्त स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञान के द्वारा तथा उस अज्ञान के बाध के द्वारा स्वस्वरूपाखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार करके अज्ञान तथा उसके कार्य सञ्चित कर्म संशय विपर्ययादि का भी बाध करके अखिल बन्ध रहित होकर के ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है।
8. जीवन्मुक्त का फिर संसार बन्ध नहीं होता है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 26.2

1. कर्म तीन प्रकार के होते है। सञ्चित प्रारब्ध तथा क्रियमाण।
2. इस में किए जाने वाले कर्म ही क्रियमाण कर्म पद के वाच्य है।
3. फलदान के लिए अनुन्मुख जो कर्म अनादिकाल से अर्जित तथा सञ्चित होकर के रुकते है व सञ्चित कर्म कहलाते है।
4. सञ्चितकर्मे में से कोई एक कर्म शरीर का निर्माण करवाता है वह शरीर आरम्भक कर्म ही फिर प्रारब्ध कर्म कहलाता है।
5. ज्ञान के साथ प्रारब्ध कर्म का विरोध नहीं है।
6. शरीर के समाप्त होने पर

ध्यान दें:

7. भाग के उपरांत
8. सत्ता तीन प्रकार की होती है। व्यवहारिक, प्रातिभासिक तथा पारमार्थिक।
9. जगत की पारमार्थिक सत्ता नहीं होती है।
10. जीवन्मुक्ति ही विदेहमुक्ति का हेतु है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 26.3

1. प्रारब्ध कर्मों के क्षय होने पर जीवन्मुक्त पुरुष के कोई भी कर्म नहीं रुकते है। उसके बाद उसकी विदेह मुक्ति हो जाती है।
2. जीवन्मुक्त ही विदेहमुक्त होता है। इसलिए विदेहमुक्ति का कारण जीवन्मुक्ति यह भी कह सकते है।
3. मृत्यु सत्य होने पर इन्द्रियाँ सूक्ष्म शरीर के साथ नये देह में चली जाती है। लेकिन मरणशील के अज्ञान का नाश नहीं होता है। इसलिए अज्ञान के कारण से वह फिर नया शरीर धारण करता है। लेकिन जीवन्मुक्ति के बाद जिसकी विदेहमुक्ति होती है उसका फिर जन्ममरणादि कार्य नहीं होते है। क्योंकि विदेहमुक्त का अज्ञान के अशेष से विनाश हो जाता है।
4. सभी की विदेह मुक्ति नहीं होती है। जिसका अशेषता से अज्ञान का नाश होता है। उसकी ही विदेहमुक्त होती है।
5. विदेह मुक्ति के बाद में फिर जन्म नहीं होता है।
6. हाँ प्रारब्धकर्म का नाश होने पर विदेहमुक्ति होती है। क्योंकि प्रारब्ध के उपभोग के द्वार उनका क्षय होने लगता है।
7. भले ही जीवन्मुक्त अज्ञान नहीं रुकता है फिर भी उसका प्रारब्ध कर्म तो होता ही है जब प्रारब्ध कर्म का नाश होता है तब विदेहमुक्ति होती है।
8. हाँ चार्वाक विदेहमुक्ति को स्वीकार करते हैं। लेकिन उनकी विदेह मुक्ति में केवल शरीर का ही नाश होता है।
9. विदेहमुक्ति के प्रमाण को यदा संरहते चायं कूर्मोऽङ्गानीव इत्यादि स्मृतियों के द्वारा समझा जाता है।
10. विदेहमुक्त का अशेषतः अज्ञान के नाश होने से उसके पुण्य भी नहीं रुकते हैं।

ध्यान दें:

27

विवेकानन्द वेदान्त चिन्तन

भारतवर्ष आध्यात्मिकता की भूमि है। वहाँ पर समय-समय पर बहुत धर्म सम्प्रदायों की तथा दर्शन सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई है। भारतीय दर्शनों में वेदान्त दर्शन प्रमुख स्थल रहा है। उस दर्शन के बहुत से सम्प्रदाय तथा बहुत सी व्याख्याएँ वेदान्तदर्शन वस्तुत: साक्षात् उपनिषदों का आश्रय लेकर के स्वयं दर्शन के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है। भले ही सभी वेदान्त सम्प्रदाय उपनिषद् को प्रमाणत्व के रूप में स्वीकार करतें है फिर भी उपनिषदों में उनका सूक्ष्म रूप भेद होता है। उससे सिद्धान्तों में भी बहुत से स्थलों में उनेक स्वभाविक भेद दिए गए है। वेदान्त दर्शनों में भी परस्पर मतभेद प्रसिद्ध ही है। लेकिन मतभेद होने पर भी सभी वेदान्त दर्शन एक ही परमेश्वर का निर्देश करते है। सभी दर्शन मार्गों के द्वारा एक ही परमेश्वर विविध रूपों में बताया गया है। श्रीरामकृष्ण का जीवन देखकर के विवेकानन्द ने समझा है। श्री रामकृष्ण ही उस प्रकार के साधक थे जिनके जीवन में द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत इस प्रकार के सभी तत्व परस्पर विरोध बिना ही रहते हैं। इस प्रकार उनके उपदेश से तथा जीवन से प्रभावित होते हुए विवेकानन्द ने शास्त्रों का आश्रय लेकर के (प्रधान रूप से उपनिषद् तथा भगवद्गीता का आश्रय लेकर के) श्री रामकृष्ण के समन्वय भाव का प्रचार किया। श्री रामकृष्ण के द्वारा प्रभावित उनके इस प्रकार वेदान्तव्याख्यान जैसे अध्यात्ममार्ग में चलने वालों के बहुत सारे संशयों का निराकरण करके नि:संशय उनको अध्यात्ममार्ग की प्रेरणा देने वाले हुए। वैसे ही प्रायोगिक जीवन में भी उपयोग लिए प्रेरणादायी सिद्ध हुए। उससे आधुनिक विज्ञानयुग में वेदान्त के अभिनवरूप के द्वारा इस प्रकार के व्याख्यानों को सभी दर्शन जिज्ञासुओं के द्वारा अवश्य ही ध्यान पूर्वक समझना चाहिए। विवेकानन्द ने वेदान्त के इस प्रकार के महात्म्य को जो व्यवहारिक तथा आध्यात्मिक जीवन का समझकर के तथा व्यवहारिक जीवन में इसका प्रयोग किस प्रकार से हो इस स्पष्टता का भी निरूपण किया।

उद्देश्य

इस पाठ को पढ़कर आप सक्षम होंगे;

- विवेकानन्द के विषय में सामान्यज्ञान प्राप्त करने में;
- विवेकानन्द के दर्शन के विषय में विस्तार से जान पाने में;
- विवेकानन्द के दर्शन में श्री रामकृष्ण का प्रभाव समझने में;

पाठ-27

विवेकानन्द वेदान्त चिन्तन

ध्यान दें:

- विवेकानन्द का सेवा भाव जानने में;
- योग चतुष्टय में विवेकानन्दकृत समन्वय को जान पाने में;
- अन्य दर्शनों से भी विवेकानन्द दर्शन का वैलक्षण्य जानने में;
- अपरोक्षानुभूति किस लिए होती है तथा अध्यात्म प्रपञ्च में प्रमाणों के विषय में ज्ञान प्राप्ति करने में;
- विवेकानन्द प्रदर्शित योग चतुष्टय के विषय में ज्ञान प्राप्त करने में;
- आधुनिक काल में विवेकानन्द का वेदान्त दर्शन किस लिए आवश्यक है यह जान पाने में;

27.1) विवेकानन्द कौन है?

स्वामी विवेकानन्द का परिचय आधुनिक भारतवर्ष में प्राय: सभी को है। १८६३- ईस्वी शताब्दी में जनवरी मास की 12 दिनाङ्क को जन्म लेने पर इनका नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। उनके आध्यात्मिक श्रीरामकृष्ण थे। गुरु से संन्यास दीक्षा प्राप्त करके परिव्राजक जीवन का निर्वहन करते हुए भारतवर्ष के विविध स्थानों में घूमते हुए धर्म प्रचार करके १८९३ ईस्वी सन में शिकागो नगरी में अनुष्ठित धर्मसम्मेलन में भाग ग्रहण करके वहाँ पर सनातन धर्म का महत्व उद्घोष करके जगत में प्रसिद्धि प्राप्त करी। वहाँ से उन्होंने सनातन धर्म का विशेषत: वेदान्त का प्रचार करके समग्र मानवजाति के लिए उन्नति का विधान करने की चेष्टा की। उनके मुख में वेदान्त वाणी ने सजीवता को प्राप्त करके जनमनस में नया रूप धारण कर लिया उन्होंने जिस वेदान्त का प्रचार किया वह वेदान्त इस प्रकार से सम्बोधित होता है।

27.2) विवेकानन्द वेदान्त दर्शन क्या है

भारतीयशास्त्रपरम्परा में न्याय तथा ग्रंथों दार्शनिकों की तथा दार्शनिकतत्वों की समुत्पत्ति हुई। उनमें छ आस्तिकदर्शन जैसे न्याय वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वोत्तर, मीमांसा तथा सांख्य प्रसिद्ध थे। इन में फिर उत्तर मीमांसा ही द्वैत, विशिष्टद्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, अचिन्त्य भेदाभेद शैवविशिष्टाद्वैतादि अलग अलग मत वाले हो गये। काल क्रम से समागत तत्त्वविदों के मत भी उस प्रकार के वेदान्तचिन्तनों के अन्तर्गत ही होते है। जीव ब्रह्म जगत माया इत्यादि विषयों का आश्रय लेकर के उत्तर मीमांसा दर्शन प्रवृत्त हुआ है। विवेकानन्द का वेदान्त दर्शन भी अब सनातनधर्म के द्वारा एकीभूत हो गया है। वेदान्त वाक्यों को हम सामाजिक जीवन तथा व्यवहारिक जीवन में किस प्रकार से प्रयोग करें इसका पूर्ण रूप से वर्णन कर के उन्होंने इसे अपने जीवन में भी धारण किया। भारतवर्ष की आध्यात्मिक शक्ति को उन्होंने अपने जीवन में अपनाया तथा सम्पूर्ण विश्व में उसका विस्तार किया जिससे वह मानवों के बोधगम्य तथा तथा अपने जीवन में पालन के लिए उपयोगी है। इसलिए विवेकानन्द दर्शन वेदान्त का कालोपयोगिता के द्वारा प्रायोगिक व्याख्यान है।

पाठगत प्रश्न 27.1

1. विवेकानन्द का बाल्यकाल मे क्या नाम था?
2. विवेकानन्द के आध्यात्मिक गुरु कौन थे?
3. विवेकानन्द के द्वारा प्रचारित दर्शन का नाम वेदान्त दर्शन किस लिए हुआ।

ध्यान दें:

4. विवेकानन्द का जन्म दिवस कब होता है?

5. किस ईस्वी सन् में विवेकानन्द ने शिकागो नगर में विश्व धर्म सम्मेलन में योगदान दिया।

6. विवेकानन्द के द्वार प्रचारित वेदान्त का क्या अभिधान है।

27.3) विवेकानन्द दर्शन में श्रीरामकृष्ण का प्रभाव

सबसे पहले तो यह जानना चाहिए की विवेकानन्द के वेदान्तचिन्तन में उनके गुरु श्री रामकृष्ण का महान प्रभाव था। श्रीरामकृष्ण के प्रधान शिष्य विवेकानन्द ही गुरु के वार्ता के प्राचारक थे। भावी पथ प्रदर्शक के रूप में श्री रामकृष्ण ने उनको ही निर्मित किया था। श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के बाद भी विवेकानन्द उनसे मार्ग दर्शन लेते रहे थे। भले ही वह स्वामी रामकृष्ण के विषय में बहुत कम ही कहते थे। फिर भी उनका समग्र जीवन श्रीराम कृष्ण के जीवन से प्रेरित था। एक बार तो उन्होंने यह कहा था कि यह में जो कह रहा हूँ वह स्वामीरामकृष्ण के ही शब्द है- "यत्सर्वं भावम् अहं कथयामि, तत्सर्वम् एव तस्य (रामकृष्णदेवस्य) चिन्ताराशेः प्रतिध्वनिकल्पम्। अनुत्तमान् विहाय एतेषाम् एकोऽपि मदीयो नास्ति। सत्यभूतं कल्याणकरं च यत्सर्वं मया उच्चरितं, सर्वमेव तस्य वचनस्य प्रतिध्वनिमात्रम्।" (स्वामिविवेकानन्दस्य 'वाणी ओ रचना')

इससे यह मानना चाहिए की श्री रामकृष्णदेव का जीवन तथा उनके उपदेशामृत को जिस प्रकार से लोग ग्रहण कर सके उसके लिए विवेकानन्द ने प्रयास किया। विवेकानन्द किसी सम्प्रदाय के प्रतिष्ठा कारक थे अपितु वे तो नए भारत के आध्यात्मिक मार्ग के प्रदर्शक रूप थे। नवयुग के अवतार के रूप में विवेकानन्द ने रामकृष्ण को अवतार के रूप में देखा था। उन्होंने एक पत्र में कहा भी था। यह व्यक्ति (रामकृष्णदेव) ने इक्यावन वर्ष के जीवन में पाँच हजार वर्ष का जीवन व्यतीत किया। इस प्रकार से विवेकानन्द के जीवन में रामकृष्ण का सायुज्य देखा जाता है।

27.4) वेदान्त आाधारित दर्शन प्रचार का कारण

भले ही श्रीरामकृष्ण के प्रभाव का प्रचार ही विवेकानन्द का उद्देश्य हुआ फिर भी वेदान्त दर्शन का आश्रय लेकर के विवेकानन्द ने अपने दर्शन का प्रचार किया इसका कारण यह है कि उनके मन में यह था की रामकृष्ण के प्रभाव को विश्व जाने इसलिए विश्व को पहले एकसूत्र में बाँधना जरूरी है। तो वेदान्त दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जो सभी के लिए उपकारी हो। जो हजारों वर्षों से सनातन धर्म के मूल को बचाए हुए है। स्वामी विवेकानन्द ने देखा उनके गुरुदेव ने न केवल वेदान्त दर्शन परीक्षण करके प्रमाणित किया अपितु उन्होंने वेदान्त के सारगर्भित धर्मीप्रयोजन के अशों को अलग करके अपने जीवन के माध्यम से व्यवहारिक प्रयोग को सिद्ध करके वेदान्ततत्व को आधुनिक काल में उपयोगी बनाया। इसलिए विवेकानन्द ने 'जीवन के कर्म में वेदान्त' इसका प्रचार किया। उनका उपजीव्य श्रीरामकृष्ण का जीवन था इसलिए विवेकानन्द के दर्शन का मूलभूत तत्व श्रीरामकृष्ण का जीवन ही है। इस प्रकार से श्री रामकृष्ण देव ने अपने जीवन में वेदान्त के तत्वों का प्रयोग किया। और विवेकानन्द ने वेदान्त के माध्यम से श्री रामकृष्ण के जीवन की व्याख्या की। इस प्रकार से यह परस्पर परिपूरक क्रिया ही श्रीरामकृष्ण तथा विवेकानन्द दर्शन की भित्ति है।

ध्यान दें:

27.5) सर्वस्तरीय मानवों की आध्यात्मिक अभ्युन्नति तथा उनके दर्शन का लक्ष्य।

मानवों की आध्यात्मिक अभ्युन्नति ही उनके दर्शन का लक्ष्य था। परिव्रजाक संन्यासी के रूप में भारत में भ्रमणकाल में लोगों की दरिद्रता तथा शिक्षा हीनता देखकर के स्वामी विवेकानन्द का मन दु:ख से निपीडित हो गया। उन्होंने समझा की भारत की अवनति का मूल कारण उद्योगियों की नीतियाँ, साधारण दरिद्रजनों का शोषण तथा उनके प्रति हेयदृष्टि तथा नारियों की अवहेलना है। उन्होंने यह भी प्रत्यक्ष किया की दरिद्रता होने पर भी सभी लोगों के जीवन में धर्म जीवन शक्ति के रूप में होता है। आध्यात्मिकता रूपी शक्ति ही सभी की केन्द्रभूत है। अत: आध्यात्मिक जीवन में शक्तिसञ्चार से ही इन जनों की फिर अभ्युन्नति तथा नया जीवन संचार हो। स्वामी विवेकानन्द जी का विचार था 'वेदान्त से परिचित भारतवर्ष के प्राचीन आध्यात्मिक दर्शन में इस प्रकार से बल सम्पन्न आध्यात्मिक तत्व निहित हैं। जिनका व्यावहारिक जीवन में प्रयोग से सभी जातियाँ फिर से जीवित हो सकती हैं। और पाश्चात्य देशों में जाकर विवेकानन्द ने देखा की जो वहाँ पर लोग हिंसा नीति हीनता तथा सामाजिक सङ्कटों से आक्रान्त है। इनके सङ्कटों का समाधान वेदान्त के तत्वों के द्वारा किया जा सकता है। इस प्रकार से विवेकानन्द का दृढ विश्वास था इसलिए स्वामी विवेकानन्द श्री रामकृष्ण के जीवन के माध्यम से तथा उन्हीं के वचनों के माध्यम से वेदान्त के शक्ति तत्व समूहों का जनसाधारणों के लिए प्रचार किया। जिसके द्वारा सभी की आध्यात्मिक उन्नति हो जाए।

27.6) समन्वय

अद्वैत वेदान्त के मत में ज्ञान ही केवल्य होता है। इसके अलाव और कोई रास्ते नहीं है। ईश्वर की आराधना के द्वारा,पूजन के द्वारा,योगमार्ग के द्वारा,तथा केवल्य प्राप्त नहीं होता है। द्वैत वेदान्त दर्शन के मत में भक्ति ही भगत्साक्षात्कार का कारण है। श्री रामकृष्ण का मत यह है कि जितने मत होते हैं उतने ही पन्थ होते हैं। इसलिए भगवत प्राप्ति के लिए भले ही बहुत से मार्ग हैं। लेकिन फिर सभी दर्शनों का साध्य एक ईश्वरतत्व साक्षात्कार ही है। सभी धर्म सम्प्रदायों का बौद्ध, जैन, मुहम्मद तथा अन्य ध र्मों का भी अन्तिम लक्ष्य मोक्ष ही है। और वह दु:खनिवृत्ति रूप तथा आनन्द प्राप्ति रूप होता है तथा बार बार जन्ममरण रूपी संसार चक्र से निवृत्ति रूप होता है ।वह ही ईश्वर आत्मा को बहुत प्रकार से प्रकाशित करता है। इसलिए एक प्रसिद्ध श्रुति वाक्य है। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ' इस प्रकार से मार्ग बहुत है। स्वयं के अधिकानुसार जिस मार्ग का आश्रय लेकर के जो ईश्वर प्राप्ति की इच्छा करता है। वह उसके द्वारा ईश्वर को प्राप्त भी कर सकता है। श्रीरामकृष्ण स्वयं सभी धर्मो के नियमों को पालते हुए इस प्रकार का निर्णय दिया। शिवमहिम्नस्तोत्र में यह कहा है-

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥ इति।

और यह युक्ति सम्मत भी है। सभी धर्मों में यह कहा गया है की अपने मन को कालुष्य से हटाकर के ईश्वर की आराधना के द्वारा तथा शुभकर्म के द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त करके जीव को ईश्वर की प्राप्ति करनी चाहिए। कोई भी धर्म कुकर्म के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति का उपदेश नहीं देता है। यदि किसी धर्म का मार्ग ईश्वरतत्व का उपदेश नहीं देता है तो उन धर्म प्रवर्तकों का अनुभव भी मिथ्या ही है। इसिलए धर्म समन्वय ही युक्ति युक्त अनुभव गोचर तथा शास्त्रसम्मत होता है।

इस धर्म समन्वय को दर्शन तत्वों के समन्वय के रूप में भी कह सकते हैं। जिस प्रकार से अद्वैत विशिष्टाद्वैत तथा द्वैत मतों का समन्वय श्रीरामकृष्ण के दर्शन में प्राप्त होता है। श्री रामकृष्णदेव ने ही ब्रह्म

ध्यान दें:

का निराकार निर्गुण अव्यक्तादिरूप स्वीकार करते हुए उसके साकार अनन्तमयादि गुणों को भी स्वीकार किया है। उनके मत में ईश्वर साकार तथा निराकार है और साकार तथा निराकार से भिन्न भी है। वह पूर्ण रूप से इस प्रकार का ही है ऐसा भी नहीं कह सकते है। ईश्वर का आनन्त्य परिमित बुद्धि वाले मानव सोच नहीं सकते है। जैसे चींटी शक्कर के एक कण को मुख में रखकर के ले जाती है। फिर सोचती है अगली बार आकर के पूर्व पर्व ही ले जाऊंगी। इस प्रकार से साधक भी ईश्वर के एक रूप का साक्षात्कार करके उसके एकमात्र स्वरूप का ही चिन्तन करते हैं। वस्तुत: ईश्वर के अनन्त रूप हैं। वह साधक भेद से अपने को भिन्न रूपों में प्रकाशित करता है।

दर्शन तत्व की दिशा में वेदान्त में दो प्रकार के ब्रह्म के रूप उपलब्ध होते है सोपाधिक ब्रह्म तथा निरूपाधिक ब्रह्म। ये ही सगुण ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म के रूप में माने जाते है। एक ब्रह्म के दो रूप होते हैं इसलिए ये भिन्न होते है। आचार्य शङ्कर के द्वारा उनके विषय में यह कहा जाता है की दो रूपों में ही ब्रह्म को समझना चाहिए। वह नामरूप विकार आदिभेद से उपाधि विशिष्ट तथ उसके विपरीत सभी उपाधियों से विवर्जित होता है। सगुण सोपाधिक ब्रह्म उपास्य ब्रह्म होता है। निर्गुण ब्रह्म ज्ञानमात्रस्वरूप होता है। वह प्रत्यक्ष आत्मा के द्वारा अनुभवमात्र गम्य होता है। इन दोनों में नाम मात्र भेद होता है। वस्तुत: उन दोनों में अभेद ही होता है। इसलिए शङ्कराचार्य का वचन है। एक ही आत्मा नाममात्र के भेद के द्वारा बहुत प्रकार से समझी जाती है। ईश्वर के साकारत्व तथा निराकारत्वप को समझने के लिए श्री रामकृष्ण देव के द्वारा एक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। वह कहते है कि ईश्वर साकार भी है तथा निराकार भी है तथा वह दोनों से भिन्न भी है। उसका उत्कर्ष किसी के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता है। साकार कैसे है तो कहते हैं कि जैसे जल तथा बर्फ होता है। जल ही घनीभूत होकर के बर्फ बन जाता है। हिम में अन्दर तथ बाहर जल ही होता है। जल बिना हिम नहीं होता है। लेकिन देखा यह जाता है कि जल का कोई निश्चित आकार नहीं होता है।और हिम का निश्चत आकार होता है। इसी प्रकार से भक्ति रूप शैत्य के द्वारा अखण्डसच्चिदानन्दसागर जल रूप में घनीभूत होकर के भिन्न भिन्न आकार को प्राप्त कर लेता है।

(श्रीरामकृष्ण लीलाप्रसङ्ग, प्रथम भाग, गुरुभाव-पूर्वार्ध)

और तो उसका अन्त भी सङ्गत नहीं होता है। वह निराकार होता है तथा साकार भी होता है। भक्तों के लिए वह साकार होता है। प्रपञ्च को स्वप्न के जैसा मानने के लिए वह निराकार होता है। जैसे सच्चिदान्द ब्रह्म समुद्र के रूप में होता है जिसका कोई पार नहीं होता है। लेकिन वही ब्रह्म भक्तो के लिए जैसा जल से बर्फ बनता है उसी प्रकार से वह भक्तों के लिए सगुण साकार विग्रह बन जाता है।

स्वामी विवेकानन्द ने सामाजिक समस्याओं के सामाधान के साथ वेदान्त के विषय में भी दो प्रधान कार्य संशोधित किए वे हैं वेदान्त का आधुनिक करण तथा ऐक्य साधन। उनकी बीच बीच में नूतन व्याख्यान रीति भी बताई है। वेदान्त का सारभूत तत्व युग प्रयोजन के द्वारा तथा आधुनिक भाषा के द्वारा और भाष्य के द्वारा उन्होनें प्रकाशित किया जो मानवों की जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए उपयोगी है। वेदान्त की बीच-बीच में नई व्याख्याएँ भी उनके द्वारा दी गई। वेदान्त का सारभूतत्व युगप्रयोजन के द्वारा तथा आधुनिक भाषा और भाष्य के द्वारा उनके द्वारा दिया गया। जो मानवों के जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए उपयोगी है। तथा वेदान्त तत्त्वों के आभ्यन्तरीकरण और ऐक्यसाध न रूपी महान कार्यों में भी अन्यतम है। वेदान्त में प्रधान रूप से द्वैत-विशिष्टाद्वैत अचिन्त्यभेदाभेदा अभिधेय तत्व है। उन उनके सम्प्रदाय के लोग उन मतों को यथार्थ मानते हैं अन्य सब मिथ्या मानते हैं। इन के द्वारा परपस्पर विरोधिमत प्रकाशकत्व से वेदान्त का प्रामाण्य सभी लोगों के लिए ग्राहित्व नहीं हुआ। यह भी सत्य है की जिस आध्यात्मिक विकास का स्तरभेद प्रतिव्यक्ति के अनुसार यदि अलग अलग है तो वह सभी के लिए उपयोगी नहीं हो सकता है। कोई भी दर्शन सभी लोगों के लिए उपयोगी तभी होगा

ध्यान दें:

जब वह सर्वजनग्राह्यत्व हो जाएगा। अन्यथा नहीं। भारतवर्ष के पुनः जागरण के लिए हिन्दु धर्म के ऐक्यसाधन के लिए वेदान्त का साधन हमेशा अपेक्षित है। श्री रामकृष्ण का जीवन तथा उनके अनुभवों को देखकर विवेकानन्द वेदान्त सम्प्रदाय के उपदलीय मतों साधनों तथा मार्गों का आविष्कार किया। श्री रामकृष्णदेव ने निम्नस्तरीय क्रिया बहुल मूर्ति पूजार्चना आदि के द्वारा उच्चस्तरी द्वैतसाधन करके सभी प्रकर के आध्यात्मिक तत्वों को उपलब्ध करवाया। इससे उपलब्धिप्रज्ञाबल से यह सिद्धान्त द्वैत विशिष्टाद्वैत मत आध्यात्मिक उपलब्धि भिन्न-भिन्न स्तरों की द्योतक प्रतिसम्प्रदाय परम सत्ता सम्बन्धी जो मत है वह आध्यात्मिक उपलब्धि के उस उस स्तर में भी सत्य है। श्री रामकृष्ण के सदृश ही कोई जो सभी मतों से तथा सभी मार्गों से अतिक्रान्त है वह ही यह कह सकता है। इस विषय में एक उदाहरण बार बार दिया जाता है कर भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न भिन्न समय में बहुत प्रकार के कृकलाश (कल्पद्रुमवृक्ष) देखकर के उसका वर्णन करते हैं। कुछ तो उसका वर्ण लाल बताते हैं कुछ उसका वर्ण हरा बताते हैं,और कुछ उसका वर्ण पीला भी बताते है। उसका यथार्थ भूत वर्ण क्या है इस विषय में विवाद करते हुए स्वयं के मत को ही यथार्थ मानते है। तब कोई व्यक्ति विशेष जो उस वृक्ष के नीचे रहता था। उसने कहा यह जो कृकलाश वृक्ष है यह कालभेद के द्वारा स्वयं के वर्णों में परिवर्तन करता है। कभी भी इसका कोई एक निश्चित वर्ण नहीं होता है। इस प्रकार से श्रीरामकृष्ण वेदान्त के किसी मतवाद विशेष को हिन्दुधर्म के सम्प्रदायविशेष के पक्षपात की दृष्टि से नहीं देखते थे। उनकी सभी मतों के ऊपर श्रद्धा थी।

श्रीरामकृष्ण परमहंस ने सभी सम्प्रदायों के मतों में समन्वय साधने का प्रयास किया। और इनमें अद्वैतत्व को ही सर्वोच्चस्तरीय उपलब्धित्व से देखते हुए उन्होंने अभ्यर्हितत्व के द्वारा उसका प्रचार किया। और उन्होंने कहा ही " मैंने एक ऐसे व्यक्ति का प्रत्यक्ष किया जो एकपक्ष में प्रबल द्वैतवादी तथा अपरपक्ष में एकनिष्ठ अद्वैतवादी, अन्यपक्षों में परमभक्त तथा परमज्ञानी है। इसलिए मैंने भी भाष्यकारों का अनुसरण किए बिना उत्कृष्ट रूप से उपनिषद्त्व तथा अन्य शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया, और अन्य शास्त्रों को समझने में समर्थ हुआ। हमारे द्वारा यह भी जानना चाहिए की एक ही सत्य को बहुत प्रकार से प्रकाशित किया गया है। प्रत्येक उस उसकी निर्दिष्ट सीमा के अन्तर्गत ही होता है। हमें लोगो को इस प्रकार से शिक्षित करना चाहिए की कोई भी विषय भिन्न भिन्न दृष्टियों के द्वारा सौ प्रकार से देखा जा सकता है। फिर भी वह विषय समान ही होता है"।

भले ही ऋग्वेदीय विषय समन्वय तत्व रूप में था फिर भी आधुनिक काल में श्रीरामकृष्ण के द्वारा ही प्रत्यक्षानुभूति के द्वारा इसकी सत्यता प्रमाणित की गई है। न केवल वेदान्त सम्प्रदायों का समन्वय अपितु भिन्न भिन्न धर्मों का भी समन्वय यहाँ पर प्राप्त होता है। इसलिए स्वामीविवेकानन्द जी के द्वारा कहा गया है।- "बुद्ध ने यह उपदेश दिया हैं की बहुत सत्य अहङ्कार मिथ्या, जो कठोर हिन्दु जन स्वीकार करतें है। वे एक ही सत्य को बहुत प्रकार से तथा मिथ्या मानते हैं। ऐसा उन्होंने श्री रामकृष्णपरमहंस से पूछा। उन्होंने उत्तर दिया है कि हाँ बिल्कुल सत्य है और एक ही सत्य वस्तु को एक ही मन के द्वारा भिन्न भिन्न काल में भिन्न भिन्न चित्त भूमि के द्वारा ग्रहण किया जाता है। " इति। "Did Buddha teach that the many was real And the ego unreal, while orthodoñ Hinduism regarosQ the OneAs the real,And the manyAs unreal?" the Swami wasAsked- 'Yes'Answered the Swami- "And what Ramakrishna ParamahamsaAnd I haveAdded to this is, that the ManyAnd the OneAre the same Reality, perceived by the same mindAt different timesAnd in differentAttitudes-,& The Complete Works of Swami Vivekananda] Vol- 8- page 261- SayingsAnd Utterances- इसका यह अर्थ है की अद्वैत तथा द्वैत एक ही तत्व सत्य है, और मन का परम तत्व भिन्न भिन्न स्तरों में तथा भिन्न-भिन्न समयों में उपलब्ध होता है।

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्न 27.2

1. विवेकानन्द के दर्शन में किसका सबसे अधिक प्रभाव था?
2. शिवमहिम्न स्तोत्र में समन्वयपरक श्लोक का क्या अंश है?
3. विवेकानन्द के द्वारा प्रचारित दर्शन का क्या लक्ष्य है?
4. श्री रामकृष्ण के मत में ईश्वर का स्वरूप क्या है?
5. दर्शनतत्व की दिशा में वेदान्त में किन दो प्रकार के ब्रह्म का रूप उपलब्ध होता है ?
6. एक ही ईश्वर स्वयं बहुत प्रकार से प्रकाशित करता है यहाँ पर श्रुति का क्या प्रमाण है?

27.7) अपरोक्षानुभूति आध्यात्मिक सत्य समूह का परम पुरुषार्थ

वर्तमानकाल में श्रीरामकृष्ण के मत को मनुष्यों के श्रद्धा के लिए तथा उसका पुनः उद्धार तथा ईश्वर लाभ ही जीवन का परमलक्ष्य है इस प्रकार के तत्व कि उन्होंने फिर से प्रतिष्ठा की। युवा नरेन्द्रनाथ अज्ञेयवादसमाच्छन्नचित्त होते हुए उन्होंने बहुत आचार्यो से पूछा की क्या आप लोगों ने ईश्वर को देखा है। तो सभी ने मना कर दिया। लेकिन जब यही प्रश्न उन्होंने रामकृष्ण से पूछा तो उन्होंने कहा हाँ देखा है। जैसे तुझे देखता हूँ उसी प्रकार से ईश्वर को भी देखता हूँ। श्री रामकृष्ण के इस प्रकार के वचन को सुनकर के नरेन्द्राथ का ईश्वर में दृढ विश्वास भी हो गया। श्री रामकृष्ण परमहंस ने अपरोक्षानुभूति लोभ ही मनुष्यजीवन के उद्देश्य के रूप में प्रतिष्ठापित किया। न केवल वही अपितु उनके द्वारा अपितु उनके द्वारा कही गई अनुभूति ही। ईश्वर तथा आध्यात्मिक प्रपञ्च की इन्द्रियातीत सत्य समूहों की वह प्रमाणभूत हुई। स्वामी विवेकानन्द के द्वारा भारत में तथा पाश्चात्य देशों में भी गुरु की अपरोक्षानुभूतिलाभरूप आदर्श प्रचारित किया गया है। श्री राम कृष्ण के आगमन से पहले लोग विश्वास द्वारा ही सदाचार तथा नैतिक उपदेशों को धर्मत्व के रूप में मानते थे। विवेकानन्द ने ही धर्म के चरमतत्व की उपलब्धि के रूप में निर्घोष किया " धर्म जीवन में उपलब्धि का विषय है वह केवल श्रवण को, सुनकर के स्वीकार करने का विषय नहीं है " धर्मी दर्शन विषय में प्रत्यक्षानुभूति ही आवश्यक होती है। आधुनिक समय में अनेक लोग इस वेदान्त दर्शन के तत्व को स्वतः सिद्ध को रूप में चिन्तन करते है। वस्तुतः वेदान्तदर्शन के पराम्परागत आचार्य आगम तथा श्रुति को ही चरमप्रमाणत्व के रूप में स्वीकार करतें है। न की अपरोक्षानुभूति को। लेकिन शङ्कर के अद्वैतदर्शन में अपरोक्षानुभव ही प्रमाणत्व के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार से जीवन्मुक्ति की प्रतिष्ठा प्राप्ति करने के काल में उनके द्वारा कहा की यदि जीवन्मुक्ति को स्वीकार नहीं करतें है तो सभी मोक्ष शास्त्र अविद्वान् पुरुष के द्वारा लिखे गये है तथा उनका प्रामाण्य भी नहीं है। इसलिए शास्त्रों को अनुभवसिद्ध लोगों के द्वारा लिखे गये के रूप में स्वीकार करना चाहिए। उनके द्वारा अपरोक्षानुभव का प्रामाण्य ही अद्वैतदर्शन में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार से यह निश्चित हो चुका है। यहाँ पर यह जानना चाहिए की आध्यात्मिक प्रपञ्च में अपरोक्षानुभूति ही लक्ष्यभूत तथा प्रमाणभूत है। फिर भी शास्त्रोक्तश्रद्धा विश्वास तथा निःस्वार्थपरतादिगुण तथा रीतियाँ अवश्य पालनीय है वे हेय नहीं है। अनुभूति भी शास्त्र विरुद्ध नहीं होनी चाहिए अपितु वे यथार्थानुभूति शास्त्रसम्मत ही होनी चाहिए। उनके द्वारा सभी परमत्व अनुभवयुक्त साधक तथा महापुरुषों की अनुभूति ही प्रमाणभूत होती हुई शास्त्र के द्वारा अविरुद्ध होती है।

ध्यान दें:

27.8) योगचतुष्टय

कर्मयोग ज्ञानयोग भक्तियोग तथा राजयोग इस प्रकार से ये योग चतुष्टय भारतीय दर्शनों में प्रसिद्ध है। स्वामी विवेकानन्दन भी योगचतुष्टय के विषय में अपने मत का प्रचार किया। उनका चारों योगों का समन्वय बहुत ही प्रसिद्ध है। उनके मत में एक एक योग मोक्ष लिए पर्याप्त है। सभी योगों का परमलक्ष्य तो योग ही है। इसलिए मोक्षलाभ के लिए यदि योगचतुष्टय को स्वीकार किया जाए तो इसमें कोई दोष नहीं है। लेकिन व्यावहारिक जीवन में योगचतुष्टय का समन्वय उनका इष्ट है ऐसा माना भी जाता है। यहाँ पर योगशब्द के अर्थ मोक्षलाभ के लिए जो निर्दिष्ट साधन मार्ग है तथा जो मार्ग परमात्मा के साथ जीवात्मा को जोडता है उसका वर्णन हैं।

27.8.1) कर्मयोग

गीता में कर्म योग अत्यन्त प्रसिद्ध है। कर्मयोग निष्काम भावना के द्वारा कर्तृत्व बुद्धि का परित्याग करके फलकामना राहित्य के साथ साधक द्वारा कर्तव्य कर्मों को किया जाना चाहिए। सामान्यत: सभी मानव यहाँ कार्य करुँगा तो मुझे यह फल मिलेगा, इस प्रकार की भावना से कर्म करते हैं। प्रत्येक कर्म का उनके लिए कोइ न कोइ अभिप्राय होता है। जैसे कोई स्वर्ग को जाने के लिए यज्ञ करता है ,कोई धनार्जन के लिए कार्य करता है। जो कार्य करता है उसकी यह कर्तृत्व बुद्धि यह होती हैं कि मैं कार्य करता हूँ। इस प्रकार से कर्तृत्व बुद्धिपूर्वक वह जो कार्य करता है उन सभी कर्मों का फल अवश्य होता है। उसका कर्म कर्ता के द्वारा भोगा जाता है। फिर शरीर धारण करना चाहिए। कर्मफल शुभ होता है तो कर्ता सुख को प्राप्त करता है तथा कर्मफल अशुभ होता है तो कर्ता दु:ख को प्राप्त करता है। संसार में स्थित व्यक्ति कर्मफल का अतिक्रमण करनें में समर्थ नहीं होता है। लेकिन यदि यही कर्म कर्तृत्व बुद्धि के द्वारा नहीं करके केवल निष्काम भावना के द्वारा किया जाए तो यह पल को जन्म नहीं दे सकती है। इसलिए निष्काम कर्म योग के द्वारा व्यक्ति बन्धते नहीं हैं। और तो निष्कामकर्म के द्वारा मानवों को आत्मज्ञान भी होता है।

भगवान वासुदेव के द्वारा भगवद्गीता में कहा भी गया है -

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। (श्रीमद्भगवद्गीता-3)

इसलिए आसक्ति से रहित होकर के कर्तव्य कर्मों को सम्पादित करना चाहिए। प्रेमपूर्वक कर्म करना चाहिए। कर्मों के करने के लिए भी कर्म करना चाहिए। लघु बालकों को कुछ भी देते है तो यदि कुछ दिया जाता है तथा प्रतिदान के रूप में कुछ भी नहीं मांगा जाता है। इसी प्रकार से कर्म करना चाहिए उसके प्रतिदान के रूप में मन से कुछ भी नहीं मांगना चाहिए कर्म जब आध्यात्मिक उन्नति के लिए सहायक होता है तो वह योगपदवी को भी प्राप्त करवा देता है। यह ही कर्म योग है। हमारे द्वारा कर्म का त्याग करके एक क्षण भी रुका नहीं जा सकता है। कर्म यदि निष्काम भावना से हमारे द्वारा हो जाएँ तो हमें उन्हीं कर्मों से मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है।

अत: कर्मयोग का सभी मुमुक्षुओं के द्वारा हमेशा अनुष्ठान करना चाहिए।

27.8.2) ज्ञानयोग

ज्ञानयोग वस्तुत: वेदान्त दर्शन ही है। यह विचार का मार्ग है। मानवों का यथार्थ स्वरूप ढ़ककर के माया विराजमान है। यह सम्पूर्ण मायामय ही है। जगत में सभी माया के द्वारा समाच्छान्न होते हुए

ध्यान दें:

संसारचक्र में बार बार आते जाते रहतें है। माय का वह आवरण ज्ञान के द्वारा भस्म होकर के स्वयं के नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप के ज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप में जो प्रतिष्ठा करता है वह साधन मार्ग ही वस्तुतः ज्ञान योग होता है। माया ही अज्ञान है। अज्ञान के द्वारा भ्रान्त जीव आत्मा के स्वरूप नहीं जानते है। आत्मा के स्वरूप का क्या नाम है तो कहते हैं-

न जायते म्रियते वा कदाचित् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (श्रीमद्भगवद्गीता-2.20)
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते। (भगवद्गीता 2.23-24)

शरीर उत्पन्न होता है आत्मा तो उत्पन्न भी नहीं होती है। और न मरती है। वह तो तीनों कालों में नित्य रहती है। तथा तीनों कालों में अविकृतरूप से विद्यामान रहती है। आत्मा के स्वरूप को कहा नहीं जा सकता है। और नहीं चिन्तन किया जा सकता है। वह अविकार्य अचल होती हुई भी स्वर्ग को चली जाती है।

एक आत्मा नामरूपाधि के भेदों से बहुत्व के रूप में प्रतीत होती है। आत्मज्ञान होने पर सभी उपाधियाँ सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती हैं। उनके द्वारा बहुत्व के रूप में प्रतीयमान आत्मा भी अभिन्नत्व के द्वारा प्रतीत होती है। तब वह मुक्त पुरुष सभी वस्तुओं में आत्मा को ही देखता है। उसको मोह तथा शोक नहीं होता है। इस प्रकार से श्रुतियों में कहा है

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ इति,
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वम् अनुपश्यतः॥ इति च। (ईशोपनिषत् 6,7)

इस प्रकार से विचार पूर्वक ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश होने पर आत्मस्वरूप का जब ज्ञान होता है तब वह मुक्त जन सभी स्थानों पर आत्मा को देखते हुए प्रसन्न होता है।

27.8.3) भक्तियोग

चारों योगों में सबसे अन्यतम भक्तियोग होता है। भक्ति ईश्वर के प्रेम को कहते है। भगवान में परमप्रीति ही भक्ति है। भक्ति स्वयं ही साध्यरूपा तथा साधनरूपा होती है। साधनमार्गों में भक्तियोग का माहात्म्य ही जो परमलक्ष्यभूत ईश्वर की प्राप्ति के लिए यहाँ पर सभी की अपेक्षा से सरल तथा स्वभाविक मार्ग है। लेकिन निम्नस्तरीय भक्ति ही सङ्कीर्णता का बीज होती है। भक्ति दो प्रकार की होती है। शुद्धा भक्ति तथा गौणी भक्ति। गौंणी भक्ति वस्तुतः समान्यतया इष्ठ में निष्ठ होती है। मैं जिसकी उपासना करता हूँ वह ही श्रेष्ठ है उनकी अपेक्षा अन्य मेरे लिए नहीं है इस प्रकार का भाव गौंणी भक्ति में होता है। यह एक प्रकार से अपक्व भक्ति होती है। पक्व भक्ति में तो घृणायुक्त बुद्धि तो होती ही नहीं है। तब तो केवल सभी भूतों में प्रेम का अनुभव ही होता है। वह वस्तुतः शुद्ध भक्ति होती है।

भक्ति के विषय में यह शाण्डिल्य सूत्र है "सा परानुर्कितरीश्वरे" इस प्रकार से अविच्छिन्न तैलधारा के समान ध्येय ईश्वर के निरन्तर स्मरण के द्वारा बन्धनों का नाश हो जाता है। स्मरणदृढ़ होने पर परोक्षानुभूति होती है। वह ही मुक्ति का कारण होता है। भगवद्गीता में कहा भी गया है कि भगवान में मन तथा बुद्धि को लगाकर के अनन्य योग के द्वारा निरन्तर भगवान का स्मरण ही भक्ति होती है। भक्त ही भगवान का अत्यन्त प्रिय होता है। तथा भगवान भक्त को इसी प्रकार से चलाते है जिसके द्वारा भक्त

ध्यान दें:

भगवान को प्राप्त करें। अतः भगवद्गीता में कहा है

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ इति।

कठोपनिषद् में भी यह कहा गया है की आत्मन के प्रिय भक्त के स्वरूप यह दिखाई देता है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥ इति।

इस प्रकार से भक्ति योग के द्वारा भगवान के अनुग्रह से भगवान का साक्षात्कार करके मोक्ष को प्राप्त करता है यही भक्ति योग मोक्ष का साधक होता है। इसमें कोई संशय नहीं है।

27.8.4) राजयोग

राजयोग प्रधान रूप से साधनों का उपदेश देता है। पातञ्जल्य योगसूत्र ही यहाँ पर मुख्य है। प्रत्येक योगमार्गों के समान ही राजयोग का भी लक्ष्य परमपुरुषार्थ का लाभ प्राप्त करना है वह ही मोक्ष तथा समाधि को प्राप्त करता है। मन का संयम ही वस्तुतः राज योग का उद्देश्य है। बार बार अभ्यास के द्वारा मन संयमित हो जाता है। संयमित एकाग्र मन के द्वारा ही परमतत्वरूप के साक्षात्कार से समाधि अधिगत होती है। जिससे इस योग का नामान्तर अभ्यास योग है। समाधि के लाभ के लिए भी इस योग से आठ अङ्गो का उपदेश दिया गया है उनकों अष्टङाग योग कहते हैं। वे अष्टाङ्ग योग हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। यम से तात्पर्य है अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, तथा अपरिग्रह। नियम से तात्पर्य है शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान। शरीर के अङ्गो के द्वारा कमल तथा स्वस्तिकादि के चिन्ह बनाकर के लम्बे समय तक यदि उनमें रुका जाता है वह आसन कहलाता है। प्राणायाम रेचक पूरक तथा कुम्भक के माध्यम से प्राणों के निग्रह करने का उपाय है। इन्द्रियों को अपने अपने विषयों से हटा करके स्वयं में उन्मुखी करना ही प्रत्याहार कहलाता है। एक ही विषय में चित् का धारण ही धारणा होती है। तथा परमात्मा में मन की तेलधारा के समान स्थिति ध्यान कहलाती है। एकाग्रमन से चित्तवृत्तियों के निरोध के द्वारा आत्मवस्वरूप में स्थिति समाधि होती है। इन सभी अङ्गों का क्रमानुसार अनुष्ठान करना चाहिए।

राजयोग ही आन्तरिक विज्ञान होता है। हमारी अन्तः स्थिति का ज्ञान कब किस प्रकार से प्रकाशित होगा इसकी जो वैज्ञानिक प्रक्रिया को बताता है वह राजयोग होता है। वस्तुतः अन्तः करण के संयम का नाम ही राज योग है। मन जब संयमित होता है तो आत्मज्ञान प्रकाशित होता है। मन तब ही संयमित होता है जब प्राण का निग्रह किया जाता है। प्राण के निग्रह के लिए प्राणायाम का नियमानुसार पालन करना चाहिए। प्राणायाम के द्वारा चित्त देह पवित्र तथा निर्मल होते हैं। प्राणायाम के तीन अङ्ग होते है। पूरक, कुम्भक तथा रेचक। जिसमें श्वास को ग्रहण किया जाता है वह पूरक कहलाता है। जिसमें श्वास को रोका जाता है वह कुम्भक कहलाता है। जिसमें श्वास को त्यागा जाता है। वह रेचक कहलाता है। मनुष्य के मेरु डण्ड में मस्तिष्क से लेकर के अधोभग तक दो नाड़ी होती है ईडा तथा पिङ्गला। इन दोनों में शक्ति प्रवाह होने पर देह में सभी जगह शक्ति प्रवाह होता है। शक्ति हमारे शरीर में स्थित चक्रों में सञ्चित होती है। हमारे शरीर में सात चक्र होते हैं। वे हैं मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, आज्ञा तथा सहस्रार। सहस्रार चक्र मस्तिक में होता है। आज्ञाचक्र दोनों भौहों के बीच में होता है। विशुद्ध चक्र कण्ठ में होता है। अनाहत चक्र हृदय में होता है। मणिपुर चक्र नाभि में होता है। स्वाधिष्ठान चक्र उदर के निम्नदेश मे होता है। मूलाधार मेरूदण्ड के निम्नदेश में होता है। इन चक्रों का योगियों की योगियों के द्वारा सुप्त तथा पद्म रूप में कल्पना की गई है। मेरुदण्ड के निम्नदेश में प्रजननशक्ति आधारभूत मूलाधार

ध्यान दें:

चक्र में होती है। वहाँ पर कोई छोटा सर्प सोता हुआ कुण्डली के आकार में होता है इस प्राकर से योगियों ने कल्पना की भी है। इसी को ही कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। इस निद्रित सर्प के जगने को ही कुण्डलिनी शक्ति का जागरण कहते हैं। सबसे पहले प्राणायम के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति का जागरण करना चाहिए। उसके बाद एक एक चक्र को भेदकर के कुण्डलिनी शक्ति को सुषुप्ति मार्ग के द्वारा मस्तिष्क में प्रेरित करना चाहिए। जब सुषुप्ति मार्ग के द्वारा शक्ति सहस्रार चक्र का स्पर्श करेगी तब आत्मज्ञान होगा।

27.9) शिवज्ञान के द्वारा जीव की सेवा

सेवाभाव ही विवेकानन्द के दर्शन का अन्यतम तथा प्रधान विषय है। सेवाभाव यहाँ पर सामान्य सेवाभाव नहीं होता है। अपितु शिवज्ञान के द्वारा जीव की सेवा ही जीव सेवाभाव है। शिवज्ञान के द्वारा जीवसेवा इसका अर्थ जीवो में शिवत्व का आरोप करके जीव साक्षात् शिव की सेवा करता है। जीव साक्षात् ईश्वर होता है। जीव तथा ईश्वर में लेश मात्र भी भेद नहीं है। यह शास्त्रों के द्वारा भी सिद्ध है। लेकिन सामान्य व्यक्ति के द्वारा उस प्रकार का अनुभव सम्भव नहीं होता है। विरले कुछ ही मुक्त पुरुषों कों उस प्रकार का अनुभव होता है। विवेकानन्द ने ही सेवाभाव को साधनमार्ग के द्वारा संसूचित किया है। विवेकानन्द के मत में व्यावहारिक जीवन से आध्यत्मिक जीवन अलग नहीं होता है।

व्यावहारिक जीवन को ही अध्यात्ममय करना चाहिए। तथा आध्यात्मिक भावना ही व्यवाहिरक जीवन में प्रयुक्त होना चाहिए। उसके द्वारा आत्मोन्नति जल्दी होती है। उनके मत में शास्त्रोक्त रीति के द्वारा ईश्वर अनिर्देश्य होता है।लेकिन अनिर्देश्य ईश्वर का अधिष्ठान जीव ही होते हैं। इसलिए यदि जीव की पूजा की जाए तो वह अनिर्देश्य ईश्वर की ही पूजा होती है। ईश्वर ही जीवरूप के द्वारा आत्मा को प्रकाशित करता है। इसलिए मन्दिरों में पूजा की अपेक्षा साक्षात् अभुक्त नररूपी नारायण की ही भोजन औषधि आदि से पूजा करनी चाहिए। उसके द्वारा ही वस्तुतः ईश्वर की पूजा होती है। इसलिए उन्होंने अपने पद्य में कहा है-

क्वेशम् अन्वेषति वक्त्वा बहुरूपैः पुरःस्थितम्।
जीवे प्रेम हि यस्यास्ति स ईश्वरं हि सेवते॥ इति।

इसका यह अर्थ है कि है मित्र दरिद्रानामरूप समीपस्थित ईश्वर को त्यागकर के तो ईश्वर का कहाँ पर चिन्तन करता है। जिस जीव में प्रेम होता है वह ही ईश्वर की सेवा करता है। वेवेकानन्द का यह सेवा भाव ही किसी साधक की आध्यात्मिक उन्नति के लिए तथा व्यावहारिक जीवन की उन्नति के लिए कल्पित है। जिस प्रकार से भूखे को भोजन बिना कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। तथा भूखे के अन्दर धर्म भी नहीं होता है इस प्रकार से रामकृष्ण के द्वारा कह गया है। इसलिए सबसे पहले दरिद्रों के लिए भोजन औषधि निवास स्थान तथा शिक्षा देनी चाहिए। उसके बाद में धर्म सिखाना चाहिए। उसी के द्वारा ही वस्तुतः धर्म प्रदान करना सार्थक होगा। अन्य किसी प्रकार से भी नहीं। इस प्रकार से विवेकानन्द का सेवा भाव ही वस्तुतः उनके दर्शन के विशिष्ठ्य में अन्यतम है। इस प्रकार से सेवा भावना के द्वारा यदि यथार्थरूप से कार्य को किया जा सकता है तो चित्त शुद्धि शीघ्र ही हो जाती है। निर्मलचित्त में ही आत्मतत्व हमेशा प्रकाशित होता है। इस प्रकार से विचार करके ही उन्होंने अपने द्वारा प्रतिष्ठित संन्यासी संघ के आदर्श रूप में यह वचन दिया " आत्म मोक्ष के लिए हैं तथा जगत् के लिए है "। न केवल स्वार्थान्ध व्यक्ति के जैसे स्वयं के मोक्ष के लिए प्रयास करना चाहिए अपितु जगत के हित के भी करना चाहिए। जगत के हित के साधक ही आत्म का मोक्ष भी सम्पादित करना चाहिए। इस प्रकार की उनकी भावनाएँ थी।

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्न 27.3

1. विवेकानन्द के मत में आध्यात्मिकप्रपञ्च में प्रमाणभूत क्या है?
2. विवेकानन्द के द्वारा वर्णित चार प्रकार के योग कौन-कौन से हैं?
3. योग शब्द का क्या अर्थ होता है?
4. विवेकानन्द के मत में भक्ति किसे कहते हैं?
5. विवेकानन्द के मत में भक्ति कितने प्रकार की होती है?
6. विवेकानन्द के मत में योगियों के मतानुसार कितने चक्र होते हैं? तथा वे कौन-कौन से होते हैं।
7. विवेकानन्द के मत में प्राणायाम की क्या प्रक्रिया होती है।
8. यम किसे कहते हैं?
9. नियम किसे कहते हैं?

पाठ सार

विवेकानन्द स्वयं भले ही संन्यासी थे फिर भी उनका उपदेश सभी स्तरों के तथा सभी सम्प्रदायों के मानवों के लिए था। उन्होंने अपने गुरु श्री रामकृष्ण से शिक्षा प्राप्त करके उसे धर्मसमन्वय के रूप में सभी देशों में प्रचारित किया। उनके दर्शन में श्रीरामकृष्ण का महान प्रभाव देखा जा सकता है। विवेकानन्द का यही कहना था कि शास्त्रों को केवल पढना ही नहीं चाहिए अपितु अपने जीवन में उसके उपदेशों का पालन भी करना चाहिए। जीवन के संग्राम शास्त्र यदि उपकारक नहीं होते हैं तो फिर शास्त्र का मूल्य ही क्या है। भले ही शास्त्र प्रत्येक क्षण हमारा ही उपकार करते है। फिर हमारे द्वारा उनको नहीं जाना जात है। स्वामिविवेकानन्द ने कहा है "वेदान्त के महान् तत्वों को केवल वनों और गुफाओं में ही नहीं होना चाहिए अपितु विचार के समय भोजनालय में, गरीब घर में, धीवर के घर में छात्र के अध्ययन स्थल में सभी जगहों पर ये तत्व आलोचित भी होना चाहिए। धीवर भी यदि आत्मत्व के द्वारा स्वयं का चिन्तन करता है तो वह उत्तम धीवर होगा। विद्यार्थी भी यदि आत्मतत्व का चिन्तन करेगा तो वह उत्तम विद्यार्थी होगा।

शिवज्ञान के द्वारा जीव सेवा का आदर्श होने पर भी व्यावहारिक वेदान्त का फलीभूत अंश होता है। स्वामीविवेकानन्द के कर्मदर्शन भी अपूर्व है। स्वार्थ रहित कर्मों के द्वारा मनुष्य आध्यात्मिकता के उच्चतम सोपानों पर आरूढ होकर समर्थ रूप से यहाँ पर प्रतिपादित किया गया है। कर्म ज्ञान भक्ति तथा राजयोग का समन्वय भी उसका इष्ट होता है। रामकृष्णमिशन् इसके प्रतीक रूप में समन्वय के द्वारा अच्छे से प्रदर्शित है।उनके दर्शन का सारभूत तत्व यह ही है " आत्मा मोक्ष के लिए है तथा जगत् के हित के लिए है "। इस प्रकार से श्री रामकृष्ण तथा विवेकानन्द के दर्शन का परस्पर परिपूर्ण सूक्ष्म एक ही विचार है।

आपने क्या सीखा

- विवेकानन्द के विषय में सामान्य ज्ञान
- विवेकानन्द दर्शन के विषय में जाना

ध्यान दें:

- विवेकानन्द दर्शन में श्रीरामकृष्ण के प्रभाव को जाना
- विवेकानन्द का सेवाभाव जाना
- योग चतुष्टय में विवेकानन्दकृत समन्वय को जाना।

पाठान्त प्रश्न

1. विवेकानन्द के विषय में लघु विवरण दीजिए।
2. विवेकानन्द के वेदान्त का क्या नाम है?
3. कर्मयोग किसे कहते है?
4. विवेकानन्द के दर्शन में समन्वय किस प्रकार का समन्वय था?
5. अपरोक्षानुभूति किसलिए अध्यात्मिक प्रपञ्च का प्रमाण होती है।
6. भक्ति किसे कहते हैं?
7. भक्ति योग के विषय में लघु टिप्पणी कीजिए।
8. विवेकानन्द के दर्शन के ज्ञान के लिए पृष्ठभूमि का विचार कीजिए।
9. विवेकानन्द के दर्शन के लिए श्रीरामकृष्णदर्शन किसलिए आवश्यक है इसका विस्तार से विचार कीजिए।
10. विवेकानन्द के दर्शनानुसार सेवा भाव का वर्णन कीजिए।
11. लघु टिप्पणी लिखिए-शिवज्ञान तथा जीवसेवा।
12. ज्ञानयोग का समास विधि से परिचय दीजिए।
13. राजयोग का परिचय लिखिए।
14. अष्टाङ्ग योग क्या होते हैं? अष्टाङ्ग योगों का परिचय दीजिए।
15. चारों योगों का समन्वय विवेकानन्द के दर्शनानुसार कीजिए।
16. विवेकानन्द के दर्शन का मूलवैशिष्ट्य संक्षेप में लिखिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 27.1

1. नरेन्द्रनाथ।
2. श्रीरामकृष्ण।
3. विवेकानन्द ने वेदान्तवाक्यों का आश्रय लेकर के ही दर्शनों का प्रचार किया।
4. 1863-ईस्वी जनवरी माह का 12-दिनाङ्क। 1893।
5. 1893 ईसवी
6. नव्यवेदान्त।

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 27.2

1. श्री रामकृष्ण का।
2. रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्। नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।
3. सभी स्तर के मानवों की आध्यात्मिक उन्नति ही आध्यात्मिक उन्नति है इस प्रकार से विवेकानन्द के दर्शन का लक्ष्य है।
4. ईश्वर साकार, निराकार, साकार तथा निराकार के द्वारा भिन्न भी, तथा वह इस प्रकार से ऐसा है ऐसा नहीं कहा जा सकता है।
5. सोपाधिक ब्रह्म तथा निरूपाधिक ब्रह्म।
6. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, इस प्रकार का श्रुति वाक्य है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 27.3

1. अपरोक्षानुभूति।
2. कर्मयोग ज्ञानयोग भक्तियोग तथा राजयोग।
3. योग शब्द का अर्थ ही मोक्षलाभ के लिए निर्दिष्ट साधन मार्ग है जो मार्ग परमात्मा के साथ जीवन से जुडा हुआ है।
4. भगवान में परम प्रीति ही भगवान की भक्ति है।
5. भक्ति दो प्रकार की होती है शुद्धा तथा गौंणी।
6. सात चक्र है मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत,विशुद्ध, आज्ञा तथा सहस्रार।
7. तीन होते है, पूरक कुम्भक तथा रेचक।
8. यम है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह।
9. नियम है सोच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान।

राष्ट्रिय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

उच्चतर माध्यमिक कक्षा हेतु पाठ्यक्रम
भारतीय दर्शन (347)

औचित्य

इस धरातल पर सभी जीव इष्ट ही प्राप्त करना चाहते हैं। सुख ही इष्ट है और दुख ही अनिष्ट है। इसीलिए सुख का उपाय भी इष्ट है। दुख का उपाय भी अनिष्ट है। सुख के दो प्रकार हैं नित्य और अनित्य। नित्य सुख आत्म सुख है। वह जन्य नहीं है। ना ही किसी कारण से वह सुख उत्पन्न होता है। वह सुख तो आत्म स्वभाव से ही उत्पन्न होता है। अनित्य सुख जन्य है। उसका कोई भी कारण हो सकता है। अनित्य सुख का कारण ही धर्म कहलाता है। धर्म के बिना सुख नहीं होता है। धर्म भी जन्य है। वेदों में वर्णित जो यज्ञ आदि है वही धर्म है। **तद्यागादिजन्यः पुण्याख्यः अदृष्टविशेषो वा धर्मः।** धर्म अंतः करण में विद्यमान किसी गुण विशेष का नाम है।

दुख का कुछ ना कुछ कारण तो होगा ही। सुख या दुख बिना कारण के उत्पन्न नहीं होते। सुख का क्या कारण है? जैसा तैसा संदिग्ध ज्ञान आवश्यक है। उससे जो इष्ट का जो सुख है उसका जो साधन है वहां निष्ठा से प्रवृत्त होना चाहिए। किंतु उस सुख के कितने भेद हैं वह भी स्पष्ट रूप से जानना चाहिए। इस प्रकार- **'इदं मदिष्टसाधनम्'** यह ज्ञान प्रवृत्ति के प्रति कारण होता है।

पुरुष नर या नारी जो कामना या इच्छा करते हैं वह फलीभूत होता है उसी को पुरुषार्थ कहा गया है। पुरुष सुख ही संचित करता है। अतः सभी साधारण प्राणियों के अनुसार सुख ही पुरुषार्थ है। सुख के प्रकार हैं। इसीलिए पुरुषार्थ के भी प्रकार हैं। नित्य सुख ही मोक्ष कहलाता है। अनित्य सूखे ही काम कहलाता है। काम का कारण ही धर्म कहलाता है। धर्म का साधन ही अर्थ कहलाता है। अर्थ ही ध र्म की सामग्री धन आदि है। इस प्रकार धर्म अर्थ काम मोक्ष चार पुरुषार्थ वैदिक संस्कृतियों में प्रसिद्ध है। उनमें काम और मोक्ष मुख्य है काम का साक्षात कारण धर्म है। धर्म का प्रायोजक अर्थ है। काम की कल्पना ही धर्म और अर्थ का पालन करवाती हैं अन्यथा नहीं। इसलिए धर्म और अर्थ गौड़ हैं। काम और मोक्ष में भी मोक्ष नित्य है। इसलिए मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। अर्थ अनित्य है यह प्रत्यक्ष रूप से ज्ञात होता है। इंद्रिय जन्य सुख क्षणिक है वह भी अनित्य ही है ऐसा अनुभव सिद्ध है। अनित्य सुख का कारण धर्म भी अर्थात अनित्य है। कारण के होने पर कार्य का अभाव नहीं होता है।

वेदों में श्रुति, उसके अनुसार युक्ति और अनुभव यह तीनों हमेशा प्रमाण के साथ उल्लिखित किए जाते हैं।

'यत्कृतकं तदनित्यम् इति नियमः दृष्टानुमानोभयसिद्धः'। धर्म कर्म से उत्पन्न होता है इसलिए अनित्य है। काम धर्म से उत्पन्न होता है इसलिए अनित्य है। इस प्रकार नित्यत्व से सिद्ध है कि मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। मोक्ष ब्रह्म ज्ञान से होता है यह अद्वैत वेदांत का सिद्धांत है। इसलिए ब्रह्म क्या है? उसका ज्ञान क्या है? उसके लाभ का प्रमाण क्या है? इस तरह की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। उन्हीं जिज्ञासाओं की शांति के लिए अद्वैत वेदांत के मतों के अनुकूल प्रकरण यहां पर उपस्थित है।

सभी दार्शनिक जीवो के सुख की इच्छा को पूर्ण करने का प्रयास करते हैं। परंतु सुख साधन के विषय में और स्वरूप के विषय में उनके अनेक मतभेद हैं। बारहवीं कक्षा के इस ग्रंथ में सभी दर्शनों का सामान्य परिचय विद्यमान है। वेदांत के प्रस्थानों का वेदांत के संप्रदायों का विशेष परिचय पाठ्य पुस्तक में विद्यमान है। इसी प्रकार अद्वैत वेदांत के अनुसार संक्षेप से कुछ विषय उपस्थापित हैं। वह विषय आपने दसवीं कक्षा में पढ़ा होगा। उसके पढ़ने से बारहवीं कक्षा के पाठ आपको सरल प्रतीत हो रहे होंगे। इसलिए दसवीं कक्षा के पाठकों को अच्छी तरह से पढ़ कर बारहवीं कक्षा के पाठकों को पढ़ना है। जिससे इस विषय का अच्छा ज्ञान होगा।

१२वीं कक्षा कक्षा के इस पाठ्क्रम में सांख्य दर्शन विशेष परिचय कराया गया है। कपिल मुनि का सांख्य दर्शन वेदांत के बहुत निकट है मुख्य और पूर्व पक्ष सांख्य का गुण विचार पुरुष विचार सृष्टि विचार इत्यादि अद्वैत वेदांत में कुछ परिवर्तन करके स्वीकार किए

गए हैं इसलिए पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष के साहित्य के अध्ययन में अत्यंत आवश्यक होता है यहां सांख्य दर्शन का विषय वर्णित है।

सभी दर्शन प्रमाण के विषय में अपने मत को स्थापित करते हैं वेदांती भी उसी प्रकार अपने मध्य पर दृढ़ हैं इसलिए अद्वैत वेदांत के मत में कितने प्रमाण हैं इसका भी इस पाठ्क्रम में विशिष्ट वर्णन है

इस तरह के बहुत सारे पाठ्यक्रम छात्रों के हित के लिए निर्मित हैं। जिससे दार्शनिक तत्वों का सरल शैली में बोध होगा इस प्रकार की आशा करते हैं।

अधिकारी

यह पाठ्य विषय संपूर्ण रूप से संस्कृत भाषा में लिखा हुआ है। परीक्षा भी संस्कृत माध्यम से ही होगी। इसलिए इस पाठ का अधिकारी कौन होगा यह प्रश्न निश्चित रूप से उत्पन्न होता है।

यहां पर वह छात्र अधिकारी है जो-

- काव्य व्याकरण कोष और वेद का विविध रूप से अध्ययन किया हो दर्शनशास्त्र को देखने की इच्छा और समझने की इच्छा मन में व्याप्त हो।
- न्याय शास्त्र के तर्कसंग्रह इस ग्रंथ का दीपिका सहित ज्ञान रखता हो।
- न्याय की भाषा अर्थात न्याय शास्त्र की शैली को जानता हो।
- सरल संस्कृत, संस्कृत साहित्य के सरल गद्यांश को और पद्यांश को पढ़ और समझ सके।
- सरल संस्कृत को समझ सके।
- अपने भावों को संस्कृत भाषा में लिखकर प्रकट कर सके।

प्रयोजन (सामान्य)

उच्चतरमाध्यमिक स्तर पर भारतीय दर्शन का पाठ्य रूप से योजना के कुछ उद्देश्य यहां नीचे दिए जाते हैं।

1. इहलोक में या परलोक में जीवन का परम लक्ष्य सुख लाभ ही है। इस विषय को स्पष्ट ज्ञान छात्रों को हो यह लक्ष्य है।
2. बहुत से दर्शन सुख प्रतिपादन में प्रवृत्त हैं और कुछ उनके विरुद्ध है। उनके विरोध के क्या कारण हैं छात्र इनको जानकर सूक्ष्म चिंतन कर सकें।
3. जीवन में विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों में परस्पर कलह का कारण जानकर उनमें सौहार्द का निर्माण पुनः उत्पन्न करा सकें ऐसा सामर्थ छात्रों में उत्पन्न हो।
4. अपने और अपने परिचितों के जीवन दर्शन को स्वीकार कर पाने में सक्षम हो।
5. भारतीय दर्शन की महिमा को जानकर उसके प्रचार में आदर और श्रद्धा पूर्वक प्रवर्तित हों।
6. छात्र भारत की अति प्राचीन भारतीय ज्ञान संपदा , वैज्ञानिकता और सर्वजन उपकार की महिमा को गर्व के साथ संसार में प्रसारित करें।
7. दर्शन के सामान्य ज्ञान में वृद्धि होगी जिससे दार्शनिक ग्रंथों के सरल अंशों को पढ़कर छात्र उन अंशों का अर्थ ज्ञात कर पाने में सक्षम होंगे वे स्वयं ही मौखिक और लिखित अभिव्यक्ति करने में समर्थ होंगे।
8. दर्शनाध्ययन करके छात्र महाविद्यालय स्तर पर और विश्वविद्यालय स्तर पर चल रहे पाठ्यक्रम में अध्ययन के लिए अवसर को प्राप्त करने में समर्थ होंगे।

9. दार्शनिक चिंतन में रुचिमंत होकर शक्त तो संलग्न होंगे।

प्रयोजन (विशिष्ट)

दर्शन में प्रवेश के लिए सामर्थ्य

1. दर्शन में कौन-कौन से विषय सम्मिलित हैं इसका सामान्य ज्ञान।
2. आस्तिक और नास्तिक दर्शन के भेद का ज्ञान हो।
3. अद्वैत वेदांत का विशिष्ट परिचय प्राप्त हो।
4. पढ़ी हुई सामग्री पर आश्रित प्रश्नों के उत्तर देंगे।

दर्शन के अध्ययन में सामर्थ्य

1. सांख्य दर्शन का विशिष्ट परिचय प्राप्त हो।
2. अद्वैत वेदांत के मत से अध्यारोप, अपवाद, मोक्ष, और उनके साधन इत्यादि बहुत से विषयों का ज्ञान हो।
3. वेदांत के मत में स्वीकृत प्रमाणों का विस्तार से ज्ञान हो।
4. इस पाठ्य विषय के ज्ञान से उस दर्शन में विद्यमान अन्य आकार ग्रंथों के अध्ययन में समर्थ हों।

दर्शन के प्रयोग का सामर्थ्य

1. दर्शन के स्पष्ट ज्ञान को प्राप्त कर अपने जीवन में उसके प्रयोग को करके कृतकृत्य होगा।
2. जिस प्रकाश वैद्य लोगों को देखकर उनके रोग आदि के विषय में चिंतन करता है, चोर धनकोष के विषय में चिंतन करता ह, व्यापारी क्रेताओं को देखता है उसी प्रकार जगत को दार्शनिक रूप से देखने में समर्थ हो ।
3. अन्य भी दिगभ्रमित लोगों के जीवन में पथ प्रदर्शक रूपी दीपक के समान सहायक होंगे।

पाठ्य सामग्री

पाठ्यक्रम के साथ निम्नलिखित सामग्री समायोजित होगी-

- दो मुद्रित पुस्तकें ।
- एक शिक्षक अंकित -मूल्यांकन प्रपत्र दिया जायेगा। इसके साथ छात्रों के द्वारा एक परियोजना कार्य भी (प्रोजेक्ट) करना है।
- दर्शन का शिक्षण प्रायोगिक रूप से भी होगा। परन्तु प्रायोगिक परीक्षा कोई भी नहीं है।
- पाठ निर्माण करने में संपर्क कक्षाओं में अध्यापन काल में छात्रों के जीवन कौशल का अच्छी प्रकार से विकास हो ऐसा ध्यान होना चाहिए। इससे उनमें अपने आप युक्ति समन्वित चिन्तन शक्ति का विकास होगा।
- मुक्त विद्यालय में प्रवेश के बाद इस पाठ्यक्रम को विद्यार्थी एक वर्ष से प्रारंभ कर अधिक से अधिक पांच वर्षों में पूर्ण कर सकते हैं।

अङ्क मूल्यांकन विधि और परीक्षा योजना

- पत्र के (100) सौ अंक हैं। परीक्षा का समय तीन घंटे होगा। इस पत्र का स्वरूप लिखित ही है (Theory)। प्रायोगिक रूप

से (Practical) कुछ भी नहीं है। रचनात्मक (Formative) योगात्मक (Summative) दो प्रकार से मूल्यांकन होगा।

- रचनात्मक मूल्याकन - बीस अंकों (20) का शिक्षक अंकित कार्य का (TMA) एक पत्र है। इसका मूल्यांकन अध्ययन केन्द्र (Study Centre) में हो। इस कार्य के अंक अंकपत्रिका (Marks Sheet) में अलग से उल्लेख होगा।
- योगात्मक मूल्याकन- वर्ष में दो बार (मार्च मास में और अक्टूबर मास में) बाह्यपरीक्षा होगी।वहाँ परीक्षा में समुचित मूल्यांकन होगा।
- प्रश्न पत्र में ज्ञान (Knowledge) अवगम (Understanding) अभिव्यक्ति (Application skill) और अवलम्ब युक्त अनुपात से प्रश्न पूछे जायेंगे।
- परीक्षाओं में अतिलघुत्तरात्मक-लघुत्तरात्मक निबन्धात्मक-प्रश्नों का भी समावेश होगा।
- दर्शन प्रस्थान परिचय, नास्तिक दर्शन, आस्तिक दर्शन, अद्वैत वेदांत इत्यादि ये मुख्य विषय होंगे। अन्य स्थानों पर प्रसक्त अनुप्रसक्त भी कुछ विषय को जानना चाहिए।
- उत्तीर्णता का परिमाप (Condition)- तैतीस प्रतिशत (33%) अंक उत्तीर्णता के लिए (मानदंड) है।
- संस्थान की परीक्षा में उत्तर लेखन भाषा-संस्कृत (अनिवार्य) या हिन्दी

अध्ययन योजना

- निर्देश भाषा (Medium of instruction)-संस्कृत।
- स्वाध्याय काल अवधि (Self Study Hours) 240 घंटे
- कम से कम तीस (30) संपर्क कक्षा (Personal Contact Programme & PCP) अध्ययन केंद्र में होगी।
- भारांश - सैद्धांतिक (जेमवतल) शत प्रतिशत। प्रायोगिक (च्तंबजपबंस) - नहीं है।

अंक विभाजन

आगे की सारणी में देखना चाहिए।

पाठ्य विषय का उद्देश्य (पाठ्य विषय के बिंदु)

उच्चतर माध्यमिक कक्षा हेतु भारतीय दर्शन की पुस्तक में निम्न विषय सम्मिलित हैं। जिनका विवरण नीचे दिया गया है।

संपूर्ण पाठ्य विषय के तीन भाग किए गए हैं प्रत्येक भाग में कुछ पाठ, स्वाध्याय के लिए कितने घंटे, सैद्धांतिक परीक्षा में कितने अंश, प्रायोगिक परीक्षा में कितने अंश, और प्रत्येक अध्याय में अंक विभाजन विषय यहां दिए गए हैं।

अध्याय -1 सांख्य दर्शन (पाठ 1 से 4)

अध्याय का औचित्य

महर्षि कपिल जन्म से ही सिद्ध माने जाते हैं। सभी दर्शनों का प्रारंभ हो उसी दर्शन से होता है। इस प्रकार कपिल का सांख्य दर्शन वेदांत के अति समीप है। इसके मुख्य और पूर्व पक्ष हैं। संख्याओं का गुण विचार, पुरुष विचार ,सृष्टि विचार इत्यादि अद्वैत वेदांत में कुछ परिवर्तन से स्वीकार किए गए हैं ऐसा प्रतीत होता है। इसलिए पूर्व और मूल पक्ष से संख्याओं का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है हेतु के लिए यहां पर सांख्य दर्शन के प्रोक्त विषय यहां उद्धृत हैं।

अध्याय-2 वेदांत में प्रमाण (पाठ 5 से 10)

अध्याय का औचित्य

निर्भ्रांत ज्ञान हमारा हो कौन नहीं चाहता है। परंतु ज्ञान कैसा होता है,किसके माध्यम से होता है, इसकी स्पष्टता जरूरी है। वहां वेदांत के मत में भ्रांति रहित ज्ञान प्रमा किसके प्रमाण से होती है, वेदांती कितने प्रमाणों को स्वीकार करते हैं, उनका स्वरूप क्या है, प्रक्रिया क्या है,प्रमेय क्या है, प्रमा भेद कौन-कौन से हैं इन अनेक विषयों को इस प्रकरण में प्रतिपाद्य है। न्याय शैली के ज्ञान के बिना इस विभाग का अध्ययन दुष्कर होगा इसकी कठिनता को दूर करने के लिए न्याय शैली का भी विस्तार पूर्वक उल्लेख किया।

अध्याय-3 अद्वैत वेदांत में अध्यारोप (पाठ 11 से 16)

अध्याय का औचित्य

सभी दर्शनों का सामान्य परिचय ,अद्वैत वेदांत का विशेष परिचय माध्यमिक कक्षा में कराया गया है। फिर भी अद्वैत वेदांत दर्शन से अपने सिद्धांत किस तरह जुड़े हुए हैं किन युक्तियों से समर्थित हैं युक्ति प्रदर्शन के प्रमाण या वे प्रमाण कौन से हैं इत्यादि सब कुछ सब विस्तारपूर्वक छात्र को ज्ञान होना चाहिए। इसलिए दर्शनों में श्रेष्ठ दर्शनों का ही सम विस्तारपूर्वक परिचय हो इस चिंतन के साथ अद्वैत वेदांत का प्रकरण अनुसार विभाग बना कर 12वीं कक्षा में कुछ प्रकरण स्थापित किए गए हैं। ब्रह्म, माया इसका ज्ञान कैसे होगा, कैसे यह सृष्टि होती है ,यह विषय यहां पर वर्णित है। यह विषय अध्यारोप कहलाता है

अध्याय-४ अद्वैत वेदांत में अपवाद (पाठ 17 से 27)

अध्याय का औचित्य

पहले भाग में अध्यारोप को जाना। अध्यारोप का अपवाद कैसे किया जाए यह विषय यहां प्रमुख है। यहां अस्था त्रय, पंचकोश महावाक्य विचार, समाधि और उसको साधने हेतु विषय यहां प्रतिपादित है। वेदांत का जगत में प्रचार - प्रसार का कार्य जिसने किया जिसके परिश्रम से भारतीय ज्ञान का गौरव जगत में विद्यमान है उन स्वामी विवेकानंद के मत क्या है इस विषय में, वह एक पाठ अंत में संलग्न है।

पाठ्य विषय का उद्देश्य (पाठ्य विषय बिंदु)

माध्यमिक कक्षा हेतु भारतीय दर्शन की पुस्तक में निम्न विषय सम्मिलित है

पाठ्य विषय के उद्देश्य पाठ्य विषय बिन्दवः

उच्चतर माध्यमिक कक्षा के भारतीय दर्शन की पुस्तक में निम्नलिखित विषय है।

क्र.सं.		मुख्यबिन्दवः	स्वाध्यायाय होराः	भारांशः (अङ्काः)
1	**अध्यायः-1**	**सांख्यदर्शनम्-**	36	12
	पाठः-1	प्रकृतिपुरुषपरिचयः- सांख्यपदस्यार्थः, सांख्याचार्याः, तद्ग्रन्थाः, सांख्यतत्त्वानां सामान्यपरिचयः, पुरुषः, बन्धः, मोक्षः		
	पाठः-2	प्रकृतिपुरुषपरिचयः- प्रकृतिः। प्रधानतत्त्वम्। गुणत्रयविचारः। पुरुषबहुत्वविचारः। साम्यावस्था। प्रकृतेः प्रवृत्तिः।		
	पाठः-3	सृष्टिविचारः- सृष्टितत्त्वम्। सृष्टिपदार्थाः। सृष्टिकारणम्। सृष्टिप्रयोजनम्।		
	पाठः-4	सत्कार्यवादः- साधकयुक्तयः। शून्यकार्यवादः। असत्कार्यवादः। विवर्तवादः।विरोधिवादखण्डनम्।		
2	**अध्यायः-2**	**वेदान्ते प्रमाणानि-**	60	30
	पाठः-5	प्रमाणानि- षट्प्रमाणानि। भूमिका, दर्शन, ज्ञानादि, प्रमा		
	पाठः-6	प्रमाणानि- प्रत्यक्षप्रमाणम्। लक्षणम्। परिष्कारः। प्रत्यक्षत्वप्रयोजकविचारः।		
	पाठः-7	प्रमाणानि- प्रत्यक्षप्रमाणभेदाः। लक्षणानि।		
	पाठः-8	प्रमाणानि- अनुमानम् - लक्षणम्। न्यायः। सद्धेतुः। मिथ्यात्वम्। उपमानम् च।		
	पाठः-9	प्रमाणानि- आगमः। वृत्तिः। वाक्यर्थबोधे हेतवः।		
	पाठः-10	प्रमाणानि- अर्थापत्तिः, अनुपलब्धिः, प्रामाण्यम्।		
3	**अध्यायः-3**	**अद्वैतवेदान्ते अध्यारोपः-**	54	22
	पाठः-11	ब्रह्मलक्षणम्- ब्रह्मपदस्यार्थः। ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणम्, तटस्थलक्षणम्। निर्गुणब्रह्म। सगुणब्रह्म।		
	पाठः-12	मायालक्षणम्- मायापदस्यार्थः। मायाः लक्षणम्, अनादित्वम्, त्रिगुणात्मकत्वम्। मायासत्त्वे प्रमाणानि। मायाया एकत्वबहुत्वविचारः।		

	पाठः–13	अध्यासः– अध्यासप्रयोजनम्। पदव्यत्पत्तिः। स्वरूपम्, निमित्तम्, फलम्। अध्याससत्त्वे प्रमाणम्।		
	पाठः–14	अध्यासः ख्यातिः विवर्तः परिणामः च– अध्यासकारणानि। अध्यासस्वरूपम्। सत्तात्रयम्। विवर्तपरिणामयोः स्वरूपम्।		
	पाठः–15	सृष्टिविचारः– सृष्टिश्रुतीनाम् प्रयोजनम्। अध्यारोपापवादन्यायः। कार्यकारणयोरनन्यत्वम्।		
	पाठः–16	सृष्टिप्रलयविचारः– अविद्या। तस्याः शक्तिद्वयम्। पञ्चीकरणम्। प्रलयविचारः।		
4	**अध्यायः–4**	**अद्वैतवेदान्ते अपवादः–**	**90**	**36**
	पाठः–17	अवस्थात्रयविवेकः–जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः। विश्ववैश्वानरादिकम्।		
	पाठः–18	पञ्चकोशविवेकः– अध्यारोपापवादौ। अन्नमयादिपञ्चकोशः। तेभ्यः भिन्न आत्मा। ब्रह्मणः उपाधिवशाद् भेदः।		
	पाठः–19	महावाक्यविचारः– चतुर्णाम् महावाक्यानां तात्पर्यम्।		
	पाठः–20	महावाक्यविचारः– पदान्वयविचारः। लक्षणादीनाम् उपयोगः। पदार्थसंशोधनम्।		
	पाठः–21	साधनविचारः–1 अनुबन्धः कर्म, निष्कामकर्म।		
	पाठः–22	साधनविचारः–2 निष्कामकर्म, उपासना		
	पाठः–23	साधनविचारः–3 साधनचतुष्टयम् श्रवणादि।		
	पाठः–24	समाधिस्वरूपम्। निदिध्यासनम्। समाधिभेदाः। चित्तवृत्तिः।		
	पाठः–25	समाधेरङ्गानि। अन्तरायाः।		
	पाठः–26	जीवन्मुक्तिः, विदेहमुक्तिः– अहम् ब्रह्मास्मि। अखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिः। कर्मत्रैविध्यम्। लक्षणम्।		
	पाठः–27	विवेकानन्दवेदान्तचिन्तनम् – विवेकानन्दमतेन वेदान्तस्य व्यावहारिकता। योगसमन्वयः। आधुनिकता। प्रासङ्गिकता।		

प्रश्न पत्र का प्रारूप
(Question Paper Format)

विषय-भारतीय दर्शन (347) (Bharatiya Darshan) स्तर:- उच्चतर माध्यमिक कक्षा
परीक्षा काल अवधि (Time): तीन घंटे (3 Hrs.) पूर्णांक: (Full Marks)-100

लक्ष्य के अनुसार अंक विभाजन

विषय:	अंक:	प्रतिशत योग
ज्ञान (Knowledge)	25	25%
अवबोध (Understanding)	45	45%
अनुप्रयोग कौशल (Application Skill)	30	30%
महायोग	**100**	

प्रश्न प्रकार से अंकों का विभाजन

प्रश्न प्रकार	प्रश्न संख्या	अंक	योग
दीघ उत्तर प्रश्न (LA)	5	6	30
लघुत्तर प्रश्न (SA)	10	4	40
सुलघुत्तर प्रश्न (VSA)	10	2	20
बहुविकल्प के प्रश्न एक अंक के प्रश्न स्तम्भ मिलान और रिक्त स्थान पूर्ति	10	1	10
महायोग	**35**		**100**

पाठ्य विषय विभाग के अनुसार भारांश

विषय घटक	अंक	स्वाध्याय के घंटे
1. सांख्य दर्शन	12	36
2. वेदांत में प्रमाण	30	60
3. अद्वैत वेदांत में अध्यारोप	22	54
4. अद्वैत वेदांत में अपवाद	36	90
महायोग	**100**	**240**

प्रश्न पत्र का कठिनता स्तर

प्रश्न स्तर	अंक
कठिन (Difficult) (मेधावी उत्तर देने में समर्थ हैं)	25
मध्यम (Medium) (नित्य पढ़ने वाले छात्र उत्तर देने में समर्थ)	50
सरल (Easy) (सम्पूर्ण पाठ्सामग्री को थोड़े से पढ़े छात्र उत्तर देने में समर्थ)	25

प्रश्न पत्र प्रतिमा

(Sample Question Paper)

इस प्रश्न पत्र में .... प्रश्न है।.................... और मुद्रित है।

Roll No.												
अनुक्रमांक	4	5	0	1	5	9	1	8	3	0	0	1

Code No.	
गद संख्या	55/SS/A/S
SET	
स्तबक:	A

भारतीय दर्शन

Bharatiya Darshan

(347)

Day and Date of Examination ....
परीक्षा दिन और दिनांक:

Signature of two Invigilators 1. ....

निरीक्षक के हस्ताक्षर 2. ....

सामान्य निर्देश

1. अनुक्रमांक प्रश्न पत्र के प्रथम पृष्ठ पर अवश्य लिखें।
2. निरीक्षण करें की प्रश्न पत्र की क्रम संख्या प्रश्नों की संख्या, प्रथम पृष्ठ के प्रारम्भ में दी हुई संख्या के समान है या नहीं। प्रश्न क्रम सही है अथवा नहीं।
3. वस्तु निष्ठ प्रश्नों के (क), (ख), (ग), (घ) इन विकल्पों में से युक्त उत्तर को चुनकर उत्तर पत्र पर लिखें।
4. सभी प्रश्नों के उत्तर निर्धारित समय में ही लिखें।
5. उत्तर पत्र में आत्म परिचयात्मक लेखन अथवा निर्दिष्ट स्थान को छोड़कर अन्य कहीं पर भी अनुक्रमांक लिखना मना है।
6. अपने उत्तर पत्र में प्रश्न पत्र की गूढ़संख्या अवश्य लिखें।
7. सभी प्रश्नों के उत्तर संस्कृत या हिन्दी भाषा में ही लिखें।

भारतीय दर्शन

(Bhartiya Darshan)

(347)

परीक्षा समय अवधि (Time) तीन घंटे (3Hrs) पूर्णांक (Full Marks)-100

निर्देश

(A) इस प्रश्न पत्र में (A)भाग 10, (B) भाग 10, (C) भाग 10, (D) भाग 5 इस प्रकार 35 प्रश्न हैं।

(B) प्रश्न पत्र के दाहिनी तरफ संख्याओं में (अंक x प्रश्न = पूर्णांक) इस प्रकार अंकों का निर्देश किया है।

(C) सभी प्रश्न अनिवार्य हैं।

दसों के युक्त विकल्प चुनो।

1. प्रधानादियों का अप्रत्यक्षत्व कहां से है?

   (i) अतिदूर से (ii) सौम्या से (iii) व्यवधान से (iv) समानअभिहार से

2. सोलहवां गण कहां से उत्पन्न होता है?

   (i) प्रकृति से (ii) महत्तता से (iii) अहंकार से (iv) समान अभिहार से

3. प्रातिभासिक सत्ता का लक्षण क्या है?

   (i) कालत्रय बाध्यत्व (ii) ब्रह्मज्ञान बाध्यत्व

   (iii) अज्ञान बाध्यत्व (iv) ब्रह्मज्ञानेतर ज्ञानबाध्यत्व

4. अध्यास शब्द में अस् धातु किस गण का है?

   (i) भ्वादिगण (ii) अदादिगण (iii) दिवादिगण (iv) जुहोत्यादिगण

5. ब्रह्म सर्वत्र किससे संबंधित है?

   (i) संयोग से (ii) समवाय से (iii) स्वरूप से (iv) तादात्म्य से

6. 'शुक्तिरजतभ्रमस्थले रजतं विज्ञानस्वरूपम्' यह किसका मत है?

   (i) आत्मख्यातिवादियों का (ii) अख्यातिवादियों का

   (iii) अन्यथाख्यातिवादियों का (iv) असत्ख्यातिवादियों का

7. इनमें से कौन सा ब्रह्म शब्द का पर्याय नहीं है?

   (i) संविद (ii) आत्मा (iii) माया (iv) ज्ञान

8. वेदांतसार के रचयिता कौन हैं?

(i) विद्यारण्य (ii) सदानंदयोगी (iii) शंकराचार्य (iv) गौड़पादाचार्य

9. 'भविष्यति' इस प्रतीति विषय का अभाव कौन ?

(i) प्रागभाव (ii) प्रध्वंसाभाव (iii) अत्यंताभाव (iv) विशिष्टाभाव

10. 'पर्वतो वह्निमान् धुमात्' इस अनुमान में साध्य क्या है?

(i) पर्वत (ii) अग्नि (iii) अग्नित्व (iv) धुआं

(B) दसों का यथा निर्देश उत्तर लिखें-

- पुरुष बहुत्व प्रतिपादित करने वाली सांख्यकारिका क्या है? पुरुष बहुत को प्रतिपादित करने वाला संख्य सूत्र कौन सा है?
- विवर्त किसे कहते हैं और क्या उसका दृष्टांत है?
- संबंधाध्यास क्या है और उसका उदाहरण क्या है?
- अन्यथाख्यातिवादी कौन हैं, अन्यथाख्याति का अन्य नाम क्या है?
- शुक्तिरजत का परिणाम उपादान क्या है और विवर्त उपादान क्या है?
- ऋग्वेद और यजुर्वेद के दो महावाक्य लिखें।
- श्रवण लिंग कितने हैं और वह कौन-कौन से हैं?
- छांदोग्य और मांडुक्य में विद्यमान महावाक्य लिखें।
- वेदांत मत में कितने प्रमाण हैं और वह कौन-कौन से हैं?
- अति व्याप्ति क्या है । लक्षण का असंभव दोष क्या है?

(C) दस का कुछ विस्तार से उत्तर के द्वारा समाधान करो-

- अध्यास का लक्षण लिखिए अथवा ख्यातिवाद और उसके भेदों का वर्णन करें।
- अध्यास के पदार्थों का निरूपण करें अथवा अध्यास के भेदों की आलोचना करें।
- रजत भ्रम काल में देशांतरीय रजत का भान कहां से नहीं होता है अथवा अप्पय दीक्षित द्वारा परिणाम विवर्तों के लक्षण का वर्णन करें।
- 'अहं ब्रहमास्मि' इसमें अहम पद की आलोचना करें अथवा अर्थवाद और फल का निरूपण करें।
- ष्प्रज्ञानं ब्रह्मष इसके प्रज्ञान शब्द का अर्थ प्रतिपादित करें अथवा गुरु की महिमा का वर्णन करें।
- महा वाक्य क्या है महावाक्य कितने हैं और वह कहां उद्धृत है अथवा अजहल्लक्षण का उदाहरण सहित वर्णन करें।

- अपवाद का वर्णन करें अथवा अध्यारोप का संक्षेप में प्रतिपादन करें।
- दर्शन के भेदों को प्रकट करें अथवा मोक्ष के परमत्व को प्रतिपादित करें।
- सविकल्पक प्रत्यक्ष का वर्णन लिखें अथवा सन्निकर्षो की संक्षेप में आलोचना करें।
- न्याय के अनुसार अनुमितिक्रम को लिखें अथवा समास से उपमान को आलोचित करें।

(D) पांचों प्रश्नों का बहुत ही विस्तार से उत्तर के द्वारा समाधान करें

- पुरुष सद्भाव के जो कारण सांख्यकारिका में लिखित हैं उनका संक्षेप में परिचय दीजिए अथवा पुरुष बहुत्व साधक हेतुओं का विस्तार से विचार लिखें।
- तत्त्वमसि इस महावाक्य का तत् और त्वं पद का लक्ष्यार्थ और वाक्यार्थ को प्रतिपादित करें अथवा अयमात्मा ब्रह्म इस महावाक्य का पंचदशी कारकों के मत में विवरण करें।
- छः प्रकार के लिंगों की आलोचना करें अथवा ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करें।
- दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति भेद से अर्थ भेदों को स्थापित करें अथवा पुरुषार्थ की सयुक्ति पूर्वक वर्णन करें।
- शब्द प्रमाण लक्षण को लिखें अथवा जहल्लक्षण के स्वरुप को प्रतिपादित करें।

प्रश्नपत्र प्रतिमा की उत्तरमाला

(A) दसों प्रश्नों का युक्त विकल्प-

1 (ख)	2 (ग)	3 (घ)	4 (ग)	5 (घ)
6 (क)	7 (ग)	8 (ख)	9 (क)	10 (ख)

(B) दसों प्रश्नों का यथा निर्देश उत्तर-

1. पुरुषबहुत्वप्रतिपादिकासांख्यकारिका जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च। पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चौव। पुरुषबहुत्वप्रतिपादकं सांख्यसूत्रं जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्।
2. पूर्वरूपापरित्यागेन असत्यनानाकारेण प्रतिभासः विवर्तः। यथा- शुक्तिकायां रजतस्य, रज्वां वा सर्पस्य प्रतीतिः।
3. एकस्मिन् धर्मिणि सम्बन्धमात्रस्य आरोपो हि सम्बन्धाध्यासः। उदाहरणम् यथा आत्मनि सम्बन्धहीनस्य शरीरस्य सम्बन्धम् अध्यस्य भवति प्रयोगः मम शरीरम् इति।
4. अन्यथाख्यातिवादिनः भाट्टाः नैयायिकाश्च अन्यथाख्यातेः अपरं नाम विपरीतख्यातिः इति।
5. शुक्तिविषयकम् अज्ञानं हि शुक्तिरजतस्य परिणाम्युपादानकारणम्। शुक्त्यवच्छिन्नचौतन्यं च विवर्तोपादानकारणम्।
6. ऋग्वेदस्य महावाक्यम् प्रज्ञानं ब्रह्म यजुर्वेदस्य महावाक्यम् अहं ब्रह्मास्मि इति।
7. श्रवणस्य षड् लिङ्गानि सन्ति। तानि च उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासः अपूर्वता फलम् अर्थवादः उपपत्तिश्चेति।
8. छान्दोग्ये महावाक्यम् तत्त्वमसि इति। माण्डुक्ये महावाक्यम् अयमात्मा ब्रह्म इति ।
9. वेदान्तमते षट् प्रामाणानि तानि च प्रत्यक्षम् अनुमानम् उपमानम् शब्दः अर्थापत्तिः अनुपलब्धि श्च।
10. यावल्लक्ष्यवृत्तित्वे सति अलक्ष्यवृत्तित्वम् अतिव्याप्तेः लक्षणम्। लक्ष्यमात्रावृत्तित्वम् असम्भवस्य लक्षणम्।

(C) दसों प्रश्नों के कुछ विस्तार के साथ उत्तर के द्वारा समाधान

1. बिन्दु- १३.३ / १४.५ देखें
2. बिन्दु- १३.२ / १३.४ देखें
3. बिन्दु- १४.१ / १४.६ देखें
4. बिन्दु- १९.५ / १९.२ देखें
5. बिन्दु- १९.३ / १९.४ देखें
6. बिन्दु- १९.१ /२०.५ देखें
7. बिन्दु- १५.३ / १५.३ देखें
8. बिन्दु- ५.२ / ५.४ देखें
9. बिन्दु- ७.२ / ७.२.२ देखें
10. बिन्दु- ८.१ / ८.५ देखें

(D) पांचों प्रश्नों का बहुत ही विस्तार के साथ समाधान-

1. बिन्दु- १.११ / २.१ देखें
2. बिन्दु- २०.५ / २०.६ देखें
3. बिन्दु- १९.२ / १९.३ देखें
4. बिन्दु- ५.१ / ५.४ देखें
5. बिन्दु- ९.१ / ९.२ देखें